# प्रमुख स्मृतिग्रन्थों में नारी एक समीक्षात्मक अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी.एच-डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

## शोध-प्रबन्ध
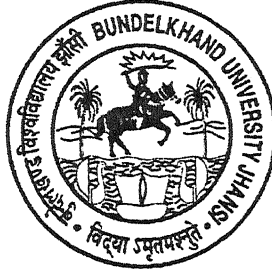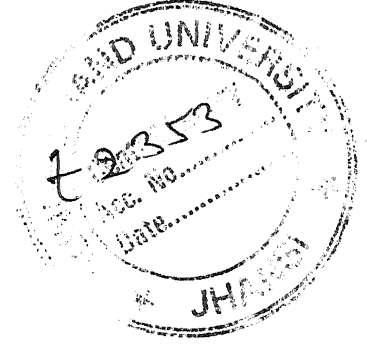
दिग्दर्शक :

**प्रो० रामकिशोर शास्त्री**

प्रोफेसर

संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद।

सहदिग्दर्शक :

**डॉ० मुरली मनोहर द्विवेदी**

संस्कृत विभागाध्यक्ष

महामति प्राणनाथ महाविद्यालय,

मऊ, चित्रकूट।

गवेषिका

**रञ्जना यादव**

एम. ए. (संस्कृत), इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद


## शोध केन्द्र

## अतर्रा पी० जी० कालेज, अतर्रा-बाँदा
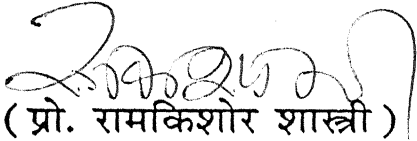
## 2007

# प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि गवेषिका रञ्जना यादव ने **"प्रमुख स्मृतिग्रन्थों में नारी एक समीक्षात्मक अध्ययन"** विषय पर शोध कार्य निर्धारित समय में ही हमारे निर्देशन में पूर्ण किया है।

यह इनकी मौलिक कृति है। हम इनकी सतत साफल्य की कामना करते हैं।

**दिग्दर्शक**

**( प्रो. रामकिशोर शास्त्री )**
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

**सहदिग्दर्शक**

**( डॉ. मुरली मनोहर द्विवेदी )**
विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग
महामति प्राणनाथ महाविद्यालय
मऊ, चित्रकूट।

# पुरोवाक्

वेद भारतीय संस्कृति के आधाराश्म हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि वैदिककालिक भारत के प्राचीनतम समाज में नारी के कर्त्तव्य और अधिकार पुरुषों के समान थे। उसमें न तो हीनता बोध था और न ही आतंक का भाव। वह तात्कालिक शिक्षा के क्षेत्र में पुरुष के समकक्ष थी । विवाह को भी उस काल में धार्मिक अनुष्ठान माना जाता था। वधू अपने पतिगृह की साम्राज्ञी, सभी कार्यों में सहयोगिनी, धर्मकार्यों में सहधर्मिणी, पारिवारिक सम्पत्ति में सह-अधिकारिणी, पुरुष की अर्धांगिनी एवं राजनीति, न्याय, यज्ञकर्म और विचार-विनिमय आदि में उसकी सहभागिनी होती थी।

उत्तरवैदिककाल में निरन्तर युद्धों और सङ्घर्षों ने उस समय के समाज पर प्रतिकूल प्रभाव डाला तथा परम्परावादी विचारों व रूढियों ने भी अपना प्रभाव इस हद तक छोड़ा कि पुरुष की प्रतिपल की सहयोगिनी और समान अधिकार सम्पन्न नारी पुरुष की व्यक्तिगत सम्पत्ति मानी जाने लगी, जिसका साक्ष्य महाकाव्यकालिक संस्कृति में स्पष्ट है।

ध्यातव्य है कि स्मृतियाँ वेदार्थ का अनुसरण करती हैं। स्मृतिकालिक समाज वैदिक काल के आदर्शों और उत्तरवैदिककाल की विकृतियों के सम्मिश्रण के रूप में सामने आया। स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित नियमों से भारतीय समाज सहस्रों वर्षों तक अनुशासित होता आया है। व्यक्ति के

जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त क्या कब और कैसे करना है? इन सबका प्रतिपादन स्मृतिग्रन्थों में मिलता आया है। समाज के विभिन्न ईकाइयों के मध्य होने वाले सम्बन्धों की व्याख्या भी स्मृतियाँ करती हैं। स्मृतियाँ न केवल कर्त्तव्य का विधान करती हैं, अपितु कर्त्तव्यच्युत होने पर दण्डों की व्यवस्था भी स्मृतियों में प्रतिपादित है। कर्त्तव्य के साथ अधिकार का भी प्रतिपादन स्मृतियाँ करती हैं। व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन में किसका क्या अधिकार है? इसका विस्तृत वर्णन स्मृति-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वस्तुतः स्मृतिग्रन्थ ही भारतीय जीवन के नियामक स्रोत हैं। जिनसे अनुशासित होता हुआ भारतीय समाज आज भी जीवित है। चूँकि स्मृतियाँ भारतीय जीवन की नियामिका रही हैं इसलिए स्वाभाविक है कि स्मृति-ग्रन्थों में नारी की विभिन्न भूमिकाओं की चर्चा उपलब्ध हो। कालखण्ड के आधार पर स्मृतियाँ भी अनेक कालखण्डों में अनेक मनीषियों द्वारा प्रणीत की गयी हैं। अतः विभिन्न कालखण्डों में होने वाले परिवर्तनों की झलक भी उनमें प्राप्त होती है। नारी भी विभिन्न कालखण्डों में होने वाले परिवर्तनों से निरपेक्ष नहीं रही है। वैदिक युग में वह मन्त्रद्रष्ट्री रही तो उपनिषद् काल में ब्रह्मवादिनी। पुराण एवं महाभारतादि की स्वयंवरा नारी इतिहास के विभिन्न कालखण्डों से गुजरती हुई मध्यकालिक भारत में शूद्रवत् उपेक्ष्य हो गयी। न्यूनाधिक यही स्थिति पुनर्जागरण काल तक रही। स्वतन्त्रता संग्राम में नारियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अवश्य अदा की, किन्तु समाज का बहुसंख्यक वर्ग प्राचीन विकृतियों के साथ जीता रहा।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में समाज जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में नारियों ने

विभिन्न भूमिकाएं निभायी हैं। विश्व के सबसे बड़े लोकतन्त्र में किसी नारी का प्रधानमंत्री होना नारी वर्ग के लिए न केवल सर्वाधिक गौरवपूर्ण था, अपितु महान् परिवर्तन का सूचक भी था। इस बदलते हुए समाज में नारी के सन्दर्भ में स्मृतिवचनों की क्या उपादेयता है? इसी विचिकत्सा ने मुझे इस विषय पर शोध करने के लिए प्रेरित किया।

ईश्वर के असीम अनुग्रह एवं सौभाग्यवशात् एक सुशिक्षित एवं अच्छे परिवार में जन्म लेने के कारण मुझे कभी अनुभव भी नहीं हुआ कि मैं पुत्री हूँ, प्रत्युत मुझे तो पुत्र से भी अधिक प्यार मिलता आया, फिर भी जैसे-जैसे मेरी पढ़ाई-लिखाई (शिक्षा) का क्षेत्र, सोचने समझने का आयाम, ज्ञान का स्तर और समाज का परिवेश बढ़ता गया वैसे-वैसे नारियों एवं पुरुषों के विभेदरूपी विषय पर विचार करने की जिज्ञासा ने जन्म लिया वह समय के साथ-साथ तीव्रतर होती गयी। कालक्रमेण एक दिन वह शुभावसर प्राप्त हुआ कि व्याकरण, साहित्य एवम् दर्शन में पटीयान् परमादरणीय गुरुदेव प्रो० राम किशोर शास्त्री जी (इलाहाबाद वि०वि०इ०) ने मेरी मनोजिज्ञासानुकूल शोध विषय प्रदान कर मेरी सन्निहित, वाञ्छित तथा भविष्योद्वाही जिज्ञासा को पुष्पित, पल्लवित कर प्रशमित करने का अवसर प्रदान किया, जिसकी मुझे वर्षों से उत्कट अभिलाषा थी। इस प्रकार उन्होंने परोक्षतः तथा प्रत्यक्षतः उभयरूपों में गुत्थियों को सुलझाते हुए मेरा अतीव उत्साहवर्द्धन ही नहीं किया, अपितु पुत्रीवत् स्नेह भी प्रदान किया जो यावज्जीवन स्मरण रहेगा। उन्हीं के बहुआयामी ज्ञान तथा कुशल निर्देशन एवं कृपा का परिणति है—प्रकृत शोध-प्रबन्ध।

संस्कृत साहित्य के उद्भट्ट विद्वान् एवं बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्रद्धेय गुरु डॉ॰ मुरली मनोहर द्विवेदी जी के प्रति मैं आभार व्यक्त शब्दों में करने योग्य नहीं हूँ, क्योंकि समय-समय पर डॉ॰ द्विवेदी द्वारा प्रदत्त निर्देशन ही शोध प्रबन्ध का आधारश्म बना जिसके कारण ही यह शोध रूपी ग्रन्थ अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सका।

गो-गङ्गा-गायत्री के अनन्य भक्त, मेरी स्नेहिल भावनाओं के पावन प्रतीक, प्रातर्वन्द्य, पूज्यपाद पिता श्री पुल्लू यादव (प्रधानाचार्य) ज. इ. का. नेवादा, अम्बेडकरनगर) एवं श्रद्धा, एवं त्याग की प्रतिमूर्ति माँ श्रीमती विद्या देवी के चरणयुगलों को मैं सतत नमन करती हूँ। जिनकी अजस्र प्रेरणा से ही यह शोध-प्रबन्ध अपने सम्यक् स्वरूप को प्राप्त कर सका। वस्तुतः भारतीय संस्कृति का डिण्डिमनिनाद भी है कि माता-पिता के प्रसन्न होने पर सभी देवता प्रसन्न हो जाते हैं—''पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः।'' इस तथ्य को मैंने जीवन के प्रत्येक क्षण में अनुभव भी किया है।

सत्प्रेरणाओं के निधान परमपूज्य मातुल श्रीईशनारायण जी एवं श्रद्धास्पद ज्येष्ठ भ्राता श्री गुलाब चन्द्र जी (प्रधानाचार्य) को भी मैं अपना प्रणाम निवेदित करती हूँ।

स्नेह की मूर्ति अपनी अग्रजा डॉ. अम्बेश्वरी के प्रति भी मैं श्रद्धावनत हूँ जिनका सहयोग मित्रवत् रहा।

प्रेरणा के स्रोत, अग्रज डॉ. सतिरामजी यादव, के सर्वतोभावेन सहयोग

के लिए मैं हृदयेन कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए यह कामना भी करती हूँ कि भविष्य में भी मुझे उनका आशीर्वाद इसी प्रकार प्राप्त होता रहे। भ्रातृसम चंचल भैया (अधिवक्ता) और डॉ॰ अरविन्द शुक्ल (प्रध्यापक) ने उत्साहवर्धन एवं सत्प्रेरणा दी, इसकी मैं सदैव आभारी रहूँगी।

अनुभव के धनी एवं शब्द सामञ्जस्य में माहिर अपने सहपाठी प्रमोद कुमार उपाध्याय (एस0 आर0 एफ0 संस्कृत विभाग इ0 वि0 वि0) तथा उदारचेता एवं निर्मलमन अपनी सहपाठिनी अवन्तिका जी (अध्यापिका) के सहयोग की मैं आजीवन आभारी रहूँगी जिन्होंने गुत्थियों को सुलझाने एवं प्रूफ संशोधनादि में ही नहीं, अपितु प्रतिपग इन लोगों से मुझे जो सत्प्रेरणा, उत्साह और भावनात्मक तोष की प्राप्ति हुई है उसके लिए मैं हृदय से इनके प्रति आभार प्रकट करना अपना प्रथम दायित्व समझती हूँ।

सहपाठियों के इसी क्रम में ज्योति गुप्ता, श्रीकान्त पाण्डेय, धरणीधर पाण्डेय, पंकज पाण्डेय, राजीव शुक्ल, शशिशेखर मिश्र, गोपालकृष्ण यादव आदि के परोक्ष एवं अपरोक्ष सहयोग के लिए कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ।

स्नेह की पात्र प्यारी बहन कञ्चन ने साथ रहते हुए न केवल त्याग एवं सहयोग का ही परिचय दिया बल्कि उसने अपनी वाक्पटुता, तीक्ष्ण बुद्धि, विश्लेषण की अद्भुत क्षमता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा छद्म वाद-विवाद से मुझे जो मानसिक ऊर्जा प्रदान की उसके लिए वह विशेष साधुवाद की पात्र है। इसी प्रकार भ्राता सन्तोष भी अपनी साहित्यिक गति,

आलोचक प्रतिभा, मानसिक धैर्य, शारीरिक कष्ट एवं विविधतापूर्ण व्यक्तित्व के लिए आशीर्वाद के योग्य हैं।

छोटे भाई पवन, धनञ्जय (लल्लू), के त्यागपूर्ण सहयोग एवं स्नेह की आजीवन ऋणी रहूँगी।

अनुज धर्मेन्द्र यादव (सांसद मैनपुरी), संग्राम यादव (भूत पूर्व छात्र संघ महामंत्री, इ० वि० वि०) अजीत यादव (छात्रसंघ अध्यक्ष, इ० वि० वि०) एवं जयनाथ यादव (डिप्टी जेलर), प्रवीण कुमार (प्राध्यापक), अरुण, अवनीश आदि का भी मैं उनके प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सहयोग के लिए हृदय से आभार प्रकट करती हूँ।

अनुज रमेश यादव का किञ्चित शब्दों द्वारा आभार व्यक्त करना अतिशयोक्ति होगी। इनके सहयोग की मैं आजन्म ऋणी रहूँगी और मैं ईश्वर से प्रार्थना करती हूँ कि इनका सहयोग आगे भी बना रहे।

अनुज एवं अनुजा के इसी क्रम में मैं रंजीत, संजीत, प्रशान्त, रामचन्द्र, राजीव, राहुल, सुनील, गरिमा, प्रतीक्षा, उमा, सोनम, नीलिमा, जागृति आदि को भी उनके सहयोग के लिए साधुवाद देती हूँ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का मुद्रण 'गोपालम् कम्प्यूटर प्रिंटर्स' मनमोहन पार्क, कटरा के तत्त्वावधान में हुआ है। केन्द्र के निदेशक श्री प्रवेश शर्मा जी एवं जितेन्द्र मिश्र जी अपनी ख्याति के अनुसार जिस लगन, निष्ठा एवं उत्साह से इस दायित्व का निर्वाह किया है, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

मेरे इस शोध कार्य में अन्य जिन ज्ञाताज्ञात अदृश्य अमूर्त-मूर्त शक्तियों, ऋषियों, गुरुजनों तथा शुभचिन्तकों एवं मित्रजनों ने सहयोग प्रदान किया है, उनको मैं यथोचित साधुवाद देती हूँ। मैं उन समस्त पुस्तकालयों, संस्थाओं तथा उनके केन्द्राध्यक्षों एवं कर्मचारियों का भी हृदय से आभार स्वीकार करती हूँ, जिनसे मुझे इस शोध रूपी महायज्ञ में यथेच्छ सहयोग प्राप्त हुआ है।

अन्ततः विद्वज्जनों की उदार विवेकशीलता को अपनी इस साधना का प्रथम पुष्प समर्पित करते हुए आशान्वित हूँ कि यथाशक्ति प्रयत्न करने पर भी इसके किसी अवयव में किसी भी प्रकार की त्रुटि दृष्टिगत होने पर वे क्षमादान कर मुझे कृतार्थ करेंगे; क्योंकि—सर्वंसहा सूरयः (विद्वान् लोग सब कुछ सहन करने वाले होते हैं)। वस्तुतः इस शोध कार्य के विनम्र प्रयास की सफलता मनीषियों का परितोष ही होगा—

**आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।**
**बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रात्ययं चेतः।।**

विनयावनता

रञ्जना यादव

**( रञ्जना यादव )**

# विषयानुक्रमणिका

❑❑
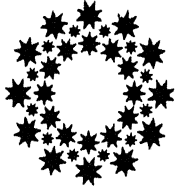
## प्रथम अध्याय

# स्मृति परम्परा
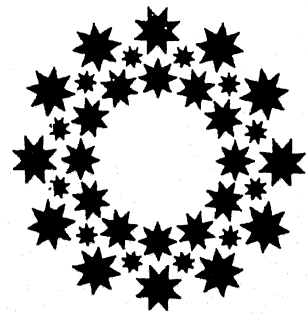
# स्मृतियों का रचना काल एवं संख्या

सुदीर्घ काल के मन्थन से निःसृत विचार जीवन के बहुपक्षीय वृत्त को समेटे हुए, सदाचार के माध्यम से मानव को ब्रह्मतत्त्व पद का अधिकारी बना देने का श्रेय स्मृतियों को है। भारतीय धार्मिक साहित्य में स्मृतियों का विशिष्ट महत्त्व है। श्रुति अर्थात् वेद के पश्चात् धर्म का मूल स्रोत जहाँ से प्रवाहित हुआ, उसमें स्मृति प्रधान है। भारतीय व्यवहार अर्थात् कानून के गुण दोष के आधार को सूक्ष्म रूप से समझने के लिए स्मृतियाँ निश्चय ही कानूनी ग्रन्थ हैं।

स्मृति का शब्दार्थ है—स्मरण अर्थात् स्मरण अर्थ में √स्मृ से क्तिन् प्रत्यय लगकर स्मृति शब्द निष्पन्न होता है। स्मरण परम्परा से जिन प्राचीन परम्पराओं, शास्त्रीय नियमों एवं आचार संहिताओं को आत्मसाक्षात्कार के द्वारा जीवित रखा गया उसी आचार शास्त्र का मूर्तरूप स्मृति है। आधुनिक ऐतिह्यविदों के अनुसार ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर पूर्व मध्यकाल तक विभिन्न स्मृतिग्रन्थों की रचना की गयी। स्मृतियाँ एक प्रकार से सङ्गठन तथा विघटन दोनों घातक प्रवृत्तियों के अतिरञ्जित स्वरूप की समाज के प्रति चेतावनी है। रीतियों की प्राचीनतम शैली, कर्त्तव्यों के प्रेरक विधान, अधिकारों की जागरूक भाषा, आत्मिक शुद्धि के प्रेरक वचन, शारीरिक स्वच्छता के विधायक वाक्य, राजतन्त्र की लोकानुरञ्जक शासन व्यवस्था,

प्रजातन्त्र की सर्वजन सुखकारक न्याय व्यवस्था सभी दृश्य स्मृतियों के विस्तृत चित्रपट पर एक साथ, किन्तु समुचित मात्रा में उभरतें है।

स्मृति शब्द प्राचीन रूप में व्यापक अर्थो का सूचक था। जिसके अन्तर्गत वेदाङ्ग, धर्मशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र आदि विषयों का समावेश था। आवान्तर काल में यह शब्द केवल धर्मशास्त्र के अर्थ में सङ्कुचित हो गया—

*"धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।* (मनुस्मृति)

श्रुतिरूप शाश्वत आधार शिला पर प्रतिष्ठित इन स्मृतियों की रचना का एक मात्र उद्देश्य था—समाज की सुव्यवस्था के नियामक तत्त्वों का उपपादन। स्मृतिग्रन्थ एक विवेकशील वेदविद् सभ्य पुरुष के शिष्ट आचरण का लेखा प्रस्तुत करते हैं। भारतीय हिन्दू जाति की प्राचीन धार्मिक मान्यताओं, सामाजिक विश्वासों, पारम्परिक रीतियों के साथ-साथ राजनीतिक अधिकारों की विवेचिका, ये रचनाएं राष्ट्र की अमूल्य एवं अभूतपूर्व ज्ञान सम्पदा है।

प्राचीन काल में 'स्मृति' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग होता था। प्रथमअर्थ वे सब ग्रन्थ जो श्रुति की कोटि में नहीं आते थे, किन्तु प्रामाणिक माने जाते थे, यथा—पाणिनि के व्याकरण श्रौत, गृह्य एवं धर्मसूत्र, महाभारत, मनु, याज्ञवल्क्य आदि के धर्मशास्त्र। श्रीमद्भगवद्गीता की गणना भी इसी कोटि में आती है। दूसरे सीमित अर्थों में स्मृति शब्द

केवल धर्मशास्त्रों का पर्यायवाची है। अर्थात् वे ग्रन्थ जो धर्म की व्याख्या करते हैं और प्रामाणिकता में वेदों के पश्चात् स्थान पाते हैं।[1]

ये ग्रन्थ ऋषियों द्वारा प्रणीत माने जाते हैं जो वेदों के मर्म को खूब जानते थे और जिन्होंने मनुष्यों के धर्म का वर्ण आश्रम काल और युग के अनुसार विस्तृत स्पष्टीकरण किया। इसी प्रकार के अनेकानेक ग्रन्थ आवश्यकतानुसार समय-समय पर लिखे गये हैं।

भारतीय इतिहास के उत्तर वैदिक काल में जब निश्चित भू-भाग पर जनसमूह स्थायी रूप से निवास करने लगा और उसमें धन-सम्पत्ति के संग्रह की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई, तभी समाज में सुचारू संचालन के लिए सुनिश्चित विधि विधानों की आवश्यकता पड़ी। वैदिक कालीन मन्त्र द्रष्टा ऋषियों ने प्राकृतिक अनुशीलन द्वारा समाज के कल्याणार्थ उपयोगी निर्देश दिए थे। परवर्ती मनीषी आचार्यों ने उनकी व्याख्या और संहिताकरण किया, जिसे धर्मशास्त्र कहा गया। संहिताबद्ध हो जाने से ये निर्देश विधि की श्रेणी में आ गए, जिनका पालन कर्त्तव्य हुआ और उल्लंघन अपराध स्मृतियाँ ही विधिशास्त्र और धर्मशास्त्र के रूप में समादृत रहीं।

## स्मृतियों की विषय वस्तु

हिन्दू धर्म सनातन धर्म के रूप में अक्षयवट की तरह है। भारतवर्ष कर्मभूमि और धर्मभूमि दोनों है। हिन्दुओं के व्यक्तिगत एवं सामाजिक

---

1. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रां तु वै स्मृतिः। मनु 2/10

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का प्राधान्य है। इसलिए धर्म के व्यापक रूप की चर्चा जितनी स्मृति ग्रन्थों में है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। धर्म के नाम पर यहाँ बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी गयी धर्म धुरन्धरों के मध्य शास्त्रार्थ के गुरुकुलों के शैक्षणिक वातावरण में धर्मशिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंश है। 'सत्यंवद', 'धर्मं चर' का उद्घोष स्वर्ग-नरक की चर्चा और स्वर्ग प्राप्ति के अनेकों मार्ग बताये गये हैं।

वैदिक आर्यों की दृष्टि में स्वर्गसिद्धि का मुख्य साधन यज्ञ ही था। अतः एक से एक व्यय साध्य यज्ञ, हिंसा का चरमोत्कर्ष एवं दान धर्म के विषय में भी धर्मशास्त्रों में बहुत महिमा गायी गई है। भारतीय जनजीवन में आचार-विचार का, यज्ञ-याग का, दान-उपादान का बड़ा महत्त्व है। ब्राह्मण युगीन आचार विचार की मान्यताओं के समर्थन में ब्राह्मणग्रन्थ हैं और ब्राह्मणग्रन्थों के समर्थन में धर्मसूत्रों का सहारा लिया गया है, फिर ये सभी बातें स्मृतिग्रन्थों में अपना ली गयी है। स्मृतियों की शैली अलग है और समयानुकूल है। स्मृतिकारों ने कर्तव्याकर्तव्य पर खुलकर विचार प्रस्तुत किया और अपने से पूर्व होने वाले स्मृतिकारों की बातों का अन्धानुकरण नहीं किया, जो सिद्धान्त उन्हें अपने युगानुकूल प्रतीत हुए तो उसे सहर्ष स्वीकृत किया जो विचारधारा उन्हें समयानुकूल नहीं प्रतीत हुई उन्हें अस्वीकृत कर दिया।

प्रथम मानव धर्मशास्त्र मनुस्मृति से पूर्व धर्म और अर्थ को अलग-अलग दृष्टिकोण से देखने की रीति चली आ रही थी। जो राजधर्म एवं

व्यवहार अर्थशास्त्र के अधीन होकर चल रहा था, उसको स्मृतिकारों ने एक परिधि में लाकर धर्मशास्त्र का उपजीवी बना दिया यही स्मृतिकारों का मौलिक नवीन चिन्तन है।

इस प्रकार स्मृतिग्रन्थ भारतीय वर्णाश्रम धर्म एवं आचार व्यवहार के प्रतिपादक एवं हिन्दूओं के विधिग्रन्थ हैं। अंग्रेजी शासनकाल में भी इन ग्रन्थों की मान्यता रही है जिसे "हिन्दू लॉ" कहा गया है जो राजकीय विधान में संशोधन परिवर्धन के साथ धर्मनिरपेक्ष स्वतन्त्र भारत में आज भी प्रचलित हैं। ये ऋषि प्रणीत स्मृति ग्रन्थ अपने अमर संदेशों के द्वारा आज भी भारतीय जनजीवन की गति और व्यवस्था को पूर्ण सशक्त बनाने में योगदान दे रहें हैं।

श्रुतियों के पश्चात् सामाजिक व्यवस्था को सुस्थिर रखने में स्मृतियों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदों में सूत्रात्मक रूप से जिन सामाजिक विषयों का विवेचन हुआ है वे अपने मन्त्र रूप में या बीज रूप में स्पष्ट नहीं हैं। अतः सामाजिक व्यवस्था को स्पष्ट करने एवं सुचारु रूप में चलाने के लिए श्रुतियों के पश्चात् स्मृतियों का ही योगदान है।

## संख्या

सामान्य अर्थ में स्मृति से धर्मशास्त्र की उन रचनाओं का तात्पर्य है ज़ो प्राय़ः श्लोको में हैं और उन्हीं विषयों का प्रतिपादन करती हैं, जिनका प्रतिपादन धर्मसूत्रों में किया गया है। इन स्मृतियों में अग्रणी हैं—मनु और याज्ञवल्क्यस्मृति।

स्मृतियाँ प्रायः पद्य में हैं और भाषा की दृष्टि से स्मृतियाँ धर्मसूत्रों के बाद की रचनाएं हैं। स्मृतियों की भाषा लौकिक संस्कृत है। विषय वस्तु की दृष्टि से स्मृतियाँ धर्मसूत्रों से अधिक व्यवस्थित और सुगठित हैं।

प्रारम्भ में स्मृतिग्रन्थों की संख्या न्यून थी। तैत्तिरीयआरण्यक में भी स्मृति शब्द आया है। गौतम[1] एवं वशिष्ठ ने स्मृति को धर्म का उपादान माना है। गौतम[2] ने मनु को छोड़कर किसी स्मृतिकार का नाम नहीं लिया। बौधायन ने सात धर्मशास्त्रकारों के नाम दिए हैं—औपजंघनि, कात्य, काश्यप, गौतम, प्रजापति, मौद्गल्य तथा हारीत।

वशिष्ठ[3] ने पाँच नामों को उद्धृत किया गौतम, प्रजापति, मनु, यम एवं हारीत। आपस्तम्ब ने दस नाम दिए हैं।

मनु ने छह स्मृतिकारों का नाम—अत्रि, उतथ्य के पुत्र, भृगु वशिष्ठ, वैखानस एवं शौनक।

याज्ञवल्क्य[4] ने सर्वप्रथम बीस धर्मवक्ताओं के नाम का उल्लेख किया। यथा—मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत याज्ञवल्क्य, औशनस अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, वशिष्ठ। याज्ञवल्क्य ने बौधायन का नाम छोड़

---

1. गौतम 1/2 वशिष्ठ 1/4
2. गौतम 11/19
3. वशिष्ठ 1/4
4. याज्ञवल्क्य—1/4-5

दिया है।

पराशर[1] ने स्वयं को छोड़कर 19 स्मृतिकारों ने नाम गिनाए हैं। यथा—मनु, काश्यप, दक्ष, गौतम, गार्ग्य, अङ्गिरा, योगीश्वर, प्रचेता, शातातप, संवर्त, उशना, शङ्ख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तम्ब, हारीत। इनमें याज्ञवल्क्य[2] की सूची से कुछ अन्तर है। पराशर ने वृहस्पति, यम और व्यास को छोड़कर उसके स्थान पर गार्ग्य, काश्यप और प्राचेतस के नाम सम्मिलित किए है। पराशर को लेकर ये स्मृतियाँ बीस है।

कुमारिल के तन्त्रवार्तिक में 18 धर्म संहिताओं के नाम आये हैं। विश्वरूप ने वृद्धयाज्ञवल्क्य के श्लोक को उद्धृत कर याज्ञवल्क्य स्मृति की सूची में दस नाम और जोड़े हैं। यथा—

अङ्गिरा, अत्रि, आपस्तम्ब, उशना, कात्यायन काश्यप, गार्ग्य, वृद्धगार्ग्य, गौतम, जातकर्ण (जातकर्णि), दक्ष, नारद, पराशर, पारस्कर, पितामह, पुलस्त्य, पैठीनसि, बृहस्पति, बौधायन, भारद्वाज भृगु, मनु, वृद्धमनु, यम, याज्ञवल्क्य, वृद्धयाज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, विष्णु, व्यास, शङ्ख, शातातप, शौनक, संवर्त, सुमन्तु, स्वयंभु (मनु) एवं हारीत नामक स्मृतिकारों का उल्लेख किया है।

'चतुर्विंशतिमत' नामक ग्रन्थ में 24 (चौबीस) धर्मशास्त्रकारों का नाम

---

1. पराशर स्मृति 1/13-16
2. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/45

दिया गया है। यथा—मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, वृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, दक्ष, गौतम, शातातप, वशिष्ठ, गार्ग्य, नारद, बौधायन, वत्स, विश्वामित्र, शङ्ख (शांख्यायन)। इन नामों की सूची में याज्ञवल्क्य स्मृति में उल्लिखित नामों में दो नाम कात्यायन एवं लिखित नहीं मिलता। याज्ञवल्क्य स्मृति की सूची से छह नाम (गार्ग्य, नारद, बौधायन, वत्स, विश्वामित्र शाङ्ख्यायन) अधिक चतुर्विंशतिमत[1] नामक ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है।

मिताक्षरा तथा अपरार्क आदि ग्रन्थों में षट्त्रिंशन्मत स्मृति का नामोल्लेख किया है। अपरार्क के मत से भविष्यत्पुराण में छत्तीस स्मृतियों के नामों का उल्लेख है। वृद्ध[1] गौतम स्मृति में 57 धर्मशास्त्रकारों के नाम दिए गए हैं। बाद के निबन्धों, निर्णयसिन्धु, नीलकण्ठ एवं वीरमित्रोदय की मयूख सूचियों के निर्णय से स्मृतियों की संख्या 100 हो जाएगी।

वीरमित्रोदय[2] में उद्धृत प्रयोगपारिजात ने अट्ठारह मुख्य स्मृतियों, अट्ठारह उपस्मृतियों तथा इक्कीस अन्य स्मृतिकारों के नाम दिए हैं—मुख्य स्मृतिकार—अठारह है—

(1) मनु, (2) बृहस्पति, (3) दक्ष, (4) गौतम, (5) अङ्गिरा, (6) योगीश्वर, (7) प्रचेता, (8) शातातप, (9) पराशर, (10) संवर्त,

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 3 पृष्ठ सङ्ख्या 4

2. वृद्धगौतम—1/14-25

3. वीरमित्रोदय—परिभाषा प्रथम पृष्ठ 18।

(11) उशनस, (12) शङ्ख, (13) लिखित, (14) अत्रि, (15) विष्णु, (16) यम, (17) आपस्तम्ब, (18) और हारीत।

इसके अतिरिक्त उपस्मृतियों के भी लेखकों के नाम इस प्रकार है—

*नारद पुलहो गार्ग्यः पुलस्त्यः शौनकः क्रतुः*
*बौधायनो जातुकर्ण्यो विश्वामित्रः पितामहः।।*
*जाबालिनाचिकेतश्च स्कन्दो लौगाक्षिकाश्यपौ।*
*व्यास सनत्कुमारश्च शान्तनुर्जनकस्तथा।।*
*व्याघ्रः कात्यायनश्चैव जातूकर्ण्यः कपिञ्जलः*
*बौधायनश्च काणादौ विश्वामित्रस्तथैव च*
*पैठीनसिर्गोभिलश्चेत्युपस्मृति विधायकाः।।*[1]

अङ्गिरा, स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि और सरस्वतीविलास आदि ग्रन्थों में उपस्मृतियों के नामों का भी उल्लेख है।

वीरमित्रोदय[2] परिभाषा प्रकरण के अनुसार अन्य स्मृतिकारों की संख्या इक्कीस है। ये स्मृतिकार निम्नलिखित है—

*वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः*
*विष्णुः कार्ष्णाजिनिः सत्यव्रतौ गार्ग्यश्च देवलः।।*
*जमदग्नि भरिद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रुतः।*
*आत्रेयः छागलयेश्च मरीचिर्वत्स एव च।।*

---

1. वीर मित्रोदय, प्रयोग पारिजात परिभाषाप्रकरण पृष्ठ संख्या 18
2. वीर मित्रोदय, प्रयोग पारिजात परिभाषाप्रकरण पृष्ठ संख्या 18

*पारस्करश्चर्ष्यश्रृङ्गो वैजवायस्तथैव च।,*

*इत्येते स्मृति कर्तार एकविंशतिरीरिताः।।*

पं० श्रीराम आचार्य ने तेइस स्मृतियों को इस प्रकार वर्णित किया है—

(1) मनुस्मृति
(2) गौतमस्मृति
(3) औशनसस्मृति
(4) वशिष्ठस्मृति
(5) शातातपस्मृति
(6) अङ्गिरसस्मृति
(7) यमस्मृति
(8) लिखितस्मृति
(9) कात्यायनस्मृति
(10) विष्णुस्मृति
(11) याज्ञवल्क्यस्मृति
(12) पराशरस्मृति
(13) सम्वर्तस्मृति
(14) दक्षस्मृति
(15) व्यासस्मृति
(16) आपस्तम्बस्मृति
(17) हारीतस्मृति
(18) शङ्खस्मृति
(19) अत्रिस्मृति
(20) बृहस्पतिस्मृति
(21) बौधायनस्मृति
(22) लध्वाश्वलायनस्मृति
(23) पुलस्त्यस्मृति

गरुडपुराण[1] में अट्ठारह स्मृतियों और अग्नि पुराण में बीस स्मृतियों का उल्लेख है। पैठीनसि[2] ने स्मृतियों की संख्या छत्तीस बतायी है। जिनमें

---

1. गरुण पुराण 93/4-6, अग्निपुराण 2 पृष्ठ 148 कलकत्ता सङ्ख्या 1876।
2. पैठीनसि—रति धर्मप्रणेतारः षटत्रिशंत् ऋषयस्तथा वीर मित्रोदय परिभाषा पृष्ठ 15

वृहस्पति को भी सम्मिलित किया गया है।

मंहामहोपाध्याय डॉ0 पी0 वी0 काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास, में पूर्व वर्णित स्मृतियों से भी अधिक स्मृतियों की संख्या का वर्णन किया है। कुछ पुस्तकों एवं स्मृतियों में स्मृतियों की संख्या छत्तीस बताई गई है। इन स्मृतियों[1] में कुछ उपस्मृतियाँ है।

1. मनु, 2. अङ्गिरस, 3. व्यास, 4. गौतम, 5. अत्रि, 6. उशनस, 7. यम, 8. वशिष्ठ, 9. दक्ष, 10. संवर्त, 11.शातातप, 12. पराशर, 13. विष्णु, 14. आपस्तम्ब, 15. हारीत, 16. शङ्ख, 17. कात्यायन, 18. भृगु, 19. प्रचेता, 20.नारद, 21. बौधायन, 22. पितामह, 23. सुमन्त्र, 24. काश्यप, 25. बभ्रु, 26. पैठीन, 27. व्याघ्र, 28. सत्यव्रत, 29.भरद्वाज, 30. गार्ग्य, 31. कार्ष्णाजिनि, 32. जाबालि, 33. जमदग्नि, 34. लौगाक्षि,

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास पृष्ठ सङ्ख्या–6

मनुर्बहस्पतिर्दक्षो गौतमोऽथ यमोऽङ्गिराः।
योगीश्वरः प्रचेताश्च शातातप पराशरौ।।
संवर्ताशनसौ शंख-लिखितावसिरेव च
विष्ण्वापस्तम्ब—हारीता धर्म-शास्त्र-प्रवर्तकाः।।
एते ह्यष्टादश प्रोक्ताः मुनयो नियत व्रताः
जाबालर्नायिकेतश्च स्कन्दो लौगाक्षि-काश्यपौ।।
व्यासः सनत्कुमारश्च सुमन्तुश्च पितामहः
व्याघ्रः कार्ष्णाजिनिश्चैव जातूकर्णः कपिञ्जलः
बौधायनश्च काणादो विश्वामित्रस्तथैव च
पैठीनसिर्गोभिलश्च उपस्मृति विधायकाः।। (स्मृति चन्द्रिका)।

35. अत्रि, 36. ब्रह्म आदि।।[1]

इस प्रकार से छत्तीस स्मृतियाँ भी मिलती हैं। इन स्मृतिकारों की संख्या से ही अवगत होता है कि समय-समय पर प्राचीन भारतीय स्मृतिकारों और समाजशास्त्रियों ने सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित रखने और समाज को सुरक्षित रूप से चलाने के लिए स्मृतियों की रचना की है। समाज के पर्यावरण को अच्छा रखने के उद्देश्य से एवं समाज में शान्ति व्यवस्था बनाए रखने के उद्देश्य से प्राचीन भारतीय स्मृतिकारों ने समाजशास्त्रीय दृष्टि को ध्यान में रखते हुए प्राणिमात्र के प्रति दया के भावों को रखने के नियमों का प्रतिपादन किया है।

प्राचीन भारतीय स्मृतिकारों ने मानवीय जीवन को सभी जीवों के जीवन से श्रेष्ठ माना है, एवं सृष्टि के उपक्रम में मानव की उत्पत्ति का उद्देश्य शुभकर्मों को करते हुए सामाजिक नियमों का, जिन्हें पवित्रता के कारण 'धर्म' का नाम देकर धर्मशास्त्र अथवा 'स्मृतियाँ' कहा है, और

---

1. तेषां मन्वङ्गिरौ व्यास गौतमात्र्युशनो यमाः
   वशिष्ठ दक्ष संवर्त शातातप पराशराः।।
   विष्वापस्तम्ब हारीताः शङ्ख कात्यायनो भृगुः।
   प्रचेता नारदो योगी बौधायन पितामहोः
   सुमन्तु कश्यपो बभ्रु पैठीनो व्याघ्र एव च।
   सत्यव्रतो भारद्वाजो गार्ग्यः कार्ष्णाजिनिस्तथा।।
   जाबालिर्जमदग्निश्च लौगाक्षिर्ब्रह्म सम्भवः।
   इति धर्म प्रणेतारः षटत्रिंशदृषयस्त था।।

(स्मृतिचन्द्रिका)

पालन करने के लिए प्रेरणा दी है। प्राचीन भारतीय स्मृतिकारों ने युग के अनुरूप एवं मानव की मनोवृत्तियों का चिन्तन कर तद्नुरूप ही अपनी स्मृतियों में समाज के संचालन एवं समाज में जीवन यापन करने के लिए अनेक जीवनोपयोगी नियमों का प्रतिपादन किया है।

समाज में प्रायः दो प्रकार के व्यक्ति रहें हैं और दोनों का उद्देश्य अच्छे समाज का निर्माण करना रहा है। एक चिन्तन करने वाले स्मृतिकार, दूसरे चिन्तन की व्यवस्था से समाज को चलाने वाले शासक चिन्तन करने वाले विचारक शासक और जनता में होने वाली भलाई एवं बुराइयों पर अधिक ध्यान देकर समाधान एवं सुधार का मार्ग बताते थे, वे शासन से दूर रहकर समाज का कल्याण करते थे।

## स्मृतियों का रचनाकाल

हिन्दू धर्म के नियामक धर्मग्रन्थों की रचना कब से शुरू हुई, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। इस प्रश्न का निश्चित उत्तर कठिन है। फिर भी इसके विषय में जो संकेत प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं और इतिहासकारों ने जो उपाय सुझाये हैं, उनका दिग्दर्शन संक्षेप में करना हमारा उद्देश्य है।

स्मृतियों का रचनाकाल बहुत व्यापक है। गद्य पद्य और गद्य-पद्य मिश्रित शैली में लिखित स्मृतियाँ कई युगों की कृतियाँ है। कुछ स्मृतियाँ ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व रची होने के कारण अति प्राचीन हैं और कुछ का प्रणयन ईसा के बाद हुआ। ईसा की दसवीं शताब्दी तक स्मृति रचना होती रही। इन स्मृतियों का काल निर्णय सरल नहीं है, क्योंकि कुछ तो

प्राचीन सूत्रों के पद्यों में संशोधन मात्र हैं, यथा शङ्ख। कभी-कभी दो या तीन स्मृतियाँ एक ही नाम के साथ चलती है यथा—शातातप, हारीत, अत्रि। कुछ स्मृतियों के प्रणेता प्रमुख स्मृतिकार हैं, किन्तु वृद्ध, वृहत् एवं लघु की उपाधियों के साथ। यथा—याज्ञवल्क्य, वृद्ध-गार्ग्य, वृद्ध-मनु, बृहत् पराशर आदि।[1] यह भी उल्लेखनीय है कि सभी स्मृतियों की प्रमाणिकता असंदिग्ध नहीं है। कुछ स्मृतियों का तो व्याख्याओं में ही उल्लेख प्राप्त होता है, वे उपलब्ध नहीं हैं।

''मनुस्मृति'' उपलब्ध स्मृतियों में प्राचीनतम ही नहीं हैं, प्रत्युत यह राजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ स्मृतिग्रन्थ है। इसके रचनाकार स्वयंभू मनु[2] ने मरीचि, अत्रि, उतथ्यपुत्र (गौतम), भृगु, शौनक, वसिष्ठ वैखानस आदि धर्मशास्त्रकारों का उल्लेख किया है। वर्तमान मनुस्मृति अपने गठन एवं सिद्धान्तों की दृष्टि से प्राचीन धर्मसूत्रों अर्थात् गौतम, बौधायन एवं आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों से परवर्ती हैं। 'मनुस्मृति' का सर्वप्रथम मुद्रण सन् 1813 में हुआ। इस समय इसके अनेक संस्करण विभिन्न स्थानों से प्रकाशित है। इसके कई अंग्रेजी और अन्य भाषाओं में अनुवाद भी प्रकाशित हैं। मनुस्मृति के बहुत से टीकाकार हैं। जिसमें मेधातिथि, गोविन्दराज, कुल्लूकभट्ट आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

---

1. डा0 काणे—धर्मशास्त्र का इति0 भाग-1 (अनु0 अर्जुन चौबे काश्यप) पृ0 42।
2. मनुस्मृति अध्याय 1 श्लोक 35-36

डा0 काणे[1] के मतानुसार 'मनुस्मृति की रचना ई0 पू0 दूसरी शताब्दी तथा ईसा के पश्चात् दूसरी शताब्दी के बीच कभी हुई होगी। प्राच्यशास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान डॉ0 काशीप्रसाद[2] जायसवाल का मत है कि 'मनुस्मृति' का निर्माण पुष्यमित्र शुंग अथवा उसके उत्तराधिकारियों के शासन काल में हुआ। डॉ0 लक्ष्मीकान्त ठाकुर[3] ने इस सम्बन्ध में अनेक मतों का परीक्षण करते हुए निष्कर्ष दिया है कि 'मनुस्मृति' का रचनाकाल ईसा के 200 वर्ष पूर्व है।

''याज्ञवल्क्यस्मृति' के निर्माणकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। पर मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में पूर्वापर का सम्बन्ध सुस्पष्ट है। डॉ0 काणे के अनुसार याज्ञवल्क्य स्मृति को हम ई0 पूर्व प्रथम शताब्दी तथा ईसा के बाद तृतीय शताब्दी के बीच कहीं रख सकते हैं। यह स्मृति 'मनुस्मृति' से अधिक सुगठित पूर्ण और संक्षिप्त है।

तीसरी उल्लेखनीय स्मृति 'पराशरस्मृति है' जिसके रचना काल के विषय में भ्रान्तियाँ हैं। परन्तु यह निश्चित है कि इसकी रचना भी पाँचवी शताब्दी तक अवश्य हो चुकी थी। याज्ञवल्क्य और पराशर दोनों ने अपनी-अपनी स्मृतियों में एक दूसरे का उल्लेख किया है। अतः सम्भावना प्रकट की गई है कि ये दोनों समकालीन रहे होगें। इस स्मृति का विषय बहुत

---

1. 'धर्मशास्त्र का इति0 भाग-1 पृ0 36
2. डॉ0 जायसवाल हिन्दू पॉलिटी पृ0 235-239 (1943)
3. डॉ0 लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन पृष्ठ संख्या 27।

सीमित है। इसमें आचार और प्रायश्चित पर ही विशेष चर्चा है।

'नारदस्मृति' याज्ञवल्क्यस्मृति के बाद की रचना है। डॉ० काणे[1] के अनुसार इसका निर्माण काल प्रथम शताब्दी ई० से 300 ई० के बीच माना जा सकता है।

अन्य स्मृतियाँ पूर्व उल्लिखित स्मृतियों की परवर्ती हैं। बृहस्पतिस्मृति का रचनाकाल 200 से 400 ई० के बीच माना जाता है। बृहस्पति ने मनुस्मृति से बहुत सी बातें ग्रहण की हैं। स्मृतिकार कात्यायन का काल चौथी तथा छठी शताब्दी के मध्य है। इनकी रचना प्राप्त नहीं है। इनके मत अन्यत्र उद्धृत हैं। अङ्गिरा (अङ्गिरस) दक्ष, पितामह, पुलस्त्य आदि स्मृतिकारों का काल 500 ई० के आसपास अथवा उसके पश्चात् है।

**महत्त्व**

भारतीय संस्कृति में जिस प्रकार वेद संस्कृति के आधार ग्रन्थ हैं। उसी प्रकार स्मृतियाँ भी संस्कृति के आधार एवं प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। मनु का कथन है कि श्रुति वेद है और स्मृतियाँ धर्मशास्त्र हैं। इन दोनों से ही धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है। सभी विषयों में इनकी प्रामाणिकता अकाट्य एवं असंदिग्ध है—

*श्रुतिस्त वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।*

*ते सर्वार्थिष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ।।* (मनुस्मृति 2/10)

---

1. धर्मशास्त्र का इति० भाग 1 पृष्ठ 53

मनु[1] ने वेदों के पश्चात् स्मृतियों को ही धर्म का आधार माना है। मनु[2] का यह भी कथन है कि जो वेदों और स्मृतियों में कहे गए धर्म का पालन करता है उसे इस संसार में यश मिलता है और परलोक में अनुपम सुख।

स्मृतिग्रन्थ भारतीय आचार संहिता हैं। मनुष्य के कर्तव्यों का इनमें विशद् निर्देश है। स्मृतियों में आचार—शिक्षा, व्यवहार, नीति, कर्म-विज्ञान और सांस्कृतिक जीवन के सभी तत्त्वों का विस्तृत विवेचन हुआ है। स्मृति ग्रन्थों के बिना कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-अग्राह्य या हेय, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, आचार-अनाचार आदि का ठीक ज्ञान नहीं हो सकता है। स्मृतियाँ एक प्रकार से श्रुतियों का विशदीकरण हैं, जो तत्त्व वेद में संक्षेप में निर्दिष्ट हैं, उनका ही स्मृतियों में विस्तृत विवेचन है। अतएव कालिदास का यह कथन उचित ही है कि—

श्रुतेरिवार्थं[3] स्मृतिरन्वगच्छत्। (रघुवंशम् 2/2)

याज्ञवल्क्य[4] का कथन है कि मनुष्य के पतन के तीन कारण हैं—

1. विहित कर्मों का न करना
2. असंयम

---

1. मनुस्मृति 2/6—12
2. मनु0 2/9
3. रघुवंशम् 2/2
4. याज्ञवल्क्य स्मृति 3/2-9

3. निन्दित कर्मो का करना

पतन के तीन कारणों का समाधान करना स्मृतियों का मुख्य कार्य है। स्मृतियों का मुख्य विषय है—क्या करना चाहिए ? और किन नियमों का पालन करना चाहिए। यदि स्मृतियों में वर्णित नियमों का पालन किया जाता है तो मनुष्य का पतन नहीं हो सकता है।

स्मृतियाँ आचार संहिता के रूप में प्रकाश स्तम्भ हैं। ये अन्धकार से प्रकाश की ओर अवनति से उन्नति की ओर और संकोच से विकास की ओर ले जाती हैं।

स्मृतियों का उद्देश्य है सांस्कृतिक जीवन का विकास करके लोक और परलोक दोनों को सिद्ध करना तथा भौतिक, धार्मिक, व्यावहारिक और सामाजिक जीवन को उन्नत करना। कणाद ने वैशेषिक दर्शन में धर्म का लक्षण दिया है—

*"यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"*

अर्थात् जिससे लौकिक जीवन में उन्नति और मोक्ष की प्राप्ति हो, उसे धर्म कहते हैं। लौकिक और पारलौकिक दोनों उन्नति का मार्ग प्रशस्त करना स्मृतियों का लक्ष्य है।

सांस्कृतिक जीवन के चार स्तम्भ माने जाते हैं आचार, धर्म, नैतिकता और व्यवहार। आचार संहिता में सदाचार, संयम, अनुशासन, सत्य अहिंसा, परोपकार, दान और उद्योग को प्रमुख स्थान दिया गया है। धर्म

आध्यात्मिक शुद्धि का आधार है। नैतिकता नैतिक जीवन के विकास की शिक्षा देती है और व्यवहार लोक जीवन के लिए अपनाने योग्य गुणों का समावेश बताता है। स्मृतियाँ इन चारों विषयों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करती हैं।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से स्मृतियों की समस्त विषय सामग्री को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) आचाराध्याय—इसमे आचार, सदाचार, संस्कार नैतिक शिक्षा, वर्णाश्रम-धर्म आदि का मुख्य रूप से वर्णन है।

(2) व्यवहाराध्याय—इसमें राजनीति, राज्यशासन-विधि राजा तथा प्रजा के कर्तव्य, दण्ड व्यवस्था, विवाद पदों (विवादास्पद विषयों) का निर्णय, दायभाग, साक्षी प्रकरण आदि का समावेश है।

(3) प्रायश्चित्ताध्याय—इसमें विविध प्रकार के पापों और इनके प्रायश्चित्तों का विस्तृत विवेचन है। पाप क्यों करते हैं? इसका भी पर्याप्त विवेचन है। इसमें आपद्धर्मो का भी समावेश है।

स्मृतियों से ही प्राचीन भारतीय संस्कृति का विशद् ज्ञान होता है। किस प्रकार भारत विश्व का पथ-प्रदर्शक और प्रेरणा स्रोत रहा है, और किस प्रकार भारतीय संस्कृति ने विश्व को प्रभावित किया, इसका स्वरूप स्मृतियों से ज्ञात होता है। स्मृतियों से ही प्राचीन भारत की आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक स्थिति का पूर्ण

ज्ञान होता है।

स्मृतियाँ सांस्कृतिक विकास के प्रेरणा स्रोत का कार्य करती हैं। स्मृतियाँ धर्म अर्थ, काम, मोक्ष, रूपी पुरुषार्थ—चतुष्टय को सिद्ध करके जीवन को सफल बनाती हैं। स्मृतियों में वर्णित ईश्वरोपासना, के द्वारा मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करता है। अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति ही मानव जीवन की पूर्ण सफलता है। स्मृतियाँ इस उद्देश्य की प्राप्ति में पूर्णतया सहायक हैं।

## प्रमुख स्मृतियों का सामान्य परिचय

### मनुस्मृति

मनुस्मृति में बारह अध्याय एवं 2694 श्लोक हैं। इस ग्रन्थ का रचयिता मनु को माना जाय तो प्रश्न उठता है कि मनु कौन थे? इसका उल्लेख मनुस्मृति में नहीं है। ऋग्वेद[1] में मनु को मानव का पिता कहा गया है। ऋग्वेद[2] में यह भी कहा गया है कि मनु ने ही सर्वप्रथम यज्ञ किया जिसके पश्चात् यह सृष्टि प्रारम्भ हुई। इस आधार पर मनु का काल (समय) सृष्टि का आदि काल माना जा सकता है। महाभारत के शान्तिपर्व[3] के अनुसार मनु भी कई हुए हैं— स्वयंभूवमनु, वैवस्वतमनु तथा प्राचेतसमनु आदि इनमें

---

1. ऋग्वेद 1/80/16, 1/114/2
2. ऋग्वेद 10/63/7
3. महाभारतशान्ति पर्व 21/12, 57/43

से किसकी कृति मनुस्मृति है? यह स्मृति ग्रन्थ अपने रचयिता के सम्बन्ध में पूरी जानकारी नहीं देता। नारद स्मृति में वर्णन आया है कि मनु ने एक लक्ष श्लोकों का धर्मशास्त्र लिखा। शान्तिपर्व में आया है कि ब्रह्मा ने एक लक्ष अध्यायों में धर्म का वर्णन किया। जो विभिन्न ऋषियों द्वारा संक्षिप्त होता गया। मनु वर्णित धर्मशास्त्र को पहले नारद ने पढ़ा एवं इसको बारह हजार श्लोकों में संक्षिप्त कर दिया और मार्कण्डेय को पढ़ाया। मार्कण्डेय जी ने आठ हजार श्लोकों में इस स्मृति को संक्षिप्त किया और सुमति भार्गव को सौंप दिया। भार्गव ने इसे चार हजार श्लोकों में संक्षिप्त कर ऋषियों को सुनाया। वर्तमान मनुस्मृति भृगु का व्याख्यान है। डॉ० पी० वी० काणे के अनुसार नारद की उक्ति भ्रामक है।[4]

ग्रन्थ के प्रणेता मनुस्मृति[2] के विषय में जो प्रमाण उपलब्ध है वह विचारणीय है। 'ब्रह्मा ने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त किया, फिर आधे भाग से पुरुष तथा आधे भाग से स्त्री की उत्पत्ति हुई और उसी स्त्री से विराट् नामक पुरुष की उत्पत्ति हुई। फिर उसे विराट् पुरुष ने जिस व्यक्ति को जन्म दिया वह संसार का रचयिता मनु हैं।[3] पुनः

---

1. द्रष्टव्य पी० वी० काणे धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० 43-43
2. द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्  
   अर्धेन नारी तस्या च विराजमसृजत्प्रभुः।।  
   तपस्तप्त्वाऽसृजघं तु स्वयंभू पुरुषो विराट्  
   तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः।। मनु० 1/32-33

---

3. मनु० 1/57

मनु से भृगु नारद आदि ऋषि पैदा हुए। ब्रह्मा ने मनु को धर्मशास्त्र पढ़ाया, फिर मनु ने मरीच्यादि दस मुनियों को वह ज्ञान दिया।[1] कुछ बड़े वेदज्ञ ऋषिगण मनु के पास जाकर वर्णों और मध्यम वर्ण के लोगों के धर्म सम्बन्धी कर्तव्यकर्मों को बताने के लिए निवेदन किया और व्यवहार वेत्ता मनु[2] ने इस सब कार्यों को सम्पन्न करने के लिए अपने प्रिय शिष्य भृगु को निर्देश दिया।

यास्क ने अपने निरुक्त में व्यवहार शास्त्र के प्रणेता के रूप में मनु का उल्लेख किया है। शतपथ ब्राह्मण भी मनु और शतरूपा की कहानी की याद दिलाता है। ये ही मनु मनुस्मृति के आदि प्रणेता थे या कोई और यह कहना कठिन है। किन्तु अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर मनुस्मृति को प्राचीनतम्, धर्मशास्त्र ग्रन्थ माना जा सकता है। स्वयं मनु ने भी कहा है कि यह धर्मशास्त्र ब्रह्मा ने उनको पढ़ाया तत्पश्चात् मरीचि आदि मुनियों ने श्रवण किया। मनु की शिष्य परम्परा में भृगु जी भी हैं। उन्होंने ही मनु के उपदेशों को निबन्धी कृत किया जिसका अन्य ऋषियों ने अध्ययन किया। मुनियों ने धर्मसम्बन्धी प्रश्नों को भृगु से पूछा एवं उन्होंने प्रत्युत्तर में इस स्मृति का प्रणयन किया। जो मनु की उक्तियों पर आधारित है। महाभारत काल में जो धर्मशास्त्र था वह स्वयंभुवमनु कृत बताया जाता है। वर्तमान मनुस्मृति उसी का संक्षिप्त रूप हो सकता है। इससे सिद्ध

1. मनु0 1/58
2. मनु0 1/59/60

होता है कि धर्मशास्त्र ग्रन्थ हर काल में था। इसको प्राचीन एवं पवित्र सिद्ध करने के लिए ब्रह्मप्रणीत बताया गया है।

तैत्तिरीयसंहिता[1] में एव ताड्यब्राह्मण[2] के अनुसार मनु ने जो कुछ कहा है, वह औषध है। धर्म के क्षेत्र में ग्रन्थ की महत्ता प्राचीन काल से अक्षुण्ण है। 'चतुवर्गचिन्तामणि' एवं 'संस्कारमयूख' आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा ने जो धर्मशास्त्र मनु को सुनाया एवं पढ़ाया उसको चार महर्षियों ने निबद्ध किया। भृगु, नारद, बृहस्पति एवं अङ्गिरा की स्मृतियों से ब्रह्मकृत धर्मशास्त्र ही वर्णित है।

प्राचीन टीकाकारों एवं धर्मशास्त्र लेखकों ने भृगु की उक्तियों को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

विश्वरूप एवं अपरार्क के द्वारा उद्धृत भृगु के वाक्य मनुस्मृति में नहीं मिलते। हो सकता है कि कुछ श्लोक वर्तमान संस्करण में नहीं समाविष्ट हों।

जिस प्रकार मनुस्मृति के रचयिता के विषय में मत मतान्तर है, वैसे ही रचना काल के विषय में भी तर्क वितर्क प्रस्तुत हुए हैं।[3]

बारह अध्यायों में वर्णित यह धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ, सरल, धाराप्रवाह

---

1. यद्वै किं च मनुरवदत्तद् भेषजम् (तैत्तिरीय सं) 2/2/10/2
2. मनुर्वै यत्किंचावदत्तद् भेषजं भेषजातायै (ताण्ड्य ब्रा0) 23/6/17
3. विशेष विस्तृत विवरण स्मृतिसाहित्य के अन्तर्गत किया गया है।

एवं सरल शैली में प्रणीत है। शब्द रचना पर पाणिनि के व्याकरण का प्रभाव है। भाषा एवं भाव के क्षेत्र में कई स्थल पर कौटिल्य[1] के अर्थशास्त्र से यह स्मृतिग्रन्थ[2] मेल खाता है।

इसका वर्ण्य विषय इस प्रकार है—

(1) सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन

(2) धर्मतत्त्व का वर्णन, (क) ब्रह्मचर्य का वर्णन, (ख) कर्तव्याकर्त्तव्य का वर्णन, (ग) स्नातक विवाह एवं कर्म का वर्णन,

(3) गृहस्थों के पंचमहायज्ञ,

(4) गृहस्थाश्रम का वर्णन

(5) अभक्ष्य का वर्णन

(क) शुद्धि का वर्णन (ख) स्त्री धर्म का वर्णन,

(6) वानप्रस्थाश्रम का वर्णन एवं संन्यासाश्रम का वर्णन,

(7) राज्य शासन धर्म का वर्णन,

(8) राज्य धर्म दण्डविधान का वर्णन,

(9) शक्तिस्वरुपा स्त्री रक्षा का वर्णन,

(10) वर्णों के भेदों एवं विवेक का वर्णन (i) चतुर्वर्णो का वृत्ति वर्णन, (ii) वृत्ति जीविका का वर्णन,

---

1. अलब्धलाभार्था लब्धपरिरक्षिणी रक्षित विवर्धनी वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादिनी च। (कौटिल्य 7/1/4)

2. अलब्धमिच्छेद्दण्डेम लब्धं रक्षेदवेक्षया
रक्षितं वर्धयेद् वृद्धया वृद्धं पात्रेषु निक्षियेत्। (मनुस्मृति 7/10)

(11) धर्म के प्रतिरूपों का वर्णन, प्रायश्चित वर्णन, तप महत्त्वफल वर्णन,

(12) कर्मो के शुभाशुभ फल का वर्णन, धर्मनिर्णय कर्तृक पुरुषों का वर्णन

**महत्त्व**

इस प्रकार मनुस्मृति प्राचीन धर्मग्रन्थ का संक्षिप्त तथा परिवर्धित रूप है जो हिन्दुओं के आचार-विचार का प्रामाणिक प्रतिनिधित्त्व कर रहा है। इसका प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ा। चम्पा के एक अभिलेख में मनुस्मृति का श्लोक मिलता है।[1] बर्मा का धम्म थत् मनुस्मृति पर केन्द्रित है। इसी प्रकार जावा, श्याम, बालिद्वीप का कानून मनुस्मृति पर अवलम्बित है। मनुस्मृति पर जो मेधातिथि, नारायण, कुल्लूक, राघवानन्द, नन्दन, रामचन्द्र, मणिराम, गोविन्दराज एवं भारूचि आदि टीकाकारों के द्वारा अनेक टीकाऐं की गयी हैं वे इसकी लोकप्रियता और उत्कृष्टता की द्योतक हैं।

वस्तुतः मनुस्मृति[2] ही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ है जिनमें धर्म-अर्थ काम तथा मोक्ष चारो पुरुषार्थों का विशद प्रतिपादन किया गया है। यथा—

---

1. वितं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
   एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्।। (मनुस्मृति 2/136)
2. "ऋतुकालभिमानी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
   पर्ववर्णं ब्रजेच्चैनां तद्वतो रतिकाम्यया।।" (मनुस्मृति 4/1)

द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् के द्वारा प्रतिपादित काम का—इत्यादि वचनों से 'अक्लेशेन[1] शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम्' इत्यादि वचनों द्वारा प्रतिपादित अर्थ का 'यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।''

*तथा ऋतामृताभ्यां[4] जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।*
*सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन।।*
*कुसलधान्यको वा स्यात् कुम्भी धान्यक एव वा।*
*त्र्यहैहिको वाऽपि भवेदश्वस्तनिक एव वा।।*[2]

इत्यादि वचनों से नियमन करके आगे—*''सर्वामात्मानि संपश्येत् सच्चासच्च समाहितः। सर्वं ह्यात्मनि संपश्येन्नाधर्मे कुरुते मनः।।''*[3] से आरम्भकर *''एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माऽभ्येति परं पदम्।''*[4] वचनों से आत्मज्ञान रूप मोक्षसाधक धर्म का अधर्म निवृत्तिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें वर्णधर्म, आश्रम धर्म, वर्णाश्रम धर्म, गुणधर्म निमित्त धर्म तथा सामान्यधर्म इस प्रकार साङ्गोपाङ्ग धर्म का विशदरूप से प्रतिपादन किया गया है। यही कारण है कि आचार्यों ने तो इसकी सर्वश्रेष्ठता स्वीकार की ही है, साथ ही न्यायालयों में भी मनुस्मृति के आधार पर ही विधि (कानून) बनाकर

---

1. मनुस्मृति (4/3)
2. मनुस्मृति (4/4-7)
3. मनुस्मृति (12/118)
4. मनुस्मृति (12/125)

तदनुसार व्यवहार निर्णय किया जाता रहा है।

## महर्षि याज्ञवल्क्य एवं याज्ञवल्क्य स्मृति का परिचय

वैदिक ऋषि परम्परा में याज्ञवल्क्य का नाम प्राचीन ऋषि, दार्शनिक एवं योगीश्वर के रूप में स्मरण किया गया है। शुक्ल यजुर्वेद के उद्घोषक के रूप में इनका नाम आता है। वृहदारण्यकोपनिषद्[1] में याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों—कात्यायनी और मैत्रेयी का नाम मिलता है।

शतपथब्राह्मण[2], भागवत् पुराण, विष्णु पुराण तथा महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार इनके गुरु का नाम वैशम्पायन था। कभी गुरु-शिष्य में सम्बन्ध विच्छेद हुआ। सूर्योपासना के द्वारा याज्ञवल्क्य को शुक्ल यजुर्वेद, शतपथादि का श्रुतिज्ञान मिला। वृहदारण्यकउपनिषद् में विदेह अर्थात् जनक के गुरू के रूप में भी महर्षि याज्ञवल्क्य का विस्तृत वर्णन और बृहदारण्यक[3] के तृतीय अध्याय में यह उल्लिखित है कि विदेह जनक ने अपने यज्ञ में सभी प्रदेशों के ब्रह्म-ज्ञानियों को आमन्त्रित किया था। उपस्थित जनों से जनक ने सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण को चयन करने की दृष्टि से अपना मत प्रकट किया—

"ब्राह्मणा भगवत्तो यो वो ब्राह्मणः स स्ता गा उदजतामिति"

---

1. वृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/1
2. (क) शतपथ ब्राह्मण 14/9/4/33 (ख) भागवतपुराण 10/6/6/74 (ग) महाभारत शान्तिपर्व अध्याय 312।
3. वृहदारण्यकोपनिषद् 3/1

अर्थात् आदरणीय ब्राह्मणों! आप में से जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हो वह मेरी इन एक हजार गायों को ले जा सकता है। विदेह अर्थात् जनक की यह बात सुनकर सभी मौनहो गये थे।

कुछ समय पश्चात् महर्षि याज्ञवल्क्य ने एक सहस्र गायों को ले जाने को कहा। इस पर उपस्थित जन क्रुद्ध हुए और याज्ञवल्क्य का उन सभी के साथ शास्त्रार्थ (ब्रह्म विषयक) हुआ। इस शास्त्रार्थ का स्वरूप वस्तुतः जल्प था। जल्प का लक्षण—उचित अनुचित का विवेक न रहना।[1]

याज्ञवल्क्य भी इस अपकर्ष से रहित न रह सके। उन्हें भी समय-समय पर त्रास प्रदर्शन, शाप-दान आदि करना पड़ा। इन्हीं अपकर्षो के कारण विद्यारण्य स्वामी ने अपने जीव-मुक्ति विवेक में याज्ञवल्क्य के विषय में यह बात कही है—तस्मात् किम्बहुना? ब्रह्मविदां याज्ञवल्क्यादीनामस्त्येव मलिन वासनाऽनुवृत्तिः।[2]

बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य एक बड़े दार्शनिक के रूप में अपनी दार्शनिक मनवाली पत्नी मैत्रेयी से ब्रह्म एवं अमरता के बारे में बातें करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

---

1. अस्ति हि याज्ञवल्क्यस्य...... भुयान् विद्यामदः। तै सर्वैरपि विजिगीषुकथायाम्प्रवृत्तत्त्वात्।
   जीवनमुक्ति विवेक पृष्ठ संख्या 157 (आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला)
   (याज्ञवल्क्यस्मृति की भूमिका के साभार, पृष्ठ संख्या 13)
2. याज्ञवल्क्य स्मृति भूमिका पृष्ठ संख्या 13।

पाणिनिसूत्र के वार्तिक में कात्यायन ने याज्ञवल्क्य के ब्राह्मणों की चर्चा की है। याज्ञवल्क्यस्मृति में आया है कि इसके लेखक चाहे जो रहे हो, वे अरण्यक के प्रणेता, प्राचीन ऋषि दार्शनिक एवं योगी द्वारा प्रणीत हुई थी। याज्ञवल्क्य स्मृति शुक्ल यजुर्वेद से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।

याज्ञवल्क्यस्मृति[1] में लिखा है कि "बृहदारण्यक का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जो मैंने सूर्य देवता से पाया है और योग की इच्छा रखने वाले को मेरा रचा हुआ योगशास्त्र जानना चाहिए।" इन बातों से निष्कर्ष यही निकला कि याज्ञवल्क्य स्मृति के लेखक ने याज्ञवल्क्य स्मृति को अधिक महत्त्व प्रदान किया है, तथा यह स्मृति एक प्राचीन ऋषि एवं योगी द्वारा प्रणीत है।

शतपथब्राह्मण[2] में याज्ञवल्क्य और शाकल्य के शास्त्रार्थ—विवाद का वर्णन किया गया है, जिसमें देवताओं की संख्या के विषय में विचार किया गया है। और अन्त में याज्ञवल्क्य के एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को स्वीकारा गया है, परन्तु याज्ञवल्क्य अपने प्रतिद्वन्द्वी शाकल्य को उनकी हठधर्मिता के कारण शीघ्र मृत्यु प्राप्त करने का शाप देते हैं। याज्ञवल्क्य को अनेक यज्ञों का उद्घोषक माना गया है। शतपथब्राह्मण[3] के अतरिक्त याज्ञवल्क्य

---

1. ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्
   योगशास्त्रं च मत्प्रनोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता।। (याज्ञवल्क्य स्मृति 3/110)
2. शतपथ ब्राह्मण 11/6/3।
3. मैकडानल एवं कीथ वैदिक इण्डेक्स भाग-2 पृष्ठ संख्या 189।

का नाम किसी अन्य वैदिक ग्रन्थ में नहीं आता। शाङ्खायन आरण्यक में दो स्थानों पर याज्ञवल्क्य का वर्णन है। परन्तु संस्कृत के विद्वानों ने उन अंशों को शतपथ ब्राह्मण से उद्धृत माना है।

याज्ञवल्क्य शुक्ल यजुर्वेद, शतपथ ब्राह्मण तथा वृहदारण्यकोपनिषद् के रचयिता थे। इस विषय में प्रायः सन्देह व्यक्त किया गया है। शुक्ल यजुर्वेद की संहिता वाजसनेय संहिता कहलाती है और यह नाम याज्ञवल्क्य की उपाधि वाजसनेय के आधार पर पड़ा है। यदि याज्ञवल्क्य इस संहिता के लेखक न भी हो, फिर भी इन्हें संकलनकर्ता मानने में कोई आश्चर्य नहीं है।

इसी प्रकार शतपथ[1] ब्राह्मण के भी अधिक अंश सीधे याज्ञवल्क्य रचित है और शेष अंश को अधिकारिक रूप देने के लिए उनका नाम सम्बद्ध कर दिया गया है, ऐसी सम्भावना की जाती है। अतः जैसा कि जे0 हाउसन ने कहा है कि यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि शतपथ ब्राह्मण की रचना उनके अधीक्षण में या उनके शिष्यों द्वारा की गई थी।

शतपथ ब्राह्मण से सम्बद्ध बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य एक यज्ञक्रिया के आचार्य की अपेक्षा दार्शनिक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। उस उपनिषद् में याज्ञवल्कीय काण्ड का अंश विशेष रूप में उल्लिखित है। जिसमें याज्ञवल्क्य की प्रशंसा है और उनके आत्मविषयक दार्शनिक

---

1. ए0 क्लासिक डिक्शनरी ऑफ हिन्दूमाइथोलोजी पृष्ठ संख्या 37।

विचारों का संग्रह है। इस उपनिषद् में याज्ञवल्क्य का जिस प्रकार उल्लेख किया गया है उससे स्पष्ट है कि यह अकेले याज्ञवल्क्य की रचना न होकर उनके शिष्यों और अनुयायियों द्वारा भी रचित है।

विण्टरनित्स्[1] का इस विषय में मत हैं कि स्वयं बृहदारण्यकोपनिषद् में अन्य आचार्यों का उल्लेख है। इसके अलावा यज्ञिक एवं तत्त्व चिंतन विषयक इतने विभिन्न मतों को याज्ञवल्क्य से सम्बद्ध किया गया है कि उन्हें इन सबका उद्घोषक स्वीकारना कठिन लगता हैं।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मा के विषय में तथा अमरता के बारे में जो व्याख्यान दिए हैं, वे भारतीय दर्शन में उत्कृष्ट कोटि के परिचायक हैं। इस उपनिषद के तीसरे और चौथे अध्यायों में सभी ब्राह्मणों में याज्ञवल्क्य किसी न किसी आचार्य से दार्शनिक विवेचन करते हुए दिखाई पड़ते हैं। जैसे जनक, अश्वल, आर्तभाग भुज्यु, कोहल, गार्गी, आरूणि या शाकल्य से। महाभारत में याज्ञवल्क्य युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर उपस्थित दिखाये गये हैं, याज्ञवल्क्य के स्थितिकाल की दृष्टि से यह कुछ विचित्र प्रतीत होता है।

याज्ञवल्क्य रचित एक योगशास्त्र का उल्लेख कूर्मपुराण में है और विण्टरनित्स का विचार है कि यह याज्ञवल्क्य गीता का निर्देश करता है, जिसमें योग की व्याख्या की गयी है। प्रश्न उठता है कि क्या वैदिक

---

1. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर भाग-1 पृष्ठ 246 टिप्पणी।

परम्परा के ऋषि याज्ञवल्क्य ही प्रस्तुत याज्ञवल्क्यस्मृति के रचयिता हैं? प्रश्न सकारण है।

वैदिकग्रन्थों की भाषा-शैली से स्मृति की भाषा शैली नितान्त भिन्न है। इसमें समय की दृष्टि से समानता नहीं है। इसी तथ्य को दृष्टिगत करके मिताक्षरा टीका के लेखक विज्ञानेश्वर ने स्पष्ट संकेत किया है कि याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य ने धर्मशास्त्र को संक्षिप्त करके वर्तमान रूप प्रदान किया है। परन्तु स्वयं याज्ञवल्क्यस्मृति में इस बात को उल्लिखित किया गया है कि इस स्मृति के प्रणेता आरण्यक अर्थात् बृहदारण्यकोपनिषद् के रचयिता हैं और उन्हें सूर्य ने ज्ञान प्रदान किया था। वे योगी थे।

याज्ञवल्क्य के साथ उस स्मृति का सम्भवतः इसे महत्त्व प्रदान करने के लिए जोड़ा गया है। किन्तु एक निर्विवाद सत्य है और वह यह है कि शुक्ल यजुर्वेद की परम्परा से इस स्मृति का सम्बन्ध है। ''बृहदारण्यकोपनिषद्' में याज्ञवल्क्य को उद्दालक आरुणि का शिष्य बताया गया है।''[1]

राजा जनक के साथ इनके सम्बन्धों के कारण इन्हें विदेह का निवासी कहते हैं। शतपथ[2] ब्राह्मण के अन्त में प्रस्तुत आचार्यों की सूची के अनुसार याज्ञवल्क्य का स्थान पैतालीसवाँ है और उसमें भी उनके गुरू का नाम उद्दालक आरुणि है।

---

1. बृहदाख्यकोपनिषद् 6/3/15।
2. शतपथ ब्राह्मण 14/9/4/29।

जहाँ तक याज्ञवल्क्य के समय का प्रश्न है वे परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों के काल के ऋषि हैं। किसी भी स्थिति में वे पाणिनि के पहले के हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति—परिचय—स्मृतिग्रन्थों में याज्ञवल्क्यस्मृति का स्थान मनुस्मृति के बाद द्वितीय स्थान पर है। कुछ दृष्टियों से तो याज्ञवल्क्य स्मृति का मनुस्मृति की अपेक्षा अधिक व्यवहारिक महत्त्व है। याज्ञवल्क्य स्मृति मनुस्मृति के बाद की रचना है। यह बात विषय वस्तु के कारण स्पष्ट है ही और भी अनेक विशिष्ट तथ्यों के कारण स्पष्ट है, क्योंकि गणेश और ग्रहों की पूजा, दान से सम्बद्ध कर्मों का ताम्रपत्र पर लेख और मठों के संगठन का वर्णन आदि इस स्मृति में पाया जाता है जबकि उक्त बातें मनुस्मृति में नहीं पायी जाती है। इसमें बौद्धमत का खण्डन किया गया है।

याज्ञवल्क्य स्मृति और मनुस्मृति के तुलनात्मक अध्ययन के विषय में बेबर ने निम्न विचार प्रकट किये हैं।

"जो विषय दोनों में पाये जाते हैं उनमें भी हम याज्ञवल्क्य में अधिक सूक्ष्मता और स्पष्टता पाते हैं और विशिष्ट उदाहरणों में जहाँ दोनों में ठोस अन्तर दिखाई पड़ता है, याज्ञवल्क्य का दृष्टिकोण स्पष्टतः बाद के समय का है।"[1]

---

1. अनु0 उमेश चन्द्र पाण्डेय, भारतीय साहित्य 278 (पृ0)।

मनु ने दिव्यों (प्रमाणों) में अग्नि और जल का वर्णन किया है, जबकि याज्ञवल्क्य ने पाँच दिव्यों का वर्णन किया है।

दार्शनिक विषयों के विवेचन में याज्ञवल्क्य और मनुस्मृति में एकरुपता है किन्तु भ्रूणविज्ञान याज्ञवल्क्य स्मृति में नवीनतम विषय है। जिसे कीथ ने किसी आयुर्वेदिक ग्रन्थ से लिया हुआ माना है। याज्ञवल्क्य स्मृति मनुस्मृति की अपेक्षा सुसंगठित और संक्षिप्त है।

प्रो0 काणे ने स्पष्ट कहा है कि याज्ञवल्क्य स्मृतिकार के समक्ष मनुस्मृति रही होगी क्योंकि कई स्थानों पर दोनों की शब्दावली समान है। याज्ञवल्क्य स्मृति की भाषा पाणिनि के नियमों का पालन करती है। परन्तु कहीं-कहीं इसकी भाषा में भी व्याकरण के नियमों के अपवाद पाये जाते हैं। प्राचीन साहित्य से याज्ञवल्क्य स्मृति के सम्बन्ध—

वेद, वेदाङ्गों, आरण्यकों, उपनिषदों, पुराणेतिहास, नाराशंसी गाथाओं, के साथ-साथ याज्ञवल्क्य द्वारा प्रणीत ग्रन्थ बृहदारण्यक एवं योगशास्त्र का वर्णन याज्ञवल्क्यस्मृति में है।

इस स्मृति के आचाराध्याय में पुराण, न्याय मीमांसा, धर्मशास्त्र और अङ्गों सहित चारो वेद, चतुर्दश विद्या और धर्म का स्थान वर्णित है।[1] साथ ही जो पूर्ववर्ती साहित्य के प्रणेता स्वयं को छोड़कर 19 धर्मशास्त्रों

---

1. पुराणन्याय मीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रितः ।
   वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।। (याज्ञवल्क्य स्मृति)

के नाम का उल्लेख याज्ञवल्क्यस्मृति में हुआ है।[1]

याज्ञवल्क्यस्मृति में आन्वीक्षिकी (आत्म विद्या) योग क्षेमोपयोगी (दण्डनीति) कृषि वाणिज्य (वार्ता) आदि का वर्णन किया गया है।[2]

याज्ञवल्क्य ने सूत्रों एवं भाष्यों की ओर भी संकेत किया है, किन्तु कहीं भी किसी लेखक का नाम नहीं आता है। उन्होंने सम्भवतः पतञ्जलि के भाष्य की ओर संकेत किया है। याज्ञवल्क्य ने विष्णु धर्मशास्त्र की बहुत सी बातें मान ली हैं। इनकी स्मृति एवं कौटिल्य अर्थशास्त्र में पर्याप्त समानता दिखाई पड़ती है। इनकी स्मृति के बहुत से श्लोक मनु के कथन में समानता रखते हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य मनु की बहुत बातें नहीं मानते और कई बातों एवं प्रसंगों में वे मनु से बहुत बाद के विचारक ठहरते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में मनुस्मृति से निम्न बातों में भिन्नताएं पायी जाती हैं—

(1) याज्ञवल्क्य[3] ब्राह्मण को शूद्र कन्या से विवाह करने का आदेश नहीं करते हैं, किन्तु मनु करते हैं।

(2) याज्ञवल्क्य[4] ने नियोग का वर्णन किया है और इसकी भर्त्सना नहीं

---

1. याज्ञवल्क्यस्मृति 3-4।
2. स्वरन्ध्र गोप्ताऽऽन्वीक्षिवयां दण्डनीत्यां तथैव च।
   विनीतस्त्वध वार्तायां त्रययां चैव नराधिपः।। याज्ञवल्क्य स्मृ0 1/311।
3. यज्ञस्थ ऋत्विजे दैव आदायार्षस्तु गोद्धयम्।
   चतुर्दश प्रथमजः, पुनात्युत्तरजश्च षट्।। याज्ञवल्क्य—1/59।
4. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/68-69

की है किन्तु मनु ने की है।

*अपुत्रां गुर्वनज्ञातौ देवरः पुत्रकाम्यया।*

*सपिण्डो वा सगोत्रो वा धृताभ्यक्त ऋतावियात्।।*

*आ गर्भसंभवाद् गच्छेत्पतितस्त्वन्यथा भवेत्।*

*अनेन विधिना जातः क्षेत्रजोऽस्य भवेत्सुतः।।*

याज्ञवल्क्य स्मृति— 1/68-69

(3) याज्ञवल्क्य[1] ने 18 व्यवहार पदों के नाम नहीं लिए हैं, किन्तु मनु ने 18 व्यवहार पदों की परिभाषा दी है।

(4) याज्ञवल्क्य[2] ने पुत्रविहीन पुरुष की विधवा पत्नी के दाय भाग के विषय में स्पष्ट लिखा है किन्तु मनु ने विधवा को सर्वोपरि स्थान पर नहीं रखा है।

(5) याज्ञवल्क्य[3] ने जुए की भर्त्सना नहीं की है, किन्तु मनु ने की है।

*स सम्यवपालितो दयाद्राज्ञे भागं यथाकृतम्।*

*जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे दद्यात्सत्यं वचः क्षमी।।*

(याज्ञवल्क्यस्मृति 2/200)

याज्ञवल्क्य ने मानव गृह्यसूत्र से विनायक शान्ति की बातें ले ली

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/5
2. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/86
3. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/200

हैं, किन्तु विनायक की अन्य उपाधियाँ या नाम नहीं लिए हैं। जैसे मित, सम्मित, शालकटेकर एवं कूष्माण्ड राजपुत्र।

याज्ञवल्क्यस्मृति का शुक्लयजुर्वेद एवं उसके साहित्य से गहरा सम्बन्ध है। इस स्मृति के बहुत से उद्धृत मन्त्र ऋग्वेद एवं वाजसनेयी संहिता में पाये जाते हैं। कात्यायन के श्राद्ध कल्प से भी इस स्मृति की कुछ बातें मिलती हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य नाम वाली तीन अन्य स्मृतियाँ हैं—

(1) वृद्ध याज्ञवल्क्य

(2) योग याज्ञवल्क्य

(3) बृहद् याज्ञवल्क्य

ये तीनों तुलनात्मक दृष्टि से याज्ञवल्क्य स्मृति से बहुत प्राचीन है और विद्वानों का विचार है कि याज्ञवल्क्य स्मृति का मुख्य भाग 700 ई0 से अपरिवर्तित चला आ रहा है।[1]

**याज्ञवल्क्यस्मृति का समय**—याज्ञवल्क्यस्मृति के समय के विषय में बेबर का मत है—इस रचना के लिए प्राचीनतम सीमा दूसरी शताब्दी ई0 के आस-पास की मानी जाती है। क्योंकि इसमें मुद्रा के अर्थ में 'नाणक' शब्द का प्रयोग है जोकि कनिष्क के सिक्कों से लिया गया है, जिसने 78 ई0 में शासन किया था। दूसरी ओर से समय की निचली सीमा छठी

---

1. उमेश चन्द्र पाण्डेय भारतीय साहित्य पृष्ठ संख्या 278।

शताब्दी या सातवीं शताब्दी रखी जा सकती है, क्योंकि विलसन के अनुसार इस स्मृति के अंशों को भारत के अनेक भागों में शिलालेखों में उल्लिखित किया गया है।[1]

याकोबी ने याज्ञवल्क्य स्मृति का समय बारह ग्रहों की संख्या के आधार पर चतुर्थ शताब्दी ई० के बाद माना है।

प्रो० एस० सी० विद्यार्णव[2] के अनुसार याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना का काल 150 और 200 ई० के मध्य माना जाता है क्योंकि इसके प्रारम्भ में मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत आदि स्मृतियों के नाम दिए गये हैं। इससे स्पष्ट है कि इन सब स्मृतियों को देखकर सबका सार लेकर याज्ञवल्क्य ने याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना की।

प्रो० काणे[3] ने याज्ञवल्क्य स्मृति के समय के विषय में जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनके अनुसार इस स्मृति के समय की निचली सीमा नवीं शताब्दी के बाद की नहीं हो सकती है। इसके निम्न कारण हैं—

(1) टीकाकार विश्वरूप नवीं शताब्दी के हैं।

(2) विश्वरूप ने अपने पहले कई भाष्यकारों का उल्लेख किया हैं, जिन्होंने याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीकाएं लिखी हैं।

---

1. (i) प्रो० काणे धर्मशास्त्र का इति० पृ० 5
   (ii) याज्ञवल्क्य स्मृति—2/240-241
2. परमात्माशरण, प्राचीन भारत में राजनैतिक विचार एवं संस्थायें पृष्ठ संख्या 203-204
3. धर्मशास्त्र का इति० पृ० 53

(3) शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में याज्ञवल्क्यस्मृति के तीसरे अध्याय के दो सौ छब्बीसवें श्लोक का निर्देश किया है।

अतः याज्ञवल्क्यस्मृति को हम ई0 पू0 पहली शताब्दी तथा ईसा के बाद की तीसरी शताब्दी के बीच का मान सकते हैं।

**याज्ञवल्क्यस्मृति की श्लोक संख्या**—याज्ञवल्क्यस्मृति की श्लोक संख्या के विषय में विश्वरूपाचार्य, विज्ञानेश्वर तथा अपरादित्य का एक मत नहीं हैं।

(1) विश्वरूप के अनुसार याज्ञवल्क्यस्मृति में 1032 श्लोक हैं।

(2) विज्ञानेश्वर के अनुसार याज्ञवल्क्यस्मृति में 1009 श्लोक हैं तथा

(3) अपरादित्य के अनुसार याज्ञवल्क्यस्मृति में 1006 श्लोक हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति की व्याख्याओं में अनुपलब्ध परन्तु कुछ मूल पुस्तकों में उपलब्ध "श्लोकानामपि विज्ञेयं सहस्रं चतुरन्तरम्" के आधार पर मूल श्लोकों की संख्या 1004 प्रतीत होती है। शूलपाणि ने याज्ञवल्क्यस्मृति में 1010 श्लोक मानते हैं।

## याज्ञवल्क्यस्मृति में वर्णित विषय

याज्ञवल्क्यस्मृति का आरम्भ मुनियों के प्रश्न से होता है। योगीश्वर याज्ञवल्क्य मिथिला में निवास कर रहे थे—ऋषि मुनियों ने उनसे प्रार्थना की कि "आप हमें लोगों को वर्णो, आश्रमों, तथा अनुलोम, प्रतिलोम,

संकर जातियों का धर्म पूरी तरह समझाइये।''[1] तथा याज्ञवल्क्य ने उस देश में किये जाने वाले धर्म का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि जिस देश में काले मृग स्वच्छन्द विचरण करते हैं। उस देश के धर्म का वर्णन करता हूँ।[2]

इस उपक्रम के बाद याज्ञवल्क्य स्मृति आरम्भ होती है और बीच-बीच में पृच्छालु मुनिगण शङ्का करते हैं, जिनका समाधान स्थान स्थान पर याज्ञवल्क्य ने किया है। यह स्मृति लगभग समान विस्तार के तीन अध्यायों में विभक्त हैं—

(1) आचाराध्याय

(2) व्यवहाराध्याय

(3) प्रायश्चित्ताध्याय

**(1) आचाराध्याय**—याज्ञवल्क्य ने आचाराध्याय में मानव के हृदय को शुद्ध रखने के लिए पवित्र नियमों का समाज के अनुकूल वर्णन किया है—

''आचारः परमोधर्मः'' आचार को याज्ञवल्क्य ने सबसे बड़ा धर्म माना है। आचारण के आधार पर भी अच्छे समाज (सुसभ्य समाज) और

---

1. 'योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयो बुवन्।
वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः।। याज्ञवल्क्य स्मृति 1/1

2. यस्मिनदेशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत। याज्ञवल्क्य स्मृति0 1/2 का उत्तरार्ध।

सामाजिक स्थिरता का विकास होता है। आचार-शास्त्र सामाजिक नियमों के परिपालन की शिक्षा देता हुआ व्यक्ति और समाज के चारित्रिक बल का उन्नयन करता है। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने आचार संहिता पर सर्वप्रथम विचार किया है।

श्रुति, स्मृति, धर्मशास्त्र, सदाचार, अच्छे सिद्धान्त, पवित्र विचार, उदारभाव, परोपकारी आदर्श एवं अच्छे प्रकार सोचे हुए संकल्प से उत्पन्न हुई इच्छा इन सबको याज्ञवल्क्य ने धर्म का नाम दिया है।[1] धार्मिक भावों कल्याणकारी भावनाओं का, सामाजिक जीवन विकास की दृष्टि से धर्म को उत्तम मानकर विस्तृत रूप में ग्रहण किया गया है।

आचार वास्तव में मनुष्य को सामाजिक नियमों का परिपालन एवं समाज में सुखपूर्वक स्वयं जीवित रहने और दूसरों को जीवन जीने की व्यवस्था करता है। इन्हीं उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर याज्ञवल्क्य ने आचरण की पवित्रता और प्राथमिकता पर विशेष ध्यान दिया।

याज्ञवल्क्य ने आचाराध्याय में चौदह विद्याएँ एवं धर्म के उपादान, संस्कार (जन्म से विवाह तक) उपनयन और उसका समय, ब्रह्मचारी के कर्तव्य एवं निषिद्ध कर्म, विवाह, विवाह की योग्यता सपिण्ड सम्बन्ध का नियम, अन्तर्जातीय विवाह, आठ प्रकार के विवाह, क्षेत्रज पुत्र और

---

1. श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।। याज्ञवल्क्य स्मृति 1/7

पुर्नविवाह, गृहस्थ के कर्तव्य, पञ्च महायज्ञ, अतिथि सत्कार, मधुपर्क, चारों वर्णो के कर्तव्य, आचार के दस नियम (सिद्धान्त), गृहस्थ की जीवन पद्धति, स्नातक के कर्तव्य, अनध्याय, भक्ष्याभक्ष्य का नियम, पवित्रीकरण के नियम, दान के नियम, पात्र एवं वस्तुएँ, श्राद्ध के नियम, इसका समय श्राद्ध में बुलाए जाने योग्य ब्राह्मण, श्राद्ध की विधि एवं दक्षिणा, ग्रहशान्ति, राजधर्म और दण्डादि का वर्णन किया है।

समाज की संरचना को सुदृढ़ और उन्नत करने के उद्देश्य से ही सामाजिक मूलभूत सिद्धान्तों का आचार प्रकरण में अति सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया गया है। समाज के विकास में संस्कारों (विवाह संस्कारादि) का गौरवपूर्ण स्थान है।

जिस प्रकार अच्छे बीज और अच्छी धरती के रहने पर ही पृथ्वी से सुन्दर और उच्चकोटि के अन्न की कामना की जाती है, ठीक उसी प्रकार अच्छे समाज की स्थापना, उन्नति और विकास में विवाह सम्बन्ध को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

**(2) व्यवहाराध्याय**—याज्ञवल्क्यस्मृति में व्यवहाराध्याय में सामाजिक नियमों को व्यावहारिक रूप देने की व्यवस्था दी गई है। सामाजिक व्यवहार को चलाने के लिए सिद्धान्त और व्यवहार के दो पक्षों को माना जाता है। कुछ ऐसी भी बातें हैं। जो केवल सिद्धान्त के ही रूप में रह जाती है। किन्तु याज्ञवल्क्य के मतानुसार सिद्धान्त के रूप में यदि नियम पुस्तकों में बने रहते हैं तो उनका समाज को केवल आदर्श रूप दृष्टिगोचर होता

है और इससे समाज को क्या लाभ? इसकी अपेक्षा तो नियमों को व्यवहारिक रूप देने में ही समाज का लाभ होगा और सामाजिक उन सिद्धान्तों के अनुरूप आचरण करने का प्रयास करेंगे। याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में उस युग के सामाजिक पर्यावरण का विस्तृत विवेचन करते हुए सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने वाले को व्यवहार के माध्यम से दण्ड देने की व्यवस्था की है। याज्ञवल्क्य स्मृति का अध्ययन करने से उस युग की सामाजिक व्यवस्था का समुचित रूप से वर्णन मिलता है।

व्यवहार प्रकरण में सामाजिक नियमों का परिपालन कराने के लिए शासक को भी आवश्यक माना गया है। प्रजाजनों में अर्थात् सामाजिकों में पारस्परिक सम्बन्धों में कटुता, मतभेद हो जाना भी स्वाभाविक ही है। इस प्रकार के मतभेदों को दूर करने के उपाय को ही 'व्यवहार' नाम दिया गया है।

इस व्यवहार को देखने एवं उसका सही-सही निर्णय करने और न्याय देने के लिए ही राजा या शासक को निष्पक्ष व्यवहार करने के लिए सर्वोच्च एवं आवश्यक माना गया है। याज्ञवल्क्य ने राजा को व्यवहार चलाने के लिए आवश्यक मानते हुए प्रजा (समाज) का परिपालन करना, उसका परमधर्म (कर्तव्य) माना है।

याज्ञवल्क्य ने याज्ञवल्क्य स्मृति के व्यवहाराध्याय में न्याय करने वाले व्यक्ति, न्याय करने वाली परिषद् के सदस्य, जमानत, ब्याज की दर, ऋण बन्धक के प्रकार, साक्षी की पात्रता, शपथ, लेखप्रमाण दिव्यधन

के विभाजन के नियम, स्त्रीधन, स्वामी और भृत्य के विवाद, दास्य कर्म के नियम, मजदूरी, जुआ, मानहानि और व्यभिचार आदि जैसे अपराधों का दण्डादि विषयों पर विचार किया है।

"व्यवहार" की परिभाषा समझाते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा है कि— "किसी अन्य व्यक्ति के विरोध करने पर अपने सम्बन्ध की स्थापना करना अथवा अपने अधिकार का वर्णन करना ही व्यवहार कहलाता है।"

याज्ञवल्क्य ने व्यक्ति की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को दृष्टि में रखते हुए, समाज कल्याण की भावना को प्रधानता देकर केवल राजा की सर्वोच्च सत्ता मानकर एकाकी व्यवहार देखने की अनुमति प्रदान नहीं की, अपितु मानवीय दुर्बलताओं को ध्यान में रखते हुए शक्ति सम्पन्न सत्तायुक्त राजा को निर्देश दिया है कि वह एकाकी क्रोध लोभ से युक्त व्यवहार को न देखे अपितु "लोभ एवं क्रोध के विचारों को छोड़ता हुआ विद्वान ब्राह्मणों के साथ धर्मशास्त्रों (स्मृतियों) के अनुसार व्यवहारों को देखे अर्थात् मुकदमों पर विचार करें।"[1]

याज्ञवल्क्य ने सामाजिक व्यवस्था को सुस्थिर करने के लिए और प्रजाजनों सामाजिकों के मनों में बहुजन सम्मत निष्कपट न्याय की स्थापना के लिए ही राजा के साथ, व्यवहार के ज्ञाता विद्वान् मन्त्री आदि का होना अत्यावश्यक माना है। पूर्ण स्वतन्त्रता के कारण भी व्यक्ति प्रमाद-

---

1. व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह।
   धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः।। याज्ञवल्क्यस्मृति 2/1।

वश नियमों की अवहेलना कर बैठता है। अतः धर्मशास्त्रवेत्ता याज्ञवल्क्य ने जनहित के लिए इस सिद्धान्त को महत्त्व दिया है—

अशक्तों की शक्तिशालियों से, सज्जनों की दुष्टों से सुरक्षा करने के उद्देश्य से ही सभी को अधिकारों का समान उपभोग का अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से याज्ञवल्क्य ने सामाजिक उन्नति के लिए व्यवहार को महत्त्व दिया है।

व्यवहार के माध्यम से ही समाज में होने वाले लेन-देन, सत्त्व के अधिकार और मिथ्या विवादों का निर्णय होता है। व्यवहार के द्वारा निर्णीत विवादों का योग्य, निष्पक्ष, निष्पाप और सात्त्विक विचार-धारा के न्यायकर्त्ताओं के द्वारा जो न्याय हो जाता है, वह सभी को मान्य एवं सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने में सहायक सिद्ध होता है। यदि समाज में न्याय को जीवित ही न रहने देते तो समाज के विकास एवं स्थिरता में अत्यधिक बाधा उपस्थित हो जाती।

याज्ञवल्क्य ने इन सभी समस्याओं को देखते हुए उनके समाधान के लिए व्यवहार प्रकरण को महत्त्व दिया है। व्यवहाराध्याय में सभी छोटी से छोटी सामाजिक कठिनाइयों को हल करने का उपाय बताया गया है। व्यवहार प्रकरण में सामाजिक बुराइयों विवादों को धार्मिक दृष्टि से और सामाजिक दण्ड विधि द्वारा हल करने का प्रावधान किया गया है।

स्मृतिकारों के मत में समाज में लोग निश्चिन्त और निर्भीक होकर सामाजिक नियमों का परिपालन करते रहें। अतः बुरे कार्य करने वाले

को दण्ड देकर भी लोगों को बुरे कार्यों को न करने की शिक्षा दी जाती थी। प्रायः सन्तति, सम्पत्ति एवं अर्थ आदि के कारण ही अधिक विवाद उठा करते हैं। उन विवादों का निराकरण करना ही व्यवहार प्रकरण का प्रमुख उद्देश्य रहा है।

व्यवहार का निर्णय करने वाले निर्णायक अपने विषय के विशेषज्ञ, निःस्वार्थ, चरित्रवान् और शास्त्रज्ञाता होते थे। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने व्यवहाराध्याय में 25 प्रकरणों का वर्णन किया है।

**(3) प्रायश्चित्ताध्याय**—याज्ञवल्क्य ने सामाजिक संरचना की रक्षा के लिए विभिन्न रूपों में नियमों का प्रतिपादन किया है। सामाजिक व्यवस्था को उन्नत और सुसंगठित रखने में याज्ञवल्क्य स्मृति का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

प्रायश्चित अध्याय का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानी अथवा अज्ञानी सामाजिक व्यक्ति से अपनी आत्मिक धारणा के विरुद्ध ऐसा कार्य हो जाता है जिससे व्यक्ति अपने मन में विभिन्न प्रकार के विचारों द्वारा दुःख का अनुभव करता है। उस दुःख को प्रायश्चित के माध्यम से दूर किया जा सकता है। मनुष्य समाज के विरुद्ध किये गये बुरे कार्य के कारण दुःखित होता है और सोचता है कि मैं भविष्य में इस कार्य को नहीं करूँगा/करूँगी।

यहाँ तक कि मानव को अपने किए हुए बुरे कार्यों के कारण मन ही मन अत्यधिक व्यथा होती रहती है, जिसे वह सभी के सम्मुख व्यक्त

भी नहीं करना चाहता। मानवीय दुर्बलता एवं अज्ञान के कारण कई बार मनुष्य बड़े भयंकर से भयंकर बुरे कृत्य कर जाता है और जिन्हें न समाज का व्यक्ति और न ही शासन का व्यक्ति ही जानता है, किन्तु बुरे कृत्यों वाला व्यक्ति दिन-रात अपने जघन्य कृत्यों पर दुःखी होता हुआ चिन्तित रहता है। याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार के कार्यों को करने वाले व्यक्तियों को शान्ति देने के लिए एकमात्र उपाय अपने चिरकाल के चिन्तन द्वारा प्रायश्चित्त बताया है।

भारतीय पुर्नजन्म कर्म के सिद्धान्त स्वर्ग-नरक एवं मन के दुःख पर विश्वास करते है। संस्कारों पर आस्था रखने वाला व्यक्ति संस्कारहीन रहकर सुख का अनुभव नहीं कर सकता। प्रायश्चित के आधार पर संसार में यह देखा जाता है कि जघन्य कृत्य करने वाला अपने कुकृत्यों पर दुःखी होकर एक उच्च सुधारक एवं महान व्यक्ति बन जाता है।

वस्तुतः प्रायश्चित्त के द्वारा मानव के मन में शान्ति प्राप्त की एक नवीन लहर दौड़ती है। और उसकी अन्तरात्मा में हल्कापन आत्मिक शान्ति और सुखानुभूति होती है। याज्ञवल्क्य ने प्रायश्चित्त को सद्यः फलदाता माना है।

याज्ञवल्क्य ने प्रायश्चित्ताध्याय में अशौच के नियम, मृत के संस्कार तर्पण, जन्म विषयक अपवित्रता, विपत्ति में आचार और जीविका निर्वाह, वानप्रस्थ के नियम, मति के नियम, गर्भ में शिशु का विचार और मानव शरीर की रचना, आत्मा के जन्म, योगी की अमरता का रहस्य, आत्मज्ञान

के साधन रोग, व्याधियों, नरक, महापातक उपपातक और इसके प्रायश्चित्त, दस यम एवं नियम, सान्तपन, महासान्तपन, तप्तकृच्छ, पराक चन्द्रायण एवं अन्य व्रत आदि का वर्णन छह प्रकरणों में किया है।

याज्ञवल्क्य ने कुछ ऐसी सामाजिक परिस्थितियों का भी विवेचन किया है जो सामाजिक पर्यावरण को अशुद्ध कर सकती है। भारतीय समाज में जन्म-मरण[1] का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। परिवार में किसी के जन्म लेने पर प्रसन्नता अवश्य होती है। किन्तु बालक और प्रसव देने वाली माता की सुरक्षा और सामाजिक पवित्रता के लिए 'अशौच' शब्द का प्रयोग किया है। जन्म के समय से 10 दिन तक अवधि को 'सूतक' नाम से पुकार कर माता को सभी धार्मिक कार्यों को करना निषिद्ध माना है। उसी प्रकार मरण के समय तीन दिन या दस दिन की अवधि को 'पातक' नाम से अशौच सम्बोधित किया है।

याज्ञवल्क्य ने माना है कि "बालक के जन्म लेने पर 'सूतक' माता-पिता को ही होता है, अन्य सपिण्डों (कुलवालों) को नहीं होता है क्योंकि उसमें माता का रूधिर दिखाई देने से निश्चित रूप में उसे ही सूतक होता है। वह दिन (दस दिन) दान, पुण्य के लिए पवित्र नहीं होता क्योंकि वह पूर्व पुरुष ही (अर्थात् पितर ही) पुत्र के रूप में जन्म लेता है।

---

1. त्रिरात्रं दशरात्रं वा शावमाशौचमिष्यते।
   उनद्विवर्ष उभयोः सूतकं मातुरेव हि।। याज्ञवल्क्य स्मृति 3/16

याज्ञवल्क्य[1] ने बुरे कृत्यों का इस प्रकार फल बताया है—ब्रह्मज्ञाता की हत्या करने वाले राजयक्ष्मा के रोगी होते हैं। सुरापान करने वाले के दाँत प्राकृतिक रूप से काले होते हैं, सोना चुराने वाले के नख खराब होते हैं और गुरूपत्नी के साथ व्यभिचार करने वाला कोढ़ी हो जाता है। इस प्रकार के महापातकियों के साथ जो निवास करता है वह भी उन्हीं के समान महापातकी होता है।

इस प्रकार के कार्य करने वाले व्यक्तियों को सामाजिक दृष्टि बुरा माना गया है और धार्मिक दृष्टि से बुरा कार्य करने पर बुरा फल मिलने का वर्णन किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में नरक आदि दुःखों का विस्तृत वर्णन है। इन सबका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ एवं शान्त बनाना था। क्योंकि शान्त वातावरण में ही समाज का विकास सामाजिक प्राणी कर सकता है। मनुष्य के बुरे कृत्यों को देखकर मनुष्यों की प्रवृत्ति बुरे कृत्यों की ओर न हो इसीलिए नरक आदि का वर्णन किया है। नरक के इस वर्णन द्वारा याज्ञवल्क्य का उद्देश्य बुरे कार्यों की ओर व्यक्ति को उन्मुख होने से बचाना था। याज्ञवल्क्य[2] के अनुसार "जो पाप कर्म

---

1. ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्सुरायः श्यावदन्तकः।
   हेमधरी तु कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः।। (याज्ञवल्क्यस्मृति 3/209, 210)
   पित्रोस्तु सूतकं मातुस्तदसृग्दर्शनाद् ध्रुवम्।
   तदर्हन प्रदुष्येत पूर्वेषां जन्मकारणात्।। (याज्ञवल्क्यस्मृति 3/19)
2. प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत्।
   कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते।। याज्ञवल्क्य स्मृति 3/226

अज्ञानवश किया गया होता है वह प्रायश्चित्त से दूर होता है। जानबूझकर पापकर्म करने पर वह समाप्त तो नहीं होता किन्तु प्रायश्चित्त के वचन द्वारा जगत् में वह व्यक्ति व्यवहार के योग्य हो जाता है।

इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने मनुष्य की मनोवृत्तियों का गम्भीर अध्ययन कर सामाजिक व्यवस्था को मुख्य मानकर मनुष्य को अपराधी प्रवृत्तियों से दूर करने का प्रयास किया है। प्रायश्चित्त को अपराध निरोधक मन्त्र माना गया है। प्रायश्चित्त के पश्चात् मनुष्य के मन में पुनः कभी भी अपराधी वृत्तियों का उदय नहीं होता और मनुष्य का मन निर्मल और निष्पाप हो जाता है।

## ( 3 ) अत्रिस्मृति

मनुस्मृति से पता चलता है कि अत्रि प्राचीन धर्मशास्त्रकार थे। आत्रेय धर्मशास्त्र नौ अध्यायों में है। इन अध्यायों में दान, जप, तप का वर्णन है, जिनसे पापों से छुटकारा मिलता है। आत्रेय धर्मशास्त्र के कुछ अध्याय गद्य-पद्य दोनों में ही है। प्रथम तीन अध्याय पूर्णतः श्लोकबद्ध, इसके कुछ श्लोक मनुस्मृति में भी आते है। चौथा अध्याय एक लम्बे सूत्र से प्रारम्भ होता है जिसकी शैली आगे आने वाले भाष्यों टीकाओं से मिलती है। पाँचवा अध्याय पद्य में रचित है इसके कतिपय श्लोक वसिष्ठ में भी पाये जाते. हैं। छठें अध्याय में वेद सूक्त एवं पवित्रस्तोत्रों का वर्णन है। सातवाँ अध्याय गुप्त प्रायश्चित्तों का वर्णन है। इसी अध्याय में यवनों कम्बोजों, वाह्यिकों, खशों, वंगो एवं पारसियों के नाम आये हैं। सातवाँ और आठवाँ

अध्याय गद्य-पद्य मिश्रित है। नवें अध्याय में योग एवं उनके अङ्गो का वर्णन है।[1]

हस्तलिखित प्रतियों में 'अत्रिस्मृति' या 'अत्रिसंहिता' नामक अन्य ग्रन्थ मिलता है। अत्रिस्मृति में 400 श्लोक है इसमें स्वयं अत्रि प्रमाणस्वरूप उद्धृत किये गये हैं। अत्रिस्मृति में आपस्तम्ब, यम, व्यास, शङ्ख, शातातप के नाम एवं उनकी कृतियों का वर्णन किया गया है। वेदान्त, सांख्य, योग, पुराण भागवत का वर्णन और सात अन्त्यजों का नाम आया है— यथा धोबी, चर्मकार, नट, बुरुड, कैवर्त (मल्लाह) मेद एवं भिल्ल। अत्रि ने कहा है कि मेला, विवाह काल, वैदिक यज्ञों एवं अन्य उत्सवों में अस्पृश्यता का प्रश्न नहीं उठता। अत्रि स्मृति में राशि चक्र के लक्षण कन्या एवं वृश्चिक के नाम आये हैं, अतः यह कृति ईसा की प्रथम शताब्दी के पहले प्रणीत नहीं हुई होगी।

## (4) विष्णु स्मृति

विष्णु स्मृति में 100 अध्याय हैं। इस स्मृति की एवं मनुस्मृति की अनेक स्थानों पर समानता दिखती है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ स्थानों पर तो मनुस्मृति के पद्य ही गद्य में रख दिये गये हों। याज्ञवल्क्य ने भी विष्णु धर्म सूत्र से शरीराङ्ग सम्बन्धी ज्ञान ले लिया है। विष्णु स्मृति याज्ञवल्क्य स्मृति के बाद की कृति है। यह स्मृति भगवद्गीता, मनुस्मृति

---

1. धर्मशास्त्र का इति0 पृ0 संख्या 36

याज्ञवल्क्य तथा अन्य धर्म शास्त्रकारों की ऋणी है। मिताक्षरा ने विष्णु स्मृति क़ा 30 बार वर्णन किया हैं। स्मृति चन्द्रिका में 225 बार विष्णु के उदाहरण आये हैं।

## ( 5 ) दक्ष स्मृति

याज्ञवल्क्य ने दक्ष का उल्लेख किया है। विश्वरूप मिताक्षरा ने दक्ष से अनेक उदाहरण दिए हैं। दक्ष के व्यवहार सम्बन्धी निम्नलिखित दो श्लोक, जिनमें दान में न दिये जाने वाले नौ पदार्थों की चर्चा की गई है। बहुधा प्रस्तुत किए जाते हैं—

*सामान्यं याचितं न्यस्तमाधिर्दाराश्च तद्वनम्।*
*अन्वाहिंत च निक्षेपः सर्वस्वं चान्वये सति।।*
*आपत्स्वपि न देयानि नव वस्तूनि पण्डितैः।*
*यो ददाति स मूढात्मा प्रायश्चित्तीयते नरः।।*[1]

जीवानन्द के संग्रह में जो दक्षस्मृति है उसमें 7 अध्याय एवं 220 श्लोक है। इसमें मुख्य विषयों में चार आश्रम, ब्रह्मचारियों के दो प्रकार, कर्मों के विविध प्रकार और भली पत्नी की स्तुति। दक्षस्मृति वस्तुत; बहुत प्राचीन है।

## ( 6 ) हारीत स्मृति

हारीत के व्यवहार सम्बन्धी पद्यावतरणों की चर्चा अपेक्षित है। स्मृति

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ0 6।

चन्द्रिका के उद्धरण में आया है—

*स्वधनस्य यथा प्राप्तिः परधनस्य वर्जनम्।*

*न्यायेन यत्र क्रियते व्यवहारः स उच्यते।।*

हारीत स्मृति में इस प्रकार व्यवहार की परिभाषा की है। उनके मतानुसार वही न्याय विधि ठीक है जो धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित हो, जो सदाचार से सेवित एवं छल प्रपंच से दूर हो। नारद की भाँति हारीत ने भी व्यवहार के चार स्वरूप बताये हैं। जैसे— धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं नृपाज्ञा। हारीत, वृहस्पति एवं कात्यायन के समकालीन लगते हैं। विद्वानों[1] ने इनका समय 400 से 700 ई0 के बीच स्वीकार किया हैं।

## ( 6 ) पराशर स्मृति

पराशर स्मृति बहुत प्राचीन है। गरुड़ पुराण में इस स्मृति के 39 श्लोकों का संक्षिप्त रूप में लिया गया है। वर्तमान पराशर स्मृति में 12 अध्याय 593 श्लोक हैं। इसमें केवल आचार एवं प्रायश्चित्त पर चर्चा हुई है। आरम्भिक श्लोको में पराशर ऋषियों को धर्म ज्ञान देते हैं। चौथे अध्याय में आत्महत्या दरिद्र, मूर्ख या रोगी पति को त्यागने पर स्त्री को दण्ड, स्त्री-पुनर्विवाह, पतिव्रता नारियों को पुरस्कार और दसवें अध्याय में वर्जित नारियों से संभोग करने पर चन्द्रायण या अन्य व्रत या शुद्धि

---

1. पी0 वी0 काणे धर्मशास्त्र का इतिहास पृ0 65

का वर्णन मिलता है।

पराशर स्मृति में चार प्रकार के पुत्रों (औरस, क्षेत्रज, दत्त तथा कृत्रिम) का वर्णन है। सती प्रथा की उन्होंने स्तुति की है। पराशर ने अन्य धर्मशास्त्रकारों (मनु और बौधायन धर्मसूत्र) के मतों की चर्चा की है।

विश्वरूप, मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि ने पराशर को अधिकतर उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि 9वीं शताब्दी में यह स्मृति विद्यमान थी और इसे मनु की कृति का ज्ञान था। अतः यह प्रथम शताब्दी तथा पाँचवी शताब्दी के मध्य में कभी लिखी गयी होगी।

एक वृहत् पराशर संहिता भी है जिसमें 12 अध्याय एवं 3300 श्लोक है। यह पराशर स्मृति का संशोधन है। इसमें विनायक स्तुति भी पायी जाती है। एक अन्य पराशर स्मृति जिनका नाम वृद्धपराशर है जिससे अपरार्क ने उद्धरण लिखा है, किन्तु यह पराशर स्मृति बृहत्पराशर स्मृति से भिन्न है। एक ज्योति पराशर भी है जिसे हेमाद्रि तथा भट्टोजि दीक्षित ने उद्धृत किया है।[1]

## ( 7 ) बृहस्पति स्मृति

बृहस्पति का नाम स्मृतिज्ञ अथवा धर्मशास्त्रकोविद के रूप में आता है। दुर्भाग्यवश हमें अभी बृहस्पति स्मृति सम्पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं हो सकी है। यह स्मृति एक अनोखी स्मृति है, इसमें व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्त

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास 54, वही 55

एवं परिभाषाएं बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णित है। बृहस्पति ने धन और हिंसा' (सिविल एवं क्रिमिनल अथवा माल एवं फौजदारी) के व्यवहार के अन्तर्भेद को प्रकट किया। बृहस्पति ने युक्तिहीन न्याय की भर्त्सना की और कहा कि निर्णय केवल शास्त्रानुसार न हो, प्रत्युत युक्ति के अनुसार होना चाहिए, नहीं तो चोर-अचोर तथा असाधु-साधु सिद्ध हो जायेगा। बृहस्पति ने व्यवहार की सभी विधियों की विधिवत् व्यवस्था की है और इस प्रकार वे आधुनिक न्याय प्रणाली के बहुत पास आ जाते हैं।

बृहस्पतिस्मृति और मनुस्मृति में कहीं-कहीं साम्य दिखता हैं। बहुत श्लोकों का नारद स्मृति के समान विवरण मिलता है। बृहस्पति स्मृति मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति के बाद की स्मृति है। डॉ० बार्ला के अनुसार बृहस्पति स्मृति छठी या सातवी शताब्दी में हुए किन्तु अन्य साक्ष्यों के आधार पर ये बाद के ठहरते हैं। इस स्मृति का समय 200 ई० एवं 400 ई० के बीच में कहीं रखा जा सकता है। कात्यायन और विश्वरूप ने इसका कई बार वर्णन किया है। वृहस्पति स्मृति में 711 श्लोक हैं। महाभारत[1] में भी बृहस्पति की अर्थशास्त्रकारो के रूप में चर्चा हुई है।

स्मृति चन्द्रिका में बृहस्पति[2] के श्राद्ध सम्बन्धी लगभग 40 उद्धरण आये हैं। पराशरमाधवीय, निर्णयसिन्धु, संस्कारकौस्तुभ में बृहस्पति के कई श्लोक उद्धृत हैं और मिताक्षरा ने भी बहुत स्थलों पर बृहस्पति के धर्म

1. महाभारत शान्ति पर्व 58-90-95, वनपर्व 32-61 अनुशासन पर्व 39-10-11
2. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० 57

शास्त्रीय नियमों का उल्लेख (व्यवहार एवं धर्म सम्बन्धी किया है।

## ( 8 ) कात्यायन स्मृति

शंङ्खलिखित, याज्ञवल्क्य एवं पराशर ने कात्यायन को धर्मवक्ताओं में गिना है। कात्यायन के नाम से शुक्लयजुर्वेद का श्रोतसूत्र एवं श्राद्धकल्प प्रसिद्ध है। लगभग दस निबन्धों में कात्यायन के व्यवहार सम्बन्धी 900 श्लोक उद्धृत हुए है। केवल स्मृति चन्द्रिका ने 600 श्लोक दिए है। प्राचीन भारतीय व्यवहार एवं व्यवहार विधि के क्षेत्र में नारद, वृहस्पति एवं कात्यायन त्रिरत्नमण्डल में आते है। कात्यायन की व्यवहार सम्बन्धी कृति दुर्भाग्यवश प्राप्त नहीं है।

कात्यायन नारद और बृहस्पति के भी बाद के प्रतीत होते हैं। विश्वरूप एवं मेद्यातिथि ने कात्यायन को नारद एवं वृहस्पति के समान प्रमाणयुक्त माना है। कात्यायन ने स्त्रीधन पर जो लिखा है, वह उनकी व्यवहार सम्बन्धी कुशलता का परिचायक है। कात्यायन का काल निर्णय सरल नहीं है। ये मनु और याज्ञवल्क्य के बाद आते हैं। कात्यायन अधिक से अधिक ईसा के बाद तीसरी से चौथी या छठी शताब्दी के मध्य माने जाते हैं। कात्यायन स्मृति 11वीं शताब्दी के पूर्व ही प्रणीत हो चुकी थी इसमें संदेह नहीं है।[1]

कात्यायन को व्यवहार विधि का अग्रगामी माना जाता है। उन्होंने

---

1. धर्मशास्त्र का इति0 59

व्यवहार सम्बन्धी नयी संज्ञाए दी हैं—यथा पश्चात्कार, जयपत्र आदि। पश्चात्कार वह निर्णय है जो वादी एवं प्रतिवादी के बीच गर्मागर्म विवाद के फलस्वरूप दिया जाता है। जयपत्र वह निर्णय है जो प्रतिवादी की स्वीकारोक्ति या अन्य कारणों से अभियोग के सिद्ध होने के फलस्वरूप दिया जाता है।

कर्मप्रदीप नाम से जीवनानन्द के संग्रह में 500 श्लोकों का एक कात्यायन ग्रन्थ है जो अनुष्टुप एवं इन्द्रव्रजा छन्दों में लिखा गया है।

## ( ९ ) नारद स्मृति

नारद स्मृति में छोटे एवं बड़े दो संस्करण है। दोनों का सम्पादन डॉ0 बाली ने किया है। उपलब्ध नारद स्मृति में प्रथम अध्याय न्याय सम्बन्धी विधि पर है। 18 प्रकरण विवाद निर्णय के साथ वर्जित है। इसमें श्लोकों की संख्या 1028 है। लगभग सम्पूर्ण नारदस्मृति अनुष्टुप् छन्द में है।

सम्भवतः नारदस्मृति याज्ञवल्क्य स्मृति के बाद की रचना है। नारदस्मृति में 'दीनार' शब्द आया है। डॉ0 विन्टरनित्ज् ने इसे दूसरी या तीसरी शताब्दी का माना है। किन्तु डॉ0 कीथ के मतानुसार दीनार शब्द और पुराना है[1] क्योंकि रोमकों में ईसा पूर्व 207 में दीनार सिक्का बनवाया था, जिसे शकों ने ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में भारत में भी ढलवाया।

---

1. पी0 वी0 काणे धर्म शास्त्रका इतिहास—पृ0 55

इससे सिद्ध होता है कि नारद 100 ई0 से 300 ई0 के बीच हुए होगें।

## ( 10 ) अङ्गिरा स्मृति

याज्ञवल्क्य ने अङ्गिरा को धर्मशास्त्रकार माना है। विश्वरूप ने कहा है कि अङ्गिरा के कथनानुसार परिषद् में 121 ब्राह्मण रहते हैं। अङ्गिरा की बहुत सी बातों का हवाला विश्वरूप ने दिया और अपरार्क मेधातिथि, हरदत्त आदि भाष्यकारों ने धर्मसम्बन्धी बातों में बहुत ही चर्चा की है।

अङ्गिरास्मृति में 72 श्लोक है[1], सम्भवतः यह स्मृति बृहत् संस्करण का संक्षिप्त रूप है। इस स्मृति में स्त्रियों द्वारा नील वस्त्र धारण करने की विधियाँ, स्त्री धन को चुराने वाले की भर्त्सना की गयी है। मिताक्षरा एवं वेदाचार्य की स्मृति रत्नावलि में बृहदङ्गिरा का भी नाम आया है।[1]

## ( 11 ) यम स्मृति

वशिष्ठ धर्मसूत्र ने यम को धर्मशास्त्रकार मानकर उनकी स्मृति से उदाहरण लिया है। मनु के टीकाकार गोविन्दराज एवं अपरार्क ने यम के इस मत का कि कुछ पक्षियों का मांस खाना चाहिए, उद्धृत किया है। जीवानन्द संग्रह में एक यमस्मृति है जिसमें 78 श्लोक है।[2] जबकि आनन्दाश्रम संग्रह का यमस्मृति में प्रायश्चित्त श्राद्ध एवं पवित्रीकरण पर 99 श्लोक है। महाभारत[3] के अनुशासनपर्व में यम की गाथाएं मिलती

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ0 संख्या 60
2. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ0 संख्या 63
3. महाभारत का अनुशासन पर्व 104/72-74

हैं। यम ने नारियों के लिए संन्यास वर्जित बताया है। मिताक्षरा हरदत्त, अपरार्क ने प्रायश्चित्त के बारे में बृहद् यम एवं स्वरूप यम का उल्लेख किया है।

## ( 12 ) संवर्त स्मृति

याज्ञवल्क्य की सूची में संवर्त एक स्मृतिकार के रूप में आते हैं। संवर्तस्मृति में 227 से 230 तक श्लोक उपलब्ध होते हैं। आज जो प्रकाशित संवर्त स्मृति मिलती है वह मौलिक स्मृति के अंश का संक्षिप्त सार मात्र प्रतीत होता है। संवर्त स्मृति में धर्म सम्बन्धी आचार सम्बन्धी और व्यवहार सम्बन्धी विचार दिए गये हैं। संवर्त के मतानुसार लेखप्रमाण के सामने मौखिक बातें कोई महत्त्व नहीं रखती। जब अराजकता न हो, शासन सुदृढ़ हो तो जिसके अधिकार में घरद्वार या भूमि हो वही उसका स्वामी माना जाता है, और लिखित प्रमाण धरा रह जाता है। यथा—

*भुज्यमाने गृह क्षेत्र विद्यमाने तु राजनि।*
*भुक्तिर्यस्य भवेत्तस्य न लेख्यं तत्र कारणम्।।*

इसी प्रकार सन्ध्या-वन्दन, यतिधर्म तथा चोरी, विविध व्यभिचार, अन्य भयानक पापों के विषय में विश्वरूप ने संवर्त के मतों का उल्लेख किया है।

## ( 13 ) व्यास स्मृति

व्यास स्मृति चार अध्यायों एवं 250 श्लोकों में निबद्ध है। व्यास ने

अपनी स्मृति की घोषणा बनारस में की थी। इस स्मृति में वर्णित विषय वर्ण संकर, सोलह संस्कार, ब्रह्मचारी के कर्तव्य, ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य की कन्या से विवाह कर सकता है, किन्तु शूद्र से नहीं, पत्नी धर्म, गृहस्थ के नित्य नैमित्तिक एवं काम्य कर्म, गृहस्थाश्रम एवं दानों की स्तुति। व्यास ने व्यवहार विधि का वर्णन किया है। व्यास स्मृति की बहुत सी बातें नारद, कात्यायन एवं बृहस्पति आदि से मिलती है। व्यास ने उत्तर के चार प्रकार माने हैं—(1) मिथ्या, (2) सम्प्रतिपत्ति, (3) कारण एवं (4) प्राङ्न्याय। लेखप्रमाण के तीन प्रकार माना है। यथा—स्वहस्त, जानपद एवं राजशासन। व्यास स्मृति का रचनाकाल ईसा के बाद दूसरी एवं पाँचवी शताब्दी के बीच माना जाता है।[1]

## (14) शङ्ख एवं लिखित स्मृति

याज्ञवल्क्य ने शङ्ख लिखित को धर्मशास्त्रकारों में गिना है। शङ्ख एवं लिखित स्मृति प्राचीन हैं। इस स्मृति में 18 अध्याय एवं शङ्ख स्मृति के 330 तथा लिखित स्मृति के 93 श्लोक पाये जाते हैं। मिताक्षरा में इस स्मृति में के 50 श्लोक उद्धृत हुए हैं। यह स्मृति धर्मसूत्र गौतम एवं आपस्तम्ब के बाद की किन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति के पहले की रचना है। इसके प्रणयन का काल ई0 पू0 300 से लेकर 100 के बीच में माना गया है।

---

1. धर्मशास्त्र का इति पृ0 64

## ( 15 ) शातातप स्मृति

याज्ञवल्क्य[1] एवं पराशर ने शातातप को धर्म वक्ताओं में गिना है। विश्वरूप, हरदत्त एवं अपरार्क ने प्रायश्चित्त के विषय में शातातप के बहुत से गद्यांश उद्धृत किए हैं। मिताक्षरा स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य ग्रन्थों में शातातप के बहुत श्लोक लिए गये हैं। शातातप नाम की कई स्मृतियाँ हैं। जीवानन्द के संग्रह में कर्मविपाक नामक शतातप स्मृति है, जिसमें छह अध्याय एव 231 श्लोक है।[2] अपरार्क ने वृद्ध शातातप का उल्लेख किया है।[3] यह बहुत ही प्राचीन स्मृति है।

## ( 16 ) वसिष्ठस्मृति

भगवान श्रीराम का नाम लेते समय हमारे मन में एक और नाम स्मृति का विषय बनता है और वह नाम मुनिवशिष्ठ का है, जिन्हें अपने तप, ज्ञान आदि से ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त हुआ है। इन्होंने तीस अध्यायों में समाप्त होने वाली अपनी वशिष्ठस्मृति के अध्याय 16, 17 और 18 में न्याय, प्रक्रिया साक्षी, दाय विभाग तथा राजा के कर्तव्यों का वर्णन किया है।

## ( 17 ) उशनस् स्मृति

इसमें मनु, भृगु का नाम आया है। इसमें पुराण मीमांसा, वेदान्त

---

1. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/4-5
2. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ0 40
3. धर्मुद्रुम पृ0 संख्या 34

पांचरात्र कापालिक एवं पाशुपत का वर्णन आया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उशना का नाम, सात बार आया है। महाभारत[1] के शान्तिपर्व में राजनीति की ओर संकेत एवं मुद्राराक्षस में औशनसी दण्डनीति की चर्चा तथा याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार विश्वरूप ने भी उशना की चर्चा की है। ताण्ड्य[2] महाब्राह्मण का कहना है कि काव्य उशना असुरों के पुरोहित थे। यह स्मृति गद्य-पद्य दोनों में है। इसका जाति सम्बन्धी विवरण बौधायन से बहुत कुछ मिलता है। इसमें ब्राह्मण की शूद्र पत्नी से उत्पन्न पुत्र 'पारशव' जबकि धर्मशास्त्रकारों ने 'निषाद' कहा है। मिताक्षरा में उल्लेख है कि जीविका के साधनों की जानकारी के लिए उशना और मनु की कृतियों का अध्ययन करना चाहिए। मनु स्मृति के टीकाकार कुल्लूक[3] और याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर एवं अपरार्क की टीका में उशना के पद्यांश एवं गद्यांश दोनों के उद्धरण आये हैं। यह स्मृति मनु के बाद की कृति है और पूर्णतः राजनीति से प्रेरित है।[5]

## 18. आपस्तम्बस्मृति

इस स्मृति में संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मणों का उद्धरण उल्लिखित

---

1. महाभारत का शान्तिपर्व 139-70
2. ताण्ड्य महाब्राह्मण 7/4/20
3. मनुस्मृति (10.45) के टीकाकार कुल्लूक द्वारा उद्धृत
4. याज्ञवल्क्यस्मृति (3/260) विज्ञानेश्वर की टीका।
5. धर्मशास्त्र का इति० पृ० 36

हैं। आपस्तम्ब स्मृति में मीमांसा के बहुत से पारिभाषिक शब्द एवं सिद्धान्त पाये जाते है। अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य ग्रन्थों में इसके बहुत से उद्धरण हैं।[1]

## ( 19 ) गौतम स्मृति

ऋषि गौतम तथा अहिल्या के पुत्र गौतम शतानन्द से प्रायः हम सभी परिचित हैं। इनके द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ गौतम स्मृति है। जो गद्य में लिखा गया है। इसके विषयों का विभाजन अध्यायों में नहीं है। 'राजधर्म वर्णनम्' शीर्षक से एक छोटे से गद्यावतरण में राजा के व्यवहार का संक्षिप्त वर्णन इसमें किया गया है।

---

1. पी0 वी0 काणे धर्मशास्त्र का इति पृ0 80
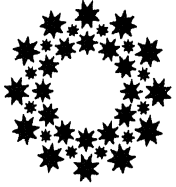
## द्वितीय अध्याय

# प्रमुख स्मृतिग्रंथों में नारी
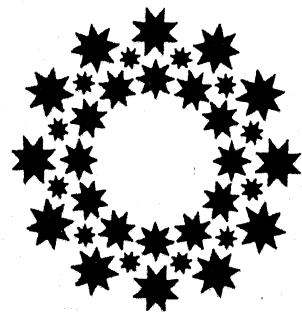
# स्मृतियों में नारी

स्मृतियाँ मूलतः वेदों का अनुसरण करती हैं और जन सामान्य के लिए आचारशास्त्र का मूर्तरूप हैं। फलतः सम्प्रति स्मृतियों में निर्दिष्ट नारी विषयक विचारों की अवधारणा विवक्षित है।

## सामान्य अवधारणायें

स्मृतियों में कन्या उपेक्षित नहीं वरन् स्नेह एवं सम्मान योग्य समझी गयी है। मनु[1] ने 'सन्तति' शब्द का प्रयोग करके सम्भवतः यही प्रदर्शित किया है कि वे पुंत्र अथवा कन्या दोनों को ही समान समझते हैं।[2] मनु ने स्वयं 'पुत्रेण दुहिता समा' कहकर अपनी भावना को स्पष्ट कर दिया है।[2] बृहत्पराशर स्मृति[3] में भी कहा गया है कि जो पिता है, वही पुत्र है और उसी पुत्र के समान पुत्री भी है। पुत्र और पुत्री दोनों एक ही पिता की सन्तान होने के कारण समान है।[3] पुनः बृहत्पराशर[4] के अनुसार

1. मनु0 3/259
   दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च।
   श्रद्धा च नो या व्यगमद्बहुदेयं च नोऽस्त्विति।।
2. मनुस्मृति 9/30 यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।।
3. बृहत्पराशर 6/200
   यः पिता स च वै पुत्रस्तत्समा दुहिताऽपि च
   पुत्रश्च दुहिता चोभौ पितुः सन्तानकारकौ।।
4. बृहत्पराशर 6/199
   दुहितापि तथा साध्वी श्वशुरयोरुपास्तिकृत्।
   पतिव्रता च धर्मज्ञा पित्रोर्दुर्गतिकृद् भवेत्।।

साध्वी ससुराल में उपस्कृत, पतिव्रता धर्मज्ञा पुत्री भी पिता की स्वर्ग प्राप्ति का कारण होती है।

मनु और याज्ञवल्क्य[1] ने कन्या के लालन पालन बड़े सुन्दर ढङ्ग से करने तथा जो पिता या भाई धनधान्य की कामना करते है उन्हें कन्या का आदर एवं सदा अलङ्कृत करने को कहा है। कन्या जिस कुल में प्रसन्न है, कुलवृद्धि एवं सम्पन्नता और दुःखी रहने पर कुल नाश होता है। मनु[2] कन्या को अत्यन्त कृपा की पात्र मानते हैं। उनके मनु अनुसार[3] यदि वह कुछ तिरस्कार भी कर देती है तो सन्ताप रहित होकर सहन करना चाहिए।

जब तक कन्या का विवाह नहीं हो जाता था, पिता ही उसका संरक्षक या वास्तविक अभिभावक होता था।[4] वह पिता और भाई की आज्ञा के विरुद्ध एक कदम भी नहीं चल सकती थी। उचित वय में कन्या का विवाहन कर देने पर पिता निन्दा का पात्र होता था। वौधायन[6] के अनुसार विवाह के सम्बन्ध में कन्या इतनी पराधीन थी कि विवाह योग्य अवस्था हो जाने पर योग्य वर के अभाव में अयोग्यवर से ही उसका विवाह

---

1. मनु0 3/55-59, 3/57, 58 याज्ञ0 1/82
2. मनु0 4/185
3. मनु0 4/180, 185
4. मनु0 9/3
5. मनु0 9/4 "कालेऽदाता पिता वाच्यः।"
6. बौधायन 4/1, 12, 15।

कर दिया जाता था।

कन्याओं के समयोचित विवाह पर बल देते हुए मनु[1] ने राजा को भी यह दायित्त्व सौंपा कि वह इस बात का ध्यान रखे कि उसकी प्रजा में कन्याएं उचित समय पर ब्याह दी जाती हैं अथवा नहीं, किन्तु मेधातिथि[2] एवं कुल्लूक ने मनु के इस कथन का दूसरा ही अर्थ लिया है—उनके अनुसार राजा को चाहिए कि वह दूसरे राजाओं से सन्धि बनाने एवं मित्रता रखने के लिए अपनी कन्या का सही ढङ्ग से विवाह आदि दान करके सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विचार-विमर्श करे। इस वक्तव्य से ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए राजा लोग अपनी कन्याओं को उनसे विवाहित कर देते थे। इतिहास में इस प्रकार के कई उदाहरण भी मिलते हैं। इस व्यवस्था से भी कन्याओं की पराधीनता लक्षित होती है।

सभी स्मृतिकारों[3] धर्मशास्त्रकारों (मनु, अत्रि आदि) ने कन्या विक्रय को अत्यन्त हेय कर्म कहा है। कन्या-विक्रय करने वाले पिता की घोर निन्दा की गयी है। बौधायन[4] के मतानुसार ऐसे महापापी अपनी आत्मा का विक्रय करने वाले होते हैं और सात कुलों तक घोर नरक को भोगते

---

1. मनु0 7/153 'कन्यानां सम्प्रदानं च'
2. कुल्लूक (मनु0 7/152 पर) दुहिताणां च दानं स्वकार्य सिद्ध्यर्थं निरूपयेत्''
3. मनु0 3/51
4. बौधायन 11/21-22

हैं। अत्रि और बौधायन[1] के अनुसार—धन देकर खरीदी गयी कन्या को पत्नी बनने का सम्मान प्राप्त नहीं था, उसको दासी कहा गया है। मनु[2] के अनुसार शूद्र भी यदि अपनी कन्या के निमित्त कुछ धन या अन्य वस्तु लेता था तो वह कन्या विक्रय करने वाला कहलाता था। याज्ञवल्क्य और मनु[3] ने सन्तान बेचना उपपातक माना है।

कन्या की चारित्रिक पवित्रता हिन्दू धर्मशास्त्र प्रणेताओं की दृष्टि में एक अत्यन्त अनिवार्यगुण है। नारियों पर स्वतन्त्रता सम्बन्धी समस्त बन्धन उसकी पवित्रता को ध्यान में रखकर ही लगाये गए हैं। मनु[4] के अनुसार जो व्यक्ति किसी कन्या को अकारण ही दोषी बताता था वह दण्डनीय होता था। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य और (वेद) व्यास[5] निर्दोष कन्या को ग्रहण करके पुनः त्यागने वाला व्यक्ति भी दण्डनीय माना जाता था। याज्ञवल्क्य[6] के अनुसार ऐसे व्यक्ति (कन्या पर मिथ्या दोषारोपण करने वाले) को श्राद्ध कर्म में भी आमन्त्रित नहीं किया जाता था। ऐसा कड़ा प्रतिबन्ध शायद कन्या के भविष्य को देखकर ही लगाया गया था यदि ऐसा न होता तो लोग कन्या में झूठे दोष बताकर उसी वर से कन्या का विवाह कर देते

---

1. अत्रि सं0 387, बौधा0 11/20
2. मनु0 9/98
3. याज्ञ0 3/236, मनु0 11/61
4. मनु0 8/225
5. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/66 (वेद) व्यास /29
6. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/223

और उस बेचारी कन्या के मिथ्या दूषणों की चर्चा सुनकर अन्य लोग उससे विवाह न करते। इस प्रकार कन्याओं का जीवन सङ्कटमय बन जाता।

बड़ी बहन से पूर्व छोटी बहन का विवाह करना अच्छा नहीं माना था। ऐसी कन्या को जिसका विवाह बड़ी बहन के अविवाहित रहते हो जाय, 'अग्रेदीधिषु' कहा गया है। स्मृतिकारों[1] ने अग्रेदीधिषुपति को आपाङ्क्तेय रखा है। यह बन्धन कन्या के लिए हितकर था, क्योंकि छोटी बहन का विवाह हो जाने पर बड़ी बहन अविवाहित कन्या में भले ही कोई दोष न हो, फिर भी लोग उसे दोषयुक्त एवं हीनदृष्टि से देखने लगते हैं। इससे उस कन्या की मानसिक स्थिति एवं भावी जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उसका विवाह करना भी कठिन हो जाता है। अतः छोटी बहन से विवाह करने वाले पुरुष की उपेक्षा करके स्मृतिकारों ने वयः क्रमानुसार कन्याओं का विवाह करने को प्रोत्साहित किया है।

मनु के मतानुसार यदि कन्या का पिता दोष बताकर उसका कन्यादान कर देता था तो वह तनिक भी दोष का भागी नहीं होता था।[2] लेकिन[3] यदि वह दोषों को छिपाकर विवाह कर देता था तो उस विवाह को विवाह

---

1. मनु0 3/160, गौतम अ0 15— "न भोजयेत् अग्रेदीधिषुपतिम्"।
2. मनु 8/205, नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्ट मैथुना
   पूर्वं दोषनभिख्याय प्रदाता दण्डमर्हति।।
3. वही 9/72-73 यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत्।
   तस्य तद्वितथं कुर्यात् कन्यादातुर्दुरात्मनः।।

नहीं माना जाता था तथा कन्या का पिता भी दण्डनीय होता था। याज्ञवल्क्य[3] के मतानुसार—इसी प्रकार निर्दोष कन्या का त्याग करने वाला व्यक्ति भी दण्डनीय माना जाता था। यदि स्मृतिकारों ने दोषी कन्याओं के विवाह की उपयुक्त सुविधा न दी होती तो समाज में कुंआरी कन्याओं की संख्या बहुत हो गयी होती।

वैदिक शिक्षा की अपेक्षा स्मृतिकाल में कन्याओं की शिक्षा में गिरावट आयी और सामान्य शिक्षा की भी कोई आवश्यकता नहीं समझी गयी। मेधातिथि के मत से घरेलू काम-काज में व्यस्त रहने के कारण नारियों को अधिक शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं थी। उसके पति का ज्ञान ही आवश्यकता के समय पत्नी की सहायता कर सकता था।

कन्या का जन्म हर्ष का विषय न होते हुए भी उसका दर्शन करना माङ्गलिक माना गया है। कन्याओं को शुभ एवं पूत कहा गया है। शौनक[2] कारिका[2] में गिनायी गयी आठ माङ्गलिक वस्तुओं में कन्या की भी गणना की गयी है। मनुस्मृति में कन्या की स्थिति पर विचार करते हुए जायसवाल[3] ने कहा है—"कन्या की स्थिति बहुत ऊँची थी, वह अत्यधिक कृपा की

---

1. याज्ञ0 1/66
2. शौनक कारिका 'पी0 वी0 काणे' धर्मशास्त्र का इति0, खण्ड-2, भाग-1, पृ0 511 पर उद्धृत।

   'दर्पणः पूर्णकलशः कन्यासुमनसोऽक्षताः।
   दीपमाला ध्वजाः लाजाः संप्रोक्ताश्चाष्टमंगलम्।। (शौनक कारिका)
3. के0 पी0 जायसवाल (मनु और याज्ञवल्क्य, पृष्ठ 258)

पात्र है। कुछ क्षणों के लिए मनु यह भूल जाते है कि कन्या भी वस्तुतः एक स्त्री है।'' समाज का शायद ही कोई वर्ग इतने स्नेह, दया, आदर व क्षमा की भावना से देखा गया था।

स्मृतियों में पूर्व एवं वैदिक काल की अपेक्षा कन्या परक आदर्शों में गिरावट आयी उसके धार्मिक अधिकार लुप्त हो गए। मनुस्मृति[1] में कहा गया है कि ''स्त्रियों का सब संस्कार होना चाहिए लेकिन वैदिक विधि के अनुसार नहीं। उनके[2] लिए वैदिक संस्कार केवल एक ही है— विवाह संस्कार। मनु[3] ने स्पष्ट रूप से कन्या एवं मूर्ख के लिए अग्निहोत्र का निषेध किया है। परवर्ती सभी स्मृतिकारों ने मनु के इस मत का समर्थन किया है।

स्मृतियों में प्रतिबिम्बित समाज में कन्या के बाह्य शारीरिक सौन्दर्य तथा उसके चारित्रिक गुणों को विशेष महत्त्व दिया गया है। मनु[4] ने आदर्श कन्या की जो कल्पना की है उसके अनुसार उसे सुन्दर नाम वाली, सुन्दर

---

1. मनु 2/66 अमन्त्रिका तु कारयेयं स्त्रीणामावृद्शेषतः।
संस्कारार्थे शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्।।
2. मनु 2/67 वैवाहिको विधि स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः
पतिसेवा गुरौ वासौ गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया।।
3. मनु0 11/26
न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा।।
4. मनुस्मृति 3/8, 9, 10

शारीरिक अङ्गों से युक्त, गजगामिनी या हंस जैसी चाल वाली, कम बोलने वाली रोग एवं मुक्त हो। याज्ञवल्क्य[1] ने भी इन्हीं गुणों के साथ शुभ लक्षणों से युक्त सुन्दरी कन्या को आदर्श माना है। वेदव्यासस्मृति[2] के आदर्श में कन्या को स्वस्थ, गौरवर्ण तथा शुभ लक्षणों से युक्त होना चाहिए। वह अधोवसन धारण करने वाली भी हो।

बाद की सभी स्मृतियों में कन्या के इन्हीं आदर्श गुणों का समर्थन किया गया है, जैसे लध्वाश्वलायन[3] स्मृति में सुन्दर मुखाकृति वाली, सुगठित सुन्दर शरीर वाली, सुन्दर एवं अच्छे वस्त्र धारण करने वाली, अच्छे नेत्रों वाली तथा अच्छें भाग्य वाली कन्या आदर्श कन्या मानी गयी है।

विशेष परिस्थितियों में स्मृतिकारों मनु[4] ने कन्या के विवाह की स्वतन्त्रता दी तथापि विवाह का उत्तरदायित्त्व अभिभावकों पर ही डालते हैं क्योंकि विवाह वाली अवस्था में कन्या अपने हिताहित को पूरी तरह समझ नहीं सकती। इस प्रकार कन्याएं से प्रतिष्ठित आदर्शों का पूर्णतः पालन करने की अपेक्षा की जाती थी और उसका समाज में परिवार में आदर व सम्मान था।

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति, विवाह प्रकरण 52-53।
2. वेदव्यास स्मृति, विवाह वर्णन अध्याय 2/1-4 ।
3. लध्वाश्वलायन स्मृति विवाह प्रकरण 2।
4. मनु0 9/90-91

## कौमार्य—दूषण एवं दण्ड की व्यवस्था

कन्या की सम्पत्ति कौमार्य है, यही उसके जीवन की प्रतिष्ठा का आधार भी है। इस कौमार्य के रक्षण, सम्मान आदि के लिए मनु आदि स्मृतिकारों ने भी कुछ निश्चित प्रावधान किये हैं। मनु ने प्रतिपादित किया—कन्या के कौमार्य को किसी भी रूप में क्षति नहीं पहुँचनी चाहिए। मनु[1] ने स्पष्टतः कहा है—वह पुरुष जो किसी कन्या को यह कहकर कलङ्कित करे कि अक्षत कौमार्या नहीं है दुर्भावनावश कहकर प्रमाणित न कर पाये, तो वह एक सौ पणों का दण्ड भागी होगा। व्याख्याकार मेधातिथि ने अधिक स्पष्ट करते हुए कहा—इस गम्भीर आरोप की दृष्टि से आर्थिक दण्ड अत्यन्त न्यून प्रतीत होता है। वस्तुतः मनु का दृष्टिकोण यह रहा है—यह दण्ड तो तब पर्याप्त है जब सामान्यतः कोई कन्या इस प्रकार आरोपित कर दी जाय। किसी कन्या विशेष में कन्या में होने वाले सारे गुणों का अभाव है, कहा जाय, स्पष्टतः उसका कौमार्य अक्षत नहीं है—न कहे, उस स्थिति में यह दण्ड पर्याप्त है। यदि कन्या विशेष की किसी की बात होती हो और कोई व्यक्ति गोपनीय रूप में उस व्यक्ति से कन्या की सत्यतः अक्षतयौवना न होने से आरोपित करे, कन्या के अभिभावक राजा से प्रतिवेदन करें—मेरी पुत्री सर्वथा सुन्दर और पवित्र है किन्तु अमुक व्यक्ति अपकार की भावना से उसे वर की दृष्टि में हीन करने के लिए

---

1. अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद् द्वेषेण मानवः।

स शतं प्राप्नुयाद् दण्डं तस्या दोषमदर्शयन्।। मनुस्मृति 8/225।।

और यहाँ तक कि स्वयं मेरी पुत्री का आकांक्षी है तथा प्रतिवेदन सत्य पाया जाय और व्यक्ति विशेष का आरोप निराधार हो, तो आर्थिक दण्ड अनिवार्य है। मनु[1] ने कन्या के विरुद्ध किसी भी प्रकार का अभद्र—व्यवहार, असत्य-आरोप सहन करना असङ्गत स्वीकारते हैं, परन्तु कतिपय स्थितियों में वह पर्याप्त उदार भी परिलक्षित होते हैं—कन्या यदि स्वेच्छया अपने से श्रेष्ठ वर्ण वाले पुरुष के साथ सम्भोगरता पायी जाय तो वह कथमपि दण्डनीय नहीं है। इसके विपरीत हीन वर्ण पुरुष के साथ साहचर्य सेवन करती है तो कन्या की उसकी काम अभिलाषा निवृत्त हो सके, इस उद्देश्य से यत्नपूर्वक घर में प्रतिबन्धित कर रखा जाय।

मनु कन्या-दूषण के आपराधिक कर्म की दण्ड व्यवस्था प्रतिपादित करते समय यद्यपि दोनों पक्षों को अपराधी स्वीकार करते हैं, किन्तु कन्या को न्यूनतम एवं पुरुष को अधिकतम सीमा तक दण्डित होने (अथवा राजा द्वारा किये जाने) का कथन करते हैं। इतना ही नहीं कामाभिलाषिणी तथा अनभिलाषिणी की स्थितियाँ भी दण्ड व्यवस्था के लिए निर्धारक तत्त्व हैं, साथ ही उच्च वर्ण और हीनवर्ण की भी दृष्टि से मनु ने दण्ड विधान का औचित्य प्रतिपादित किया है—समानवर्ण वाला कोई पुरुष सम्भोग विमुख प्रवृत्ति वाली किसी कन्या से सम्भोग करके उसको दूषित कौमार्या

---

1. मनुस्मृति 8/365

   कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत् ।

   जघन्यं सेवमानां तु संयतां बासयेद्गृहे।।

बनाये तो (यदि ब्राह्मणेतर जातीय है) वह शीघ्र ही लिङ्गच्छेदन आदि रूपवध से दण्डनीय होता है तथा सम्भोगाभिलाषिणीकन्या को सम्भोग द्वारा दूषित करने वाला पुरुष लिङ्गच्छेदनादि वध रूप दण्ड का भागी नहीं है[1] क्योंकि यह प्रक्रिया प्रकारान्तर से गान्धर्व विवाह सम्पादन विधि का पोषक है— कन्या एवं पुरुष दोनों के अभिलाषानुकूल पारस्परिक स्नेहाधिक्यवशात् आलिङ्गनादि रूप में संयोग अथवा मैथुन होना गान्धर्व विवाह कहा गया है।[2]

इस प्रकार हीन वर्ण पुरुष एवं श्रेष्ठ वर्ण की कन्या की स्थिति में मनु[3] की व्यवस्था—हीन जातीय पुरुष अपने से श्रेष्ठ जाति वाली कन्या के (वह सम्भोगकांक्षिणी हो अथवा न हो) साथ सम्भोग करे तो वह (जात्यनुसार लिङ्गच्छेदन, ताऽन तथा मारण) वध के योग्य है तथा समान जाति वाली कन्या के साथ सम्भोग करे और उस कन्या के पिता, उस कर्म को स्वीकार ले तो पुरुष (कन्या-पिता को) उचित मात्रा में धन दे (और कन्या के साथ विवाह कर ले) कुछ अन्य सामान्य आपराधिक कार्यों

---

1. योऽकामा दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति।
   सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः।। मनुस्मृति 8/364।।
2. इच्छयाऽन्योन्य संयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
   गांधर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः।। मनुस्मृति 3/32।।
3. उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति।
   शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि।। मनुस्मृति 8/366।।

के लिए दी गयी दण्डव्यवस्था[1] भी विवेचनीय है—यदि कोई पुरुष किसी कन्या को बलपूर्वक स्वायत्ती करके दूषित करता है तो उसके हाथ की दो अङ्गुलियाँ काट दी जाय साथ ही उस पर छह सौ पण आर्थिक दण्ड लगाया जाय। इसके विपरीत यदि कोई पुरुष किसी समान जातीया एवं कामाभिलाषिणी कन्या को दूषित करे तो वह मात्र दो सौ पणों के आर्थिक दण्ड का भागी होता है।[2] मनु[3] के अनुसार कन्या का कौमार्य दूषित करने वाले को जाति से बहिष्कृत तक किया जाता था। और याज्ञवल्क्य[4] के अनुसार हीन वर्ण की अकाम्या कन्या को नखक्षतादि से दूषित करने पर हाथ काट लेना चाहिए। उत्तम वर्ण की कन्या हो तो वध विहित है। पुरुष द्वारा कौमार्यदूषित करने से बढ़कर दण्डनीय अपराध समलैङ्गिकदूषण को मनु[5] ने प्रतिपादित किया है। इस दूषण की दो कोटियाँ है—एक यदि यह

---

1. अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः।
   तस्याशु कर्त्ये अगुंल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम्।।367।।       मनुस्मृति 8/367
2. सकामां दूषयंस्तुल्यो नांगुलिच्छेदमाप्नुयात्।
   द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये।।       मनुस्मृति 8/368
3. श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च
   हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः।।       मनुस्मृति 3/164
4. दूषणे तु करूच्छेद उत्तमायां वधस्तथा।।2/288।।, याज्ञवल्क्य स्मृति 2/288
5. कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद् द्विशतो दमः
   शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद् दश।।
   या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति।
   अंगुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा।।       मनुस्मृति 8/369-370

दूषण कृत्य अविवाहित कन्या द्वारा हो, दूसरा यदि यह (विवाहित कन्या) स्त्री द्वारा किया जाय। अविवाहित कन्या यदि अपराधी है तो साधारण दण्ड—राजा द्वारा उस पर आर्थिक दण्ड, भुक्तभोगी कन्या के कुल पङ्क्ति के स्तरानुकूल दहेज का द्विगुणित धन (उस कन्या को) अपराधिनी द्वारा देय हो एवं उसे दस कोड़े भी लगाए जाय। इसके विपरीत यदि स्त्री द्वारा अपराध किया गया है तो वह स्त्री मुण्डित सिर होने के बाद गधे पर बैठाकर सड़क पर घुमायी जाय।

मनु[1] एवं याज्ञवल्क्य[2] के मतानुसार यदि कोई पुरुष सजातीय कन्या के साथ उसकी सहमति पर सम्भोग करे तो यदि लड़की का पिता चाहे तो वह पुरुष उसको शुल्क दे। कन्या उस पुरुष को सौंपी जा सकती है, परन्तु कन्या उस पुरुष से विमुख हो चुकी हो तो उसका विवाह अन्य पुरुष से करना अनुचित नहीं। (मेधातिथि की टिप्पणी श्लोक अध्याय 8 के 366 पर) स्मृतिकारों ने कन्या के भविष्य एवं उनके मङ्गलमय जीवन को दृष्टि में रखकर कन्या-अपहरणकर्ता अथवा उससे बलात्कार करने वाले पुरुष को कन्या की वैवाहिक वैधता हेतु होम तथा सप्तपदी विधान करने का प्रावधान किया है। यदि अपहरण कर्ता अथवा बलात्कारी पुरुष ऐसा करने से अस्वीकार करे तो कन्या किसी अन्य को विवाहित हो सकती

---

1. मनुस्मृति 8/366
2. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/287

   अलङ्कृता हरन्कन्यामुत्तमं ह्यन्यथाऽधमम्।

   दण्डं दद्यात्सवर्णासु प्रातिलोम्ये वधः स्मृतः।।

है। इस स्थिति में अपराधी दण्ड का भागी बनता है।

यदि कोई पुरुष निम्नजातीय कन्या से (उसकी सहमति है तो) सम्भोग करे तो पुरुष किसी भी प्रकार के दण्ड का भागी नहीं होता, परन्तु कन्या का प्रेम या सहमति न रहने पर घोरापराधी तथा दण्डनीय है। मनु[1] का मत है कि धार्मिक दृष्टि से भी कन्या को दूषित करने वाला उपपातक का भागी बनता है। उस पातक से मुक्ति निमित्त अपराधी को प्रायश्चित्तिक क्रिया करना आवश्यक होता है। इतना ही नहीं यदि दूषित होने का अपराध बहुत गम्भीर है तो वह महापातक के सदृश विचारणीय है एवं प्रायश्चित्तिक क्रिया भी तदनुसार करणीय होती है।[2] मनुस्मृति या अन्य स्मृतियों में वर्णित विचार इस तथ्य के प्रमाण हैं कि ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी की सामाजिक संस्कृति में स्त्रियों के प्रति अपेक्षाकृत सद्भावना का प्राधान्य था, स्थिति विशेष अथवा प्रयोजनवश अथवा कारण विशेष से यदि कहीं किञ्चित् दुर्भावना परिलक्षित होती है तो उसको न के समान ही स्वीकारा गया है। यदि स्त्रियों की स्वच्छन्दता के लिए प्रतिबन्धित भी किया गया तो उसके सुखी एवं मङ्गलमय जीवन की कामना इसमें निहित रही है। जहाँ तक कन्याओं की सामाजिक स्थिति तथा उसके लालन-पालन एवं उनकी प्रतिष्ठा, सम्मान की अवधारणा का प्रश्न है—स्मृतिकार अत्यन्त उदार प्रतीत

---

1. मनुस्मृति 11/61
   कन्यायां दूषणं चैव वाधुष्यं व्रतलोपनम्
   तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः।।

होते हैं। स्मृतिकारों ने कन्या के जीवन की एक-एक गतिविधि तथा समस्त पक्षों पर सूक्ष्म चिन्तन के पश्चात् जो व्यवस्थाएं प्रतिपादित की हैं, उनका सङ्केत है कि तात्कालिक समाज में कन्याएं किसी भी दशा में गर्हित या उपेक्षणीय न थीं। उन्होंने तो यहाँ तक व्यवस्था दी है कि कन्या भले ही दोषपूर्ण हो किन्तु योग्य वर के साथ उसका उद्वाह होना चाहिए। सम्भव है कि ऐसी व्यवस्था से सामाजिक प्रदूषण को पल्लवित, पुष्पित होने से वञ्चित रखना स्मृतिकारों का उद्देश्य रहा हो, तो असङ्गत नहीं प्रतीत होता—शारीरिक विकृतियों (उन्मत्त, कुष्ठिनी आदि) से पूर्ण विकृत यौवना (आचार्य ने स्पष्ट मैथुना शब्द का प्रयोग किया है) आदि दोषों से पूर्ण कन्या का भी विवाह हो सकता है। ऐसी दशा में माता-पिता का कर्तव्य है कि कन्या के दोष को गोपनीय न रखकर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने से पूर्व वर के सामने समस्त दोषों को स्पष्ट कर दें, ऐसा करने पर वे कथमपि अपराधी नहीं कहे जा सकते।[2] इसका अर्थ ये कदापि नहीं है कि कन्या के पक्ष का विशेषतः समर्थन मनु की प्रवृत्ति रही है।

उन्होंने (मनु ने) दूसरी भी व्यवस्था दी है—यदि कन्या के माता-पिता

---

1. मनुस्मृति 11/58

   रेतः सेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च।

   सज्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरूतल्पसमं विदुः।।

2. मनुस्मृति 8/205

   नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना।

   पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति।।

उसके दोषों (दैहिक विकृति आदि) को छिपाकर उसका वैवाहिक सम्बन्ध पुरुष विशेष से स्थापित कर देते हैं, तो वह सम्बन्ध निरस्त हो सकता है। न केवल निरस्त अपितु उस कन्या के अभिभावकगण धोखा करने के अपराधी एवं तदर्थ दण्डनीय[1] हैं और ऐसी कन्या का विवाह होने के पूर्व ही द्विज छोड़ दें या उसे अस्वीकार कर दें।

पत्नी के रूप में नारी को एक गौरवपूर्ण स्थान दिया गया हैं। उसके उच्च आदर्शों एवं आचरण के कारण उसे सम्मानित पद प्राप्त है। नारी ने अपने त्यागमय गुणों के कारण नर को प्रभावित किया और नर ने उसके पावन गुणों के कारण ही उसे अर्द्धाङ्गिनी बनाया।

स्मृतिकारों ने पत्नि का मुख्य धर्म पति की सेवा करना, पातिव्रत्य धर्म पालन तथा गृहकार्यों को सम्भालना बताया है। यद्यपि कुछ समृतिकारों ने धार्मिक कार्यो में स्त्री का निषेध किया है। यथा—मनु ने स्पष्ट शब्दों में कन्या व मूर्ख को अग्निहोत्र का निषेध किया है, परन्तु अन्य कई स्मृतियों में स्पष्ट रूप से पति के साथ पत्नी को भी अग्निहोत्र का निर्देश है। इस सन्दर्भ में अनुमान किया जा सकता है कि स्त्रियाँ अग्निहोत्र तो

---

1. मनुस्मृति 8/224-225

स्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति।
तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिंपणान्।।
अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद् द्वेषेण मानवः।
स शतं प्राप्नुयाद्दंड तस्या दोषमदर्शयन्।।

करती थीं, किन्तु उनके लिए वैदिक मन्त्रों के पाठ का निषेध कर दिया गया था।

कात्यायनस्मृति[1] के अनुसार होम कराने वाले ऋत्विकों को बिना पुरुष व स्त्री के साथ बैठे कर्म नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह कर्म निष्फल होता है। स्मृतियों में अग्निहोत्र की रक्षा के लिए ऐसा भी निर्देश दिया गया है कि यदि पत्नी की मृत्यु हो जाय तो पुरुष शीघ्र ही दूसरा विवाह कर ले। यदि दूसरा विवाह न करे तो धातु या कुशा की प्रतीकस्वरुप स्त्री बनाकर अग्निहोत्र कर्म को पूरा करता रहे।[2] कात्यायन एवं शङ्खस्मृति के अनुसार पति का वियोग न चाहने वाली, सौभाग्य व धन की इच्छा रखने वाली पत्नी को आलस्य छोड़कर शुद्धता पूर्वक अग्निसेवा करनी चाहिए। कात्यायन ने अग्नि सेवा के लिए स्त्रियों की नियुक्ति का परामर्श दिया है तथा कहा है कि यदि किसी पुरुष के कई स्त्रियाँ हो तो उसे चाहिए कि वह उन्हें बारी-बारी से अग्नि सेवा के लिए नियुक्ति करे।

शङ्खस्मृति[3] की यह उक्ति की वह भार्या है जो अग्नि को प्रज्ज्वलित करें। कात्यायनस्मृति[4] के अनुसार जिस स्त्री ने अनेक व्रत करके पार्वती

---

1. कात्यायन स्मृति 20/1-13
2. कात्यायन स्मृति 19/4-5
3. शङ्खस्मृति 4/15
4. कात्यायन स्मृति 19/7

को तथा अग्नि को प्रसन्न कर लिया है वही परलोक में सौभाग्य को प्राप्त क़रती है। अतः इन विवरणों से यही स्पष्ट हो जाता है कि पति के साथ अग्निहोत्र में पत्नी का रहना उसके आदर्श कर्तव्यों में माना गया था।

स्मृतिकारों ने नारी को असाधारण रूप से पवित्र माना है जो कभी भी पूर्णतया अपवित्र नहीं होती, उसका सम्पूर्ण शरीर ही पवित्र है। पुरुष शौर्य है तो नारी सौन्दर्य। याज्ञवल्क्यस्मृति[1] में कहा गया है कि नारी को सोमदेव ने पवित्रता, गन्धर्वो ने मधुरवाणी और अग्नि ने सब प्रकार से पवित्र होने की शक्ति प्रदान की। अतः नारी सदैव ही पवित्र है। वस्तुतः स्मृतिकारों ने नारी को उसके आदर्श गुणों के कारण ही पवित्र माना है। उसमें मृदुभाषण जैसा आकर्षित करने वाला गुण तथा अग्नि की तरह सब कुछ आत्मसात् करने की शक्ति होनी चाहिए। नारी की पवित्रता को सभी स्मृतिकारों ने एकमत होकर स्वीकार किया है। नारी के पावन विचारों के समक्ष अधम नर का पापमय विचार क्रियान्वित नहीं हो सकता।

नारी अपनी पवित्रता के द्वारा समाज में पवित्र विचारों का सृजन भी करती है। उसे समाज के निर्धारित नियमों के विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए। अपने सच्चे स्वभाव, पवित्र चरित्र, शुद्ध वाणी एवं स्पष्ट व्यवहार के कारण नारी समाज में श्रेष्ठ थी।

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति विवाह प्रकरण 71।

नारी की शारीरिक सुन्दरता अपना विशेष महत्त्व रखती है। विष्णुस्मृति[1] में नारी के सौन्दर्य का चित्रण करते हुए कहा गया है कि उसे शुभ्र वर्ण वाली, बन्धुजीव के समान सुन्दर होठ वाली, चमकने वाले श्वेत दाँत वाली, सुन्दर नासिका वाली तथा तिरछी भौहों वाली होनी चाहिए। उसकी ग्रीवा कम्बु के तुल्य, उसके उरु मोटे और संहत, जघन मोटे, स्तनपीन मत्त हाथी के कुम्भ के समान और स्वर्णिम कान्ति के समान, बाहुएँ मृणाल के समान कोमल और हाथ किसलय के तुल्य होने चाहिए। रत्नों से विभूषित ऐसी सुन्दर नारी मूर्ति जब अपने पैरों को पृथ्वी पर रखती है तो समस्त भूमि को पद्मों से पूर्ण कर देती है।

स्मृतिकारों ने गृहस्थाश्रम को स्वर्ग माना है। इसका मुख्य कारण यह था कि नारी अपना पूरा समय परिवार की सेवा और कल्याण में लगाती थी। उसका मन परिवार के सदस्यों को सुख-सुविधा देने में ही लगा रहता था। परिवार के संवर्धन संरक्षण और सेवा में ही नारी का वास्तविक त्याग देखा जाता था। इस त्याग के कारण नारी गृहस्वामिनी, गृहलक्ष्मी एवं अन्नपूर्णा आदि नामों से सम्बोधित की गयी और समाज ने उसे ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित किया।

नारी के विषय में स्मृतिकारों के विचार उदार रहे हैं। मनुस्मृति[2] में "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" नारी आदर का सूचक है। जिस

---

1. विष्णु स्मृति 1/21-26

2. मनु0 3/56-55, 59-62

गृह में पति-पत्नी परस्पर वशीभूत होकर एक दूसरे के अनुगामी होते हैं। उस घर में धर्म, अर्थ, काम यह तीनों पुरुषार्थ एकत्र हो जाते हैं। मनुस्मृति[1] में स्त्री को घर की शोभा बताया गया है। अतः श्री तथा स्त्री में अभेद किया गया है। शंङ्खस्मृति[2] में पत्नी के आदर्शों का वर्णन करते हुए उल्लेख है कि वस्तुतः वही भार्या है जो घर की रक्षा करे या अग्नि का हवन करे, जो पति को प्राण के समान समझे, जो सन्तति वाली हो।

नारी के सम्बन्ध में अन्य स्मृतियों[3] के विचार भी अवलोकनीय हैं। ''स्त्री की अनुकूलता को स्वर्ग और उसका प्रतिकूल होना नरक के समान भयङ्कर है, स्त्री के समान दूसरी औषधि नहीं है, समस्त दुःखो को दूर करने की औषधि (दवा) स्त्री है। गृह को गृह नहीं कहते, स्त्री ही घर है, भार्या से रहित गृह जङ्गल के समान है, भार्या देवताओं द्वारा दी हुई सखा है। यदि पत्नी कभी अप्रिय वचन भी बोले तो स्वयं उससे अप्रिय वचन न कहें, क्योंकि रति, प्रीति और धर्म सब स्त्री के अधीन हैं।

व्यासस्मृति[4] के अनुसार स्वयम्भू ने पूर्व में एक देहवाला द्विज बनाया, उसमें आधा शरीर पति का था, ऐसा श्रुति प्रतिपादित करती है। जब तक

---

1. मनुस्मृति 9/26
2. शंखस्मृति 4/15-16
3. कल्याणनारी अङ्क पृ0 सं0 113 पर उद्धृत
4. व्यासस्मृति 2/13

   पातितोऽयं द्विजाः पूर्वमेकदेहः स्वयंभुवा

   पत्योऽर्द्धेन चार्द्धेन पत्योऽभूवन्निति श्रुतिः।।

पुरुष भार्या की प्राप्ति नहीं कर लेता तब तक वह आधा शरीर ही कहा जाता है। आधा शरीर कुछ नहीं कर सकता, पुत्रोत्पत्ति भी पूरा शरीर होने पर ही होती है।

मनु[1] का कथन है कि सन्तानोत्पदन, उत्पन्न सन्तान की रक्षा, प्रतिदिन के लोक व्यवहार, अतिथि एवं मित्र इत्यादि के भोजन का प्रबन्ध करना, धार्मिक कृत्यों जैसे अग्निहोत्र, यज्ञादि कार्य करना एवं पति, सास-श्वसुर व गुरुजनों की सेवा करना, श्रेष्ठ रति, और पितरों का तथा अपना स्वर्ग ये सब स्त्रियों के अधीन हैं।

माता—वंश परम्परा को अविच्छिन्न बनाये रखने के लिए परिवार में माता एवं पिता दोनों का समान सहयोग होता है, पर सन्तान को नौ माह तक गर्भ में रखने तथा प्रारम्भिक जीवनकाल में पालन-पोषण करने वाली माँ ही होती है। पिता की अपेक्षा माता बालक की देहदात्री तथा ज्ञानदात्री होती है। अतः प्रथम गुरु माता ही है। अतएव माता के भले या बुरे प्रभाव शैशवावस्था से ही बालक के स्वभाव में अमिट रूप में अङ्कित हो जाते हैं।

नैपोलियन के अनुसार "बालक का भावी रूप माता की योग्यता पर ही आधारित होता है। माता का अर्थ है—निर्मात्री। वाचस्पत्य, शब्दकल्पद्रुम आदि कोशों में निर्माणवाची मा धातु से 'माता' शब्द की व्युत्पत्ति की

---

1. मनुस्मृति 9/27-28

गयी है। अतएव बालक को गर्भ में रखकर शारीरिक निर्माण एवं जन्म के बाद पालन-पोषण तथा मार्गदर्शन द्वारा मानसिक निर्माण करने वाली स्त्री के लिए 'माता' शब्द का प्रयोग अत्यन्त अर्थ, भाव से पूर्ण है।

स्मृतिकारों[1] ने माता को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। एक पुरुष से सम्बन्धित जितनी भी स्त्रियाँ परिवार में होती हैं उन सब में तो माता का स्थान सबसे ऊँचा है ही, किन्तु पुत्र के लिए माता गुरु से बढ़कर है।[2] वशिष्ठ[3] के मतानुसार दस उपाध्यायों से आचार्य, सौ आचार्यों से पिता और हजार पिताओं से अधिक माता गौरवशाली है। याज्ञवल्क्य[4] ने माता को देवताओं से अधिक पूज्य कहा है। मनु[5] ने माता को पृथ्वी की मूर्ति कहा है। मेधातिथि[6] (मनुस्मृति के टीकाकार) के अनुसार माता पृथ्वी की मूर्ति इसलिए कही गयी है, क्योंकि जिस प्रकार पृथ्वी समस्त सृष्टि के भार को अपने ऊपर वहन करती है, उसी प्रकार माता पुत्र को गर्भ में रखकर जन्म के बाद पालन करते हुए वहन करती हैं।

माता-पिता तथा गुरु ये मनुष्य के तीन अतिगुरु माने गये हैं। उनकी

---

1. मनु0 2/133 "माता तेभ्यों गरीयसी"
2. वही 2/145 "सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते"
3. वशिष्ठ 13/16 "उपाध्यायद्दशाऽऽचार्य आचार्याणां शतं पिता<br>पितुर्दशशतं माता गौरवेणातिरिच्यते।।"
4. याज्ञ0 1/35
5. मनु 2/226 "माता पृथिव्या मूर्तिः"
6. मेधातिथि मनु0 2/226 पर "इयं पृथ्वी सैव माता भारसाहत्व सामान्यत्।।

नित्य ही सेवा करनी चाहिए जैसा वे कहें उसी प्रकार करना चाहिए, उनकी आज्ञा के बिना कुछ नहीं करना चाहिए। ये तीनों ही वेद हैं, ये तीनों ही देवता हैं, ये तीनों लोक हैं, तथा तीनों अग्नि हैं।[1] मनु[2] ने पिता को गाह्वपत्याग्नि, माता दक्षिणाग्नि तथा गुरू आह्वनीयाग्नि कहा गया है। विष्णु[3] और मनु[3] ने कहा है कि मनुष्य माता की भक्ति से इस भूलोक का सुख प्राप्त करता है। उपर्युक्त वाक्यों में यद्यपि गुरु तथा पिता को सर्वोच्च स्थान दिया गया है, किन्तु फिर भी माता-पिता तथा गुरु के मध्य माता को ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। (आचार्यः श्रेष्ठों गुरुणां मातेत्येके) गौतम[4] और याज्ञवल्क्य[4] ने तो सर्वोच्च गौरव माता को ही प्रदान किया है तथा माता की ही गरिमा का सर्वाधिक प्रतिपादन किया है। यही कारण है कि मनु ने एक ब्रह्मचारी द्विज को माता का शव बाहर निकालने के बाद भी ब्रह्मचर्य व्रत से च्युत नहीं माना, जबकि अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में उसको प्रायश्चित्त करना पड़ता था।

माता का सम्मान[5], आज्ञा पालन एवं सदा रक्षा करना, पुत्र का परम कर्त्तव्य माना गया है। यहाँ तक कि जहाँ अत्यन्त पूज्य जन खड़े हो वहाँ

---

1. विष्णु अ0 31
2. मनु0 2/23।
3. विष्णु अ0 31, मनु0 2/233
4. गौतम अ0 2 "आचार्यः श्रेष्ठों गुरुणां मातेत्येके", याज्ञ0 1/35 "एम्यो माता गरीयसी"।
5. मनु0 5/91

भी पुत्र को सर्वप्रथम माता का ही सत्कार करना चाहिए। 'उपनयन' संस्कार के अवसर पर पुत्र के लिए सर्वप्रथम माता से भिक्षा लेना उचित समझा गया है।[1]

सम्भवतः ऐसा नियम इस आशय से बनाया गया होगा कि माता का आशीर्वाद सर्वाधिक फलित होने वाला है, उसे प्राप्त कर ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य जीवन में अवश्य सफल होगा।[2] इससे माता की उत्कृष्टता का स्वतः अनुमान होता है। वसिष्ठ और मनु के अनुसार आचार्य से पिता तथा पिता से माता का गौरव सहस्र गुना अधिक है।[3] मेधातिथि[4] का कहना है कि यदि माता-पिता, आचार्य खड़े हों तो उनमें सर्वप्रथम माता वन्दनीया है, उसके बाद पिता और फिर आचार्य। टीकाकार नारायण[5] के मत में माता पिता की अपेक्षा अधिक महान् इसलिए है, क्योंकि पिता की अपेक्षा माता अपने बच्चें को पालने में बहुत अधिक कष्ट उठाती है। गौतम[6] ने मातादि श्रेष्ठ जनों से एक साथ भेंट होने पर श्रेष्ठता के क्रम से चरण

---

1. मनु0 2/55
2. वही 2/2, 228, 229
3. वसिष्ठ और मनु 13/16, 2/145
4. (क) मेधातिथि मनु0 2/145 पर टीका (ख) मेधातिथि मनु0 2/15
   "अस्मिंश्च क्रमे विवक्षिते समवाये एतेषां माता प्रथमं वन्द्या ततः पिता तत आचार्यस्ततः उपाध्यायः।
5. नारायण मनु0 2/145 पर "पितुः सकाशात् मातातिरिच्यते तदपेक्षया बहुदुःखानुभवात्।"
6. गौतम अ0 6 "संनिपाते परस्य"

स्पर्श करना उचित माना है और इस क्रम में गौतम के वचन (मातेत्येके) के अनुसार माता श्रेष्ठ होने के कारण माता का चरण सर्वप्रथम छूना चाहिए। मनुसमृति[1] के अनुसार घर की जितनी भी स्त्रियाँ होती हैं उन सभी का माता के समान आदर करना चाहिए किन्तु इनमें भी अपनी माता श्रेष्ठ होती है तथा इन सबसे अधिक आदर के योग्य होती है।

मनु[2] के स्पष्टीकरण में कुल्लूक का यह विचार है कि यदि पिता की बहन आदि स्त्रियाँ कुछ आदेश दे और माता उसे करने से मना करे तो पुत्र को माता की इच्छा का पालन करना चाहिए, उन स्त्रियों के आदेश का नहीं।

नारायण[3] के विचार से यदि अन्य स्त्रियों का आज्ञा पालन करने में माता का अनिष्ट होने की सम्भावना हो तो उनकी आज्ञा नहीं माननी चाहिए। मेधातिथि[4] के अनुसार माता जो आज्ञा देती है वही करना चाहिए, अन्य स्त्रियों की आज्ञानुसार उस कार्य को नहीं करना चाहिए।

---

1. मनु0 2/133
   पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि
   मातृवद् वृत्तिमातिष्ठेन्माता तभ्यो गरीयसी।
2. कुल्लूक मनु 2/133 पर "तेन पितृष्वस्राऽनुज्ञायां दत्तायां मात्रा च विरोधे मातुराज्ञा अनुष्ठेयेति।"
3. नारायण मनु0 2/133 पर "तासामुपकारे क्रियमाणे यदि मातुरनिष्टं स्यात् तदा न कार्यम्।"
4. मेधातिथि मनु0 2/133 पर, "यदा माताज्ञां ददाति तदा मातुराज्ञा क्रियते न ताम्ाम्।"

उपर्युक्त टीकाकारों की उक्तियों से स्पष्ट है कि माता की जैसी भी जो कुछ भी आज्ञा हो व्यक्ति को उसका सदा पालन करना चाहिए। माता को जैसी गुरुता प्रदान की गयी है, उससे मातृत्व की महत्ता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। मनु[1] ने यहाँ तक कहा है कि माता का अपमान दुःखित होकर भी नहीं करना चाहिए। दारुण दुःखों का सामना करके अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में भी बच्चे की रक्षा करने वाली माता कुछ कटु भी कहे तो भी सन्तान को बिना किसी मनोमालिन्य के उसे सह लेना ही उचित है। स्वयं मनु[2] ने कहा है कि बालक के उत्पन्न होने में गर्भधारण, प्रसव वेदना, पालन, रक्षण, संवर्धन, अध्यापनादि कर्म द्वारा माता-पिता जिस कष्ट को सहते हैं उसका बदला सैकड़ों वर्षों में भी वह चुका नहीं सकता।

अतएव यह उचित ही है कि इतना कष्ट उठाने वाली माता की आज्ञा एवं सहमति के बिना कुछ न किया जाय। शास्त्रकारों[3] की दृष्टि में माता

---

1. मनु0 2/225
2. मनु0 2/227 यं माता पितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
   न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि।।
   कुल्लूक— मातुस्तावत्कुक्षौ धारणदुखम्, प्रसववेदनाऽतिशयो।
   जातस्य रक्षणवर्धनकष्टं च पितुरधिकान्येव।।
   रक्षा संवर्धन-दुखम् उपनयनात्प्रभृति वेद।
   तदङ्गाध्यापनादिक्लेशातिशय इति सर्वसिद्धम्।।
3. मनु0 2/228, 229

को अपने आचरण एवं सेवा सत्कार द्वारा जो पुत्र प्रसन्न कर लेता है उसे समस्त व्रतों द्वारा मिलने वाला फल माता की प्रसन्नता से ही प्राप्त हो जाता है माता की सेवा करना श्रेष्ठ तप के समान है। यहाँ तक कि पुत्र को माता की आज्ञा के बिना किसी दूसरे धर्म का आचरण नहीं करना चाहिए। जो माता को प्रसन्न कर लेता है वही पुत्र तीनों लोकों को प्राप्त कर पाता है और देदीप्यमान शरीर वाला होकर सूर्यादि देवताओं के समान स्वर्ग में आनन्द प्राप्त करता है।[1] माता का आदर करने वाले व्यक्ति ने मानों सब कार्यों का आदर कर लिया। उसके मातृसेवा कर्म का फल समस्त धर्मों के आदर का सत्फल होता है, किन्तु जो अपनी माता का निरादर करता है, वह चाहे जितने भी धार्मिक कर्म करे, वे सब निष्फल ही रहते हैं, अर्थात् समस्त धर्मों के धार्मिक कृत्य करने के बाद मनुष्य जिस पुण्य का उपार्जन करता है वह उसे केवल माता का आदर करने से ही प्राप्त हो जाता है।[2] माता के जीवनकाल में पुत्र को कोई भी धार्मिक कृत्य या पुण्य कार्य भी बिना उसकी आज्ञा के नहीं करना चाहिए। केवल माता[3] की ही इच्छानुसार चले, सदा उसी का हित करने में तत्पर रहे और सेवा में संलग्न रहे। परलोक[4] सिद्धि के लिए पुत्र जो कुछ भी कार्य करे उसे मन, वचन एवं कर्म से माता को अवश्य निवेदित कर दे।

---

1. मनुस्मृति 2/232
2. मनुस्मृति 2/234, 237
3. मनुस्मृति 2/235
4. मनुस्मृति 2/226

पुत्र का परम धर्म है कि वह वृद्धावस्था में तथा पिता की मृत्यु के पश्चात् सदा माता की रक्षा करे, जो पुत्र ऐसा नहीं करता वह दण्डनीय होता है।[1] पुत्र को किसी भी अवस्था में माता का त्याग करने का अधिकार नहीं है। मनु[2] के मतानुसार बूढ़े माता-पिता का पालन पोषण एक सौ निकृष्ट कार्य करके भी करना चाहिए। यदि कोई पुत्र अपनी निर्दोष माता का त्याग करता है तो वह छः सौ पणों द्वारा दण्डनीय है।[3] कुल्लूक[4] के अनुसार यही दण्ड उसके पुत्र को भी मिलना चाहिए जो अपनी माता की देखभाल भली प्रकार नहीं करता हो और उसका अपमान एवं अवहेलना करता हो, भले ही उसने अपनी माँ का त्याग न किया हो। मेधातिथि[5] के विचार से माता पुत्र के प्रति कभी भी पतित नहीं होती। अतएव पुत्र किसी भी दशा में माता की अवहेलना करता है तो वह छः सौ पणों द्वारा दण्डनीय होता है अर्थात् पतिता माता का त्याग करने वाला पुत्र भी दण्डनीय है। ऐसा व्यक्ति जो कि माता का त्याग करता है उसको श्राद्ध भोजन में वर्जित माना गया है।[6] जो व्यक्ति माता को दोष लगाकर

---

1. मनुस्मृति 9/3, 4 "मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता"
2. मनुस्मृति 11/10 वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः।
   अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्।।
3. मनुस्मृति 8/389
4. मनुस्मृति 8/389 कुल्लूक की टीका
5. मेधातिथि मनु0 8/389 पर "न माता पुत्रं प्रतिपतति"
6. मनु0 3/157

निन्दा करता है उसको सौ पणों का दण्ड दिया गया है।[1] माता की बुराई करना पाप है। मेधातिथि[2] के मत से यह सौ पणों का दण्ड उस व्यक्ति को भी मिलना चाहिए जो कि माता तथा पुत्र के प्रति भेद पैदा करता है। यहाँ तक कि यदि पुत्र "मैं दीर्घ काल तक बाहर जा रहा हूँ" ऐसा कहकर माता को व्याकुल कर दे तब भी उसे सौ पणों का दण्ड मिलना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पतित होने पर पिता का त्याग तो पुत्र कर सकता है, किन्तु माता का नहीं। बौधायन ने जातिच्युत माता से बोलना मना किया है, किन्तु उनका भी पालन पोषण करना पुत्र का आवश्यक कर्तव्य माना है। मातृपोषण का ऐसा कड़ा प्रतिबन्ध लगाकर स्मृतिकारों ने वृद्धा, विधवा, रोगिणी तथा परित्यक्ता माताओं के लिए सुनिश्चित आवास एवं भरण पोषण की व्यवस्था कर दी जिससे कि वे अपने आपको आश्रयहीन अनुभव न करें। शास्त्रकारों का स्त्री की दशा सुधारने का यह अत्यन्त सराहनीय प्रयत्न था, किन्तु फिर भी विधवा के दायाधिकार न्यूनतम थे। वह पुत्र पर ही पूर्णतया आश्रित थी। अतएव पति की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति पुत्रों में विभाजित हो जाती थी। केवल अपने स्त्रीधन पर ही उसका पूर्ण प्रभुत्व था।

स्मृतिकारों ने पुत्र द्वारा माता को जो सम्मान व प्रतिष्ठा दिलवायी

---

1. मनुस्मृति 8/275
2. मनुस्मृति 8/275 पर मेधातिथि द्वारा टीका "मातृपुत्रपित्रादीनां परस्परभेदन कर्तुरयं...।"

है वह अत्यन्त सराहनीय है। जिस नारी को सामान्यतः निन्दा एवं भर्त्सना के अनेक शब्द सुनने पड़े हैं, वह माता के रूप में अत्यधिक प्रशंसात्मक एवं सम्माननीय दृष्टि से देखी गयी है। माता की महत्ता का पग-पग पर वर्णन, माता के रूप में उसको अचानक समस्त अधिकार प्राप्त हो गए यहाँ तक कि माता की आज्ञा के बिना कोई पुण्य कार्य भी नहीं कर सकते हैं। जातिच्युत स्त्री सारे समाज से बहिष्कृत हो सकती है, किन्तु एक मात्र पुत्र के लिए नहीं।

वस्तुतः स्त्री जीवन की सफलता ही मातृत्व में हैं। मनु[1] के अनुसार— माता बनने के बाद ही वह अपने पूर्ण नारीत्त्व को प्राप्त कर पाती है। माता बनने के लिए ही स्त्रियों की रचना हुई है। नारी के मातृत्त्व का सम्मान करते हुए ही स्मृतिकारों[2] (वही वसिष्ठ और विष्णु) ने तीन मास की गर्भिणी महिला को कर से मुक्त रखा है। मनु के मतानुसार राजमार्ग पर गन्दा करने वाली गर्भिणी को कोई दण्ड नहीं दिया जाता था केवल 'फिर कभी ऐसा मत करना' इतना कहकर और उससे गन्दगी साफ करवाकर छोड़ दिया जाता था।[3] उसके लिए यह उदारता मातृत्त्व पर दया एवं श्रद्धा की भावना से ही दिखायी गयी है।

मातृत्व के अभाव में नारी निम्न समझी गयी है और मातृत्त्व का

---

1. मनुस्मृति 9/76 "प्रजननार्थं स्त्रियः सृष्टाः"
2. मनुस्मृति 8/407, वसिष्ठ 19/23, विष्णु 5/12
3. मनुस्मृति 8/283

गौरव एवं अधिकार पुत्रोत्पादन में ही है। माता संसार में सर्वोत्कृष्ट मानी गयी है। संसार के सभी धर्मों में एक स्वर से माता को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। यद्यपि पिता भी बालक के भरण पोषणादि के लिए कष्ट सहन करता है, किन्तु माता की तुलना में पिता का त्याग बहुत कम है। ठीक ही कहा गया है कि ''माता साक्षात् भगवान की ही रूप होती है''[1] इसीलिए समस्त देवियों को 'माँ' शब्द से सम्बोधित किया गया है। 'माँ' की कृपा से ही मानव जाति फलती फूलती है।

स्मृतिकालिक समाज में पुत्री, पत्नी तथा माता के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी सम्बन्ध हैं जो कि जीवन में पुरुष ने नारी के साथ स्थापित किए हैं, इनमें वेश्या, रखैल तथा दासी एवं विधवा प्रमुख स्थान रखती हैं। इन स्त्रियों की भी चर्चा स्मृतियों में स्थान-स्थान पर की गयी है।

इस प्रकार स्मृतियों मे नारी की प्रचुर प्रशंसा की गयी है, उसकी महिमा के अमित गुण गाये गए हैं, वहाँ उन्ही स्मृतियों में नारी की निन्दा भी की गयी है और उससे बचे रहने का स्पष्ट आदेश दिया गया है। यद्यपि स्मृतियों में नारी निन्दा की अपेक्षा नारी स्तुति के प्रसङ्ग कही अधिक हैं। स्मृतिकारों में मनु[2] ने नारियों की सर्वाधिक निन्दा की है। उनके अनुसार मद्यपान, दुष्टों का संसर्ग, पति से विरह, इधर-उधर घूमना, असमय सोना और दूसरे के घर निवास करना—ये स्त्रियों के छह दोष हैं।

---

1. एलेक्सिस
2. मनुस्मृति 9/13

*पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।*

*स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्।।* (मनु० 9/13)

मनु के अनुसार वे इतनी कामान्ध होती है कि गुणों की परीक्षा किए बिना किसी भी पुरुष से इसलिए संसर्ग करती हैं कि वह पुरुष है।[1] कामवासना से चित्त की चञ्चलता और स्वभावतः स्नेह का अभाव होने से स्त्रियाँ यत्नपूर्वक रक्षित किए जाने पर भी पति के विरुद्ध हो जाती हैं।[2] वास्तव में सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनु ने स्त्रियों का स्वभाव ऐसा बना दिया—शय्या, आसन, आभूषण, काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोहभाव और दुराचरण इन दुर्गुणों को मनु ने स्त्रियों के लिए सृष्ट किया।

यदि मनु[3] स्त्रियों का स्वभाव ऐसा ही मानते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वह स्त्रियों से सावधान रहने का परामर्श देते हुए कहते हैं[4] कि "इस लोक में पुरुषों को विकारग्रस्त कर देना—यह नारियों का

---

1. मनुस्मृति 9/14 — नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः।
   सुरुपं वा विरुपं वा पुमानित्येव भुञ्जते।
2. मनुस्मृति 9/15 — पौश्चल्याच्चलचित्ताश्च नेस्नेहाश्च स्वभावतः।
   रक्षिता यत्नेताऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते।।
3. मनुस्मृति 9/17
   शय्याऽऽसनमलङ्कारं कामं क्रोधमनावर्जनम्।
   द्रोहभावं कुचर्या च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत्।।
4. मनुस्मृति 2/213
   स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
   अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः।।

स्वभाव है। अतएव बुद्धिमान् पुरुष नारियों की ओर से कभी प्रमाद नहीं करते अर्थात् असावधान नहीं रहते।

मनु[1] के मतानुसार संसार में कोई मूर्ख हो चाहे विद्वान् काम, क्रोध के वशीभूत हुए पुरुष को स्त्रियाँ अनायास ही कुमार्ग में ले जा सकती हैं। इसलिए पुरुष को चाहिए कि वह माता, बहिन या पुत्री के पास भी एकान्त में न बैठे, क्योंकि इन्द्रिय समूह इतना बलवान है कि विद्वान् के चित्त को भी खींच लेता है।

इस तरह स्मृतियों में जहाँ कहीं-कहीं पर नारियों की निन्दा मिलती है उससे भी सती साध्वी नारी का महत्त्व ही सूचित होता है। नारी निन्दा दो दृष्टियों से है—प्रथम तो ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी के मन में स्त्रियों की ओर से वैराग्य उत्पन्न करने के लिए नारी को नरक का द्वार कहा गया है। उसके लिए निःसंदेह ही नारी का संसर्ग वैसा ही है। दूसरी उन दुष्टा स्त्रियों की निन्दा की गयी है, जो लज्जा को तिलाञ्जलि दे अधर्म के मार्ग पर चलती हैं। अतः वह वास्तव में नारी निन्दा नहीं, उसके दुर्गुण दुराचार की निन्दा है। दुराचार परायण पुरुष हो या स्त्री सभी निन्दा के पात्र हैं। कन्या, बहन, पत्नी तथा माता सभी रूपों में नारी पुरुष

---

1. मनुस्मृति 2/215

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्।।
मात्रा स्वस्रा दुहिता वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।।

के स्नेह, प्रेम और आदर की अधिकारिणी है। वास्तव में वह पुरुष की जननी होने के कारण सर्वदा पूजनीय है।

गणिका—स्मृतिकाल की भी सामाजिक संस्कृति में कतिपय ऐसी नारियाँ होती थीं, जिनका सार्वजनिक स्वरूप था अर्थात् वह सबकी थीं। ये ही कालान्तर में गणिका (वेश्या) नाम से समाज का अङ्ग बन गयीं। गणिकाओं का अस्तित्त्व स्मृतिकाल में भी रहा। मनु[1] गणिकाओं के प्रति अत्यन्त अनुदार हैं। उनके हाथ से किसी वस्तु तक का ग्रहण करना उनकी दृष्टि में पातक है। मनु[2] कहना है—"यदि कोई गणिका के हाथ से भोजन ग्रहण करता है तो वह परलोक (स्वर्ग) से च्युत हो जाता है। गणिकाओं के माध्यम से प्राप्त आय वाले पुरुष द्वारा प्रदत्त भोजन भी गर्हित है। मनु गणिका एवं उनके स्थानों की परिगणना शौनिक गृह (कसाईखाना) से भी बढ़कर घृणित सा करते हैं।[3]

---

1. मनुस्मृति 4/219

   कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च।
   गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति।।

2. मनुस्मृति 4/84

   न राज्ञः प्रतिगृहणीयाद राजन्य प्रसूतितः।
   सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम्।।

3. मनुस्मृति 4/85

   दशसूनासम चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः।
   दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः।।

मनु[1] गणिकाओं के प्रति अत्यन्त कठोर होने के कारण, उनके जीवन एवं ज़ीवन निर्वाह आदि, विषयक कोई प्रावधान ही नहीं किये हैं। उनकी दृष्टि में यह अत्यन्त विषम सामाजिक दूषण भी भूमि है, नृपति द्वारा इन्हें दण्डित किया जाना चाहिए। उनकी[2] हत्या तक कर देने वालों को मनु साधारण प्रायश्चित्त का विधान करते हैं। याज्ञवल्क्य[3] ने गणिकाओं के विषय में कुछ व्यवस्थाएं दी हैं—यदि कोई गणिका (वेश्या) शुल्क प्राप्त कर लेने के पश्चात् ग्राहक को अस्वीकार करें तो वह शुल्क का द्विगुणित धन ग्राहक को दें।

गणिकाओं का अपना एक समाज में अस्तित्त्व प्राप्त हो चुका था उनके अपने सङ्घ व्यवस्थित हो गये थे।[4] मनुस्मृति में गणिकाओं के लिए 'वेश्या' शब्द मिलता है। इसके बारे में कुछ व्यवस्थायें दी गयी हैं, परन्तु

---

1. मनुस्मृति 9/259, 260।
2. मनुस्मृति 11/138

   जीनकार्मुकवस्तावीन्पृथग्दद्याद्विशुद्धये।
   चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः।।

3. याज्ञवल्क्यस्मृति 2/294

   ऊनं वाऽभ्यधिकं वाऽपि लिखेद्यो राजशासनम्।
   पारदारिक चौरं वा मुञ्चतो दण्ड उत्तमः।।

4. पतञ्जलिमहाभाष्य 6/12

   गणिकानां समूहो गाणिक्यम्।
   नटानां स्त्रियोरंगता यो यः पृच्छति,
   कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तं तव तवैत्याहुः।।

न तो वे सामाजिक दृष्टि से सम्मानित समझी जाती थीं और न ही इससे गणिका के किसी आदर्श का ज्ञान प्राप्त होता हो सका है। मनु[1] ने वेश्या से अन्न ग्रहण करना पाप समझा है। वे उसे लोक कण्टक की श्रेणी में रखते हैं। वे "निपुणाः पण्ययोषितः" अर्थात् परवशीकरण कुशल देह व्यापार वाली स्त्री मनु वेश अर्थात् पण्यस्त्री की भृति से जीविका करने वाले व्यक्ति से दान भी नहीं लेने का आदेश देते हैं। "न प्रतिगृह्णीयात् वेशेन जीवताम्"। सामान्यतः गणिका सर्वभोग्या मानी जाती रही है।

विधवा—स्मृतियों के अध्ययन से सङ्केत मिलता है कि तात्कालीक सामाजिक संस्कृति में विधवा जीवन गर्हित न था। विधवायें उपेक्षणीय अथवा अदर्शनीया नहीं मानी जाती थीं। उन्हें सामाजिक अथवा गृह के शुभायोजनों में भाग लेने का समान अधिकार नहीं था। गृह में अन्य स्त्रियों की ही भाँति वह भी सामान्यतः सहज जीवन यापन करती थी। प्रतिबन्ध मात्र इतना था कि वह पवित्र जीवन बितायें। मनु[2] के अनुसार पति के निधन के बाद भी पातिव्रतधर्म का पालन करें। ऐसा कोई काम न करें जिससे पति अप्रसन्न हो अथवा उसकी आत्मा (मृत्यु के बाद) को कष्ट

---

1. मनुस्मृति 4/209/(4/219 में भी उद्धृत है)

   गणचान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः।
   गणान्नं गणिकाऽन्नं च विदुषा च जुगुप्सितम्।।

2. मनुस्मृति 5/156-58 पाणिग्रहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
   पतिलोकमभीप्सतो नाचरेत् किञ्चिदप्रियम्।।
   आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
   यो धर्मं एकपत्नीनांकांक्षन्ती तमनुत्तमम्।।

पहुँचे। यही कारण है कि मनु[1] की दृष्टि में विधवा का पुनर्विवाह उसकी पवित्रता को दूषित करने के समान है—साध्वी स्त्री के लिए दूसरे पति का कोई विधान नहीं है। कन्या[2] एक बार ही प्रदान की जाती है और विवाह विधि के अन्तर्गत कोई भी प्रावधान विधवा-विवाह के लिए नहीं किया गया है। मनु के अनुसार पति और पत्नी का सम्बन्ध अटूट होता है। यह सम्बन्ध दोनों में से किसी एक के मर जाने पर भी बना रहता है। इसलिए विधवा को अपने मृत पति के प्रति ईमानदार रहना चाहिए। उन्होंने विधवा को कन्द पुष्प व फल खाने, अपने शरीर को दुर्बल बनाने तथा परपुरुष का नाम तक न लेने का उपदेश दिया है। विधवा को मृत्युपर्यन्त क्षमाशील रहना चाहिए तथा मधु, माँस, मद्यादि का त्याग करके ब्रह्मचर्य व्रत का दृढ़ता से पालन की बात कही है। सदाचारिणी विधवा पुत्रहीन होकर भी अपने सतीत्व की रक्षा करती हुई स्वर्ग पद की

---

1. मनुस्मृति 5/162

   नान्योत्पन्ना प्रजास्त्री हन चाप्यन्यपरिग्रहे।
   न द्वितीयाश्च साध्वीनां क्वचिद्भतोपदिश्यते।।

2. मनुस्मृति 9/47 एवं 65

   सवृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
   सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत।।
   नोद्वाहिकेषु मंत्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचिद्।
   न विवाह विधावुक्तं विधवावेदनं पुनः।।

अधिकारिणी होती है।[1] मनु[2] यद्यपि स्त्रियों के प्रति पर्याप्त उदार थे तथापि विधवा को मृत पति की सम्पत्ति का अधिकारिणी न मानकर उन्होंने अनुदारता का परिचय दिया। मनु ने अपनी मनुस्मृति में लिखा है कि पिता की सम्पत्ति के हकदार उसके पुत्र होंगे विधवा नहीं।

मनु[3] के अनुसार वाग्दान करने के बाद जिसका पति मर जाय उसके साथ उसका देवर नियोग कर सकता है। नियोग का अर्थ—किसी नियुक्त पुरुष से सम्भोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति के लिए पत्नी या विधवा की नियुक्ति।। वह विधवा[4] जो पुनर्विवाह करे, पातक भागिनी है एवं ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र औरस नहीं है और न तो उसको साम्पतिक अधिकार ही प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए मनु[5] ने प्रतिपादित किया है कि यदि कोई स्त्री

1. मनुस्मृति 5/157-160

कामं तु क्षमयेद्देहं पुद्देष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु।। 5/157
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः।। 5/160

2. मनुस्मृति 9/185

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौप्रत्यनन्तरे।
नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ।।

3. मनु0 9/67-70

4. मनु0 9/166 स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धियम्।
तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम्।।

5. मनु0 5/161

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते।।

(विधवा) पुत्रलाभ प्रयोजन से मृत पति के प्रति अपने कर्तव्यों की अवहेलना (पातिव्रत धर्म का उल्लंघन) करती है तो वह इस लोक में अपने सम्मान का हनन करके परलोक में (स्वर्ग में) अपने पति के साथ रहने के अधिकार से च्युत हो जाती है। पुनर्विवाह की बात तो दूर मनु[1] की व्याख्या में स्त्री (विधवा) अन्य पुरुष की कल्पना भी नहीं कर सकती भले ही विधवा स्त्री कठिनाइयों में जीवन धारण कर रही हो, तो भी उसे पति की मृत्यु के पश्चात् किसी अन्य पुरुष का नाम तक नहीं उच्चारण करना चाहिए। अतः सभी स्मृतिकारों ने विधवा को ब्रह्मचारिणी रूपी जीवन प्रशस्त माना है।

दासी—दासियों के प्रति स्मृतिकारों का दृष्टिकोण काफी उदार एवं सहानुभूतिपूर्ण है। मनु[2] ने दासियों को उचित वेतन देने का निर्देश दिया है। सम्भवतः मनु को उनकी दयनीय स्थिति पर तरस आया था, क्योंकि मनु का कहना था कि राजा अपने पुत्रों को जिस नाप से शारीरिक दण्ड देता है, उसी नाप से दासियों को भी दे। अन्यत्र मनु[3] ने ऐसा सुझाव

---

1. मनुस्मृति 5/157
2. मनुस्मृति 7/125

   राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च।
   प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः।।

3. मनुस्मृति 8/299, 300

   भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः।
   प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्जवा वेणुदलेन वा।।
   पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथञ्चन।
   अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम्।।

दिया कि स्त्री, पुत्र, दास बाहर भेजा जाने वाला नौकर, सहोदर भाई आदि अपराध् करें तो उसे रस्सी से या पतली व बाँस की छड़ी से मारना चाहिए। उन्हें पीठ एवं मस्तक पर कभी न मारें। अन्यथा मस्तक पर मारने वाला मनुष्य चोर के समान पाप का भागी होता है। परन्तु इसके पश्चात् मनु[1] ने यह भी व्यवस्था दी है कि दासी या दास जो धन उपार्जित करते हैं वह सब स्वामी का होता है।

तैत्तिरीयसंहिता[2] एवं उपनिषदों में भी दासियों की चर्चा है। ऐतरेयब्राह्मण[3] में एक राजा ने राज्याभिषेक कराने वाले पुरोहित को दस हजार दासियों और 10 हजार हाथी दिए। कठोपनिषद् , छान्दोग्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् में दासियों की चर्चा है। इन चर्चाओं से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में पुरुष एवं नारियों का दान हुआ करता था और भेंटस्वरूप दिए गये लोग दास माने जाते थे।

---

1. मनुस्मृति 8/416

   भार्या पुत्रश्च दासश्च तत्र एवाधनाः स्मृताः।
   यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्।।

2. तैत्तिरीय संहिता 2/2/6/3 और 7/5/10/1
3. ऐतरेय ब्राह्मण 39/8
4. कठोपनिषद् 1/1/25, छान्दोग्योपनिषद् 5/13/2 और 7/24/2
   "गो अश्वमिति महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्य क्षेत्राण्यायतनानीति (छान्दोग्योपनिषद् 7/24/2), **बृहदारण्यकोपनिषद्** 6/2/7।

गृह्यसूत्रों में स्वामी को दासों एवं दासियों के साथ मानवीय व्यवहार का उल्लेख किया गया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र[1] में आया है कि अचानक अतिथि के आ जाने पर अपने को स्त्री या पुत्र को भूखा रखा जा सकता है, किन्तु दासियों को नहीं; जो सेवा करती है। महाभारत[2] के सभापर्व, वनपर्व एवं विराटपर्व में दासियों के दान की प्रभूत चर्चा की गयी है।

मनु[3] के अनुसार यहाँ तक कि यदि दासी को पुत्र उत्पन्न हो वह भी स्वामी का नहीं माना जायेगा। कौटिल्य[4] एवं कात्यायन[4] के अनुसार यदि स्वामी दासी से मैथुन करे और सन्तानोत्पत्ति हो जाय तो दासी एवं पुत्र को दासत्व से छुटकारा मिल जाता है। याज्ञवल्क्य और नारद[5] ने

---

1. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/4/9/11
2. महाभारत— सभापर्व 52/45,
   वनपर्व—233/43
   विराटपर्व—18/21
3. मनु0 9/48

   यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च।
   नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि।।
4. कौटिल्य 3/13 "म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा/न त्वेवार्यस्य दासभावः।"
   कात्यायन 723 (पी0 वी0 काणे पृ0 174 पर उद्धृत)
5. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/183

   वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः।

   नारद (अभ्युपेत्याशुश्रूषा 39)

   "वर्णानामानुलोभ्येन दास्यं न प्रतिलोमतः।"

वर्णों के अनुसार दासों की व्यवस्था दी है। मनु[1] के अनुसार दासी में वा दास की स्त्री में जो शूद्र का पुत्र हो वह पिता से तुम भी विवाहित स्त्रियों के पुत्रों के बराबर धनका भाग लो। इस प्रकार आज्ञा पाकर (पितृ धन का) बराबर भाग लेने वाला होता है। ऐसी तात्कालिक धर्म की व्यवस्था थी।

इस प्रकार स्मृतिकारों ने स्त्री के लगभग सभी पक्षों पर अपना विचार प्रकट किया है। ध्यातव्य है कि मनु और अन्य स्मृतिकारों ने स्त्रियों की पर्याप्त प्रशंसा एवं निन्दा दोनों की है।

---

1. मनुस्मृति 9/179

दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सूतो भवेत्।
सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः।।

# दिनचर्या अथवा कर्तव्य

नारियों (पत्नी) की दिनचर्या अथवा कर्तव्य के विषय में पर्याप्त चर्चा हुई है। स्मृतिकारों ने पत्नी का मुख्य धर्म पति की सेवा करना, पातिव्रत धर्म पालन तथा गृहकार्यों को सँभालना बताया है। इसी धर्म के आधार पर मनु[1] ने स्त्रियों के लिए पतिसेवा को ही गुरुकुलवास सदृश तता गृहकार्यों को अग्निहोत्र के तुल्य मान लिया है। मनु[2] ने पत्नी के लिए कर्तव्यों का विवरण इस प्रकार दिया है—पत्नी में चार गुण होने चाहिए—(1) सदा हँसमुख रहे, (2) गृहकार्यो में दक्ष हो (3) घर का सब सामान साफ रखें तथा (4) अपव्ययी न हो।

याज्ञवल्क्य[3] एवं विष्णु[4] ने सास-श्वसुर की चरणवन्दना उत्तम आचरण

---

1. मनुस्मृति (2/67)

   वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
   पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया।।

2. मनुस्मृति (5/150)

   सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
   सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया।।

3. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/83, 1/87

   संयतोपस्करा दक्षा हृष्टा व्ययपराङ्मुखी।
   कुर्याच्छ्शुरयोः पादवन्दनं भर्तृतत्परा।।
   पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा विजितेन्द्रिया।
   सेह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तयां गतिम्।।

4. विष्णुस्मृति 25/1-6

एवं संयम भी पत्नी के लिए आवश्यक गुण माने हैं। मनु ने कहा है कि पिता अथवा पिता की आज्ञा से भाई ने स्त्री को जिसे सौंप दिया हो, उसी पति की जीवन पर्यन्त सेवा करनी चाहिए। मनु[1] ने कहा है कि पति की मृत्यु के बाद भी पत्नी को यह नहीं सोचना चाहिए कि अब वह अपनी इच्छानुसार हर कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है, अपितु जिस प्रकार पति के जीवन काल में परतन्त्र थी, उसी प्रकार पति की मृत्यु के बाद भी आचरण करना चाहिए अर्थात् उसका जीवन सादा तथा पवित्र होना चाहिए।

कई स्मृतियों में पत्नी के लिए निषिद्ध कार्यों का उल्लेख किया है। मिताक्षरा में स्त्रियों के शोभन आचरण को स्पष्ट करने के लिए शङ्ख[2] द्वारा निर्दिष्ट कार्यों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—पत्नी को कभी पति अथवा अन्य बड़े व्यक्तियों से पूछे बिना घर के बाहर नहीं जाना चाहिए, उत्तरीय ओढ़े बिना नहीं जाना चाहिए, जल्दी नहीं चलना चाहिए, व्यापारी, संन्यासी, बूढ़े तथा वैद्य के अतिरिक्त किसी पर पुरुष से बात नहीं करनी

---

1. मनुस्मृति 5/151-156
2. मिता0, याज्ञ0 1/87 पर "शोभनश्चाचारो दर्शितः शङ्खेन—"नानुक्ता गृहान्निर्गच्छेत्। नानुत्तरीया। न त्वरितं व्रजेत्। न परपुरुषमभिभाषेतान्यत्र वणिक्प्रव्रजितवृद्धवैद्येभ्यः। न नाभि दर्शयेत्। आ गुल्फाद्वासः परिदध्यात्। न स्तनौ विवृतौ कुर्यात्। न हंसेदनपावृता। भर्तारं तद्बन्धून्वा न द्विष्यात्। न गणिका धूर्ताभिसारिणी प्रव्रजिताप्रेक्षणिकामायामूल कुहकारिका दुःशीलादिभिः सहैकत्र तिष्ठेत्। संसर्गेण हि कुलस्त्रीणां चारित्र्यं दुष्यति इति।।"

चाहिए, नाभि खुली नहीं होनी चाहिए, एड़ी तक कपड़ा पहनना चाहिए, वक्षस्थल से कपड़ा नहीं हटना चाहिए, मुँह ढँके बिना हँसना नहीं चाहिए, पति अथवा अन्य सम्बन्धियों से घृणा नहीं करनी चाहिए तथा पत्नी को वेश्या, धूर्ता, अभिसारिका संन्यासिनी, भाग्य बताने वाली जादू टोना, तथा गुप्त विधियाँ करने वाली दुःशीला स्त्रियों की सङ्गति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इनकी सङ्गति से कुलस्त्रियो का चरित्र खराब हो जाता है।

बृहस्पतिस्मृति[1] में कहा गया है कि पत्नी का धर्म है कि वह पति आदि बड़े व्यक्तियों से पहले सोकर उठ जाय, भोजनादि उनसे बाद में करे तथा उनसे नीचे आसन पर बैठे। व्यासस्मृति[2] में अत्यन्त विस्तार के साथ पत्नी के दैनिक कर्तव्यों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

स्त्री को चाहिए कि वह पति के सोकर उठने से पहले ही उठ जाय। हाँथ-मुँह धोकर अपने विस्तर को समेटकर, गृह की साफ सफाई करके, अग्निहोत्र के उपयोग में आने वाले पात्रों को गर्म जल से धोकर शुद्ध करके यथास्थान रख दे। जहाँ दो पात्र एक साथ रखे जाते हों, वहाँ वैसे ही रखे, उन युग्म पात्रों को अलग-अलग न करे। चावल आदि रखने के जो पात्र हैं, उन्हें धो-पोंछकर साफ करके चावल आदि से पूर्ण करके

---

1. बृहस्पतिस्मृति चन्द्रिका व्यवहार पृ0 257

   पूर्वोत्थानं गुरुर्ष्वाक भोजनं व्यञ्जनक्रिया।
   जघन्यासनशामित्त्वे कर्म स्त्रीणामुदाहृतम्।।

2. व्यास स्मृति 2/20-36

रखे। जल के सभी पात्रों में जल भरकर रखे। भोजन के सभी बर्तन को धो-माञ्जकर शुद्ध करके नियत स्थान पर रखे। तत्पश्चात् भोजन पात्र कहाँ है, भोज्य पदार्थ और जल मौजूद है कि नहीं, खर्च के लिए पैसे कितने हैं—इन सब बातों पर विचार और सम्भाल करके चूल्हे को मिट्टी से लीप पोतकर उसमें आग जलावे। इस प्रकार क्रमशः प्रातः कालीन नित्यकर्म समाप्त करके नारी सास-श्वसुर आदि गुरुजनों को प्रणाम करे। उसके बाद पति, पिता, माता, मामा तथा अन्य बन्धु-बान्धवों के द्वारा प्राप्त हुए वस्त्र और अलङ्कारों को आवश्यकता के अनुसार धारण करें। साध्वी स्त्री प्रत्येक शुभ कार्य में पति को मित्र की भाँति उचित परामर्श दें। पति जो कार्य बतावे, उसे दासी की भाँति दत्तचित होकर पूर्ण करे और सदा छाया की भाँति पति की अनुगामिनी बनी रहे पतिव्रता नारी भोजन तैयार करके पति को सूचित करे। जब पति बलिवैश्वदेव आदि कार्य पूर्ण कर ले तो पहले बालकों और अतिथियों को भोजन कराकर तब (गुरुजनों) एवं पति को भोजन करावें। इसके बाद पति की आज्ञा से स्वयं भोजन करे। दिन के तीसरे पहर में घर का हिसाब-किताब देखें।

प्रातःकाल की भाँति सन्ध्या के समय भी पतिव्रता स्त्री घर को स्वच्छ करके, भोजन बनावे और उक्तक्रम से ही पति को भोजन करावे। सायंकालीन दीप-दान और शङ्ख ध्वनि आदि गृह के नित्य-कृत्य समाप्त करके स्वयं भोजन करे। सब कार्यो के पश्चात् सुन्दर शय्या बिछाकर पति को आराम से शयन करने की प्रार्थना करे और स्वयं प्रेमपूर्वक उनकी

यथावत् सेवा करे। पति के सो जाने पर पति का ही ध्यान करके स्वयं भी सो जाय। उस समय नारी कपड़े सँभालकर सतर्क होकर सोवे। कामनाशून्य एवं जितेन्द्रिय रहे। स्त्री को धीरे-धीरे बोलना चाहिए। वह न तो कड़ी बात कहे और न अधिक बोले। अभिज्ञान[1] में कहा गया है कि पति से कभी भी अप्रिय वचन न कहे। किसी से भी विवाद न करे। प्रलाप और विलाप भी न करे। अधिक खर्चीली न बने। पति के धर्म-कार्य की विरोधिनी न बने। असावधानी, चञ्चल (मिलन), चिन्तन, क्रोध ईर्ष्या, प्रवञ्चना, अत्यन्त अभिमान, दुष्टता, जीव हिंसा, सपत्नी-द्वेष, अहंकार, धूर्तता, नास्तिकता, दुःसाहस, चोरी और कपट आदि दोषों का साध्वी स्त्री सदा त्याग करे। इस प्रकार पति को परम देवता मानकर उसकी सेवा करने वाली साध्वी स्त्री इहलोक में यश और कल्याण प्राप्त करती है और परलोक में भी पति के साथ सुख भोगती है।

इन समस्त आदर्शों में पत्नी से जिस गुण की सबसे अधिक अपेक्षा की गयी है, वह है सहनशीलता। मनु[2] का कथन है कि पत्नी को सदा ही प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। इस पर टीका करते हुए कुल्लूक[3] ने कहा है कि पति के विरुद्ध होने पर भी पत्नी सदा प्रसन्नमुख रहे।

---

1. अभिज्ञान शाकुन्तलम में (4/18) (भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः)
2. मनु 5/150 'सदा प्रकृष्ट्या भाव्यम्........।'
3. कुल्लूक, मनु0 5/150 पर "सर्वदा भर्तरि विरूद्धेऽपि प्रसन्नवदनतया"।।

पतिसेवा पर बल देते हुए मनु[1] ने कहा है कि पति भले ही सदाचार से हीन परस्त्री में अनुरक्त और विद्या आदि गुणों से हीन ही क्यों न हो, साध्वी पत्नी के लिए पति से पृथक न कोई यज्ञ है, न व्रत है, न उपवास आदि है। जो पति की सेवा करती है, वही स्वर्ग लोक में यश प्राप्त करती है। शङ्ख[2] के अनुसार स्त्री को स्वर्ग की प्राप्ति पति के पूजनादि सेवा व्रतों से होती है, न कि व्रत, उपवास यज्ञादि विविध धार्मिक कृत्यों से। मनु[3] ने पति सेवा को नारी का धर्म इसलिए भी बताया है, क्योंकि पति उसको इहलोक में नित्य ही सुख देने वाला है तथा पति सेवादि से जन्य पुण्यों के फल से परलोक में स्वर्गादि की प्राप्ति का सुख देने वाला है।

*अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कार कृत्पतिः।*
*सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः।।*

याज्ञवल्क्य[4] के अनुसार स्त्रियों का परम धर्म यह है कि वे सदा

---

1. मनुस्मृति 5/154-155 "विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वापरिवर्जितः"
   मनु का यही (155) श्लोक विष्णुस्मृति (25/15) में भी पाया जाता है।
2. शङ्ख 5/8 "न व्रतैर्नोपवासैश्च (न च यज्ञैः पृथग्विधैः) धर्मेण विविधेन च।
   नारी स्वर्गमाप्नोति प्राप्नोति पति (परिपालनात्) पूजनात्।।
3. मनु 5/153।
4. यांज्ञवल्क्य स्मृति (177)
   स्त्रीभि भर्तुवयः कार्यमेष धर्म परः स्त्रियाः।
   आशुद्धः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः।।

पति की आज्ञा का पालन करें। मनु[1] ने पति की आज्ञा का पालन करने वाली नारी के द्वारा अर्जित पुण्य को बताते हुए कहा है कि मन, वचन एवं काया से पति की आज्ञा एवं इच्छानुसार कार्य करने वाली नारी, मृत्यु के बाद स्वर्ग प्राप्ति का सुख प्राप्त करने वाली होती है तथा परलोक में पति के साथ प्रतिष्ठित होती है। इन वक्तव्यों से यही ज्ञात होता है कि पति की जैसी भी उचित अथवा अनुचित आज्ञा हो, पत्नी को सहर्ष आँख मून्दकर उसका पालन करना चाहिए।

स्मृतिकारों के अनुसार पति की आज्ञा का पालन, उसकी सेवा तथा छाया के समान उसके साथ लगे रहना, मित्र की भाँति परामर्श देना तथा दासी की भाँति आज्ञा की प्रतीक्षा करना ही स्त्री का धर्म है तथा इसी से वह स्वर्ग प्राप्ति के सुख को प्राप्त कर सकती है। विविध देवताओं के पूजन, अर्चन की उसे आवश्यकता नहीं होती, यह सब तो उसके लिए व्यर्थ है। उसके लिए तो पति सेवा ही समस्त फलदायिनी सिद्ध होती है।

शङ्ख[2] के मतानुसार वस्तुतः भार्या कहलाने योग्य वह स्त्री है जो घर की रक्षा करे, अग्नि का आधान करे, पतिव्रता हो, पति को प्राणों के समान समझने वाली हो तथा सन्तान युक्त हो। मनु[3] के अनुसार पातिव्रत

---

1. मंनुस्मृति 5/165, 166
2. शङ्ख 4/14
3. मनुस्मृति0 5/154-155

की मूल भावना यह है कि पति चाहे जो करे, किन्तु पत्नी को अपने पति के प्रति सदा साध्वी रहना चाहिए।

मनु[1] ने कहा है कि जो स्त्री मन, वचन और देह से कभी भी व्यभिचार नहीं करती, वही पति के साथ स्वर्ग में निवास करने वाली साध्वी स्त्री होती है, जिस प्रकार अरुन्धती ने पति लोक को पाया। वृद्ध हारीत ने भी इसी का समर्थन किया है। किन्तु मनु[2] ने कहा है किजो स्त्री परपुरुष के साथ व्यभिचार करके पति के विरुद्ध कार्य करती है वह निन्दित होती है, पाप रोगों से पीड़ित रहती है तथा मरकर सियार के योनि में जन्म लेती है। अतएव स्त्री को सदा पति के अनुकूल रहना चाहिए।

पराशर[3] के अनुसार पति यदि दरिद्र रोगी, मूर्ख भी हो तब भी जो स्त्री उसका पति भाव से आदर नहीं करती है वह मर कर सर्पिणी होती है तथा बार-बार वैधव्य के कष्ट को भोगती है। याज्ञवल्क्य और वृद्धहारीत[4]

---

1. (क) मनुस्मृति— पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता
   सा भर्तृलोकानाप्रोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते।

   (ख) वृद्धहारीत— 8/197
2. मनुस्मृति 9/30 व्यभिचारान्तु भर्त्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
   सृगालयोनि चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते।।
3. पराशर 4/15 "दरिद्रं व्याधितं मूर्खं भर्तारं या मन्यते
   सा मृता जायते व्याली वैधव्यंच पुनः पुनः।।
4. वसिष्ठ 21/15, याज्ञवल्क्यस्मृति 1/75-86,वृद्धहारीत 8/196 ।

सभी स्मृतिकारों ने साध्वी स्त्री की प्रशंसा करते हुए पातिव्रत्य के पालन से ही मोक्ष का प्रतिपादन किया है।

*पतिव्रतानां गृहमेधिनीनां सत्यव्रतानांच शुचिव्रतानाम्।*
*तासां तु लोकाः पतिभिः समाना गोमायुलोका व्यभिचारिणीनाम्।।*

वसिष्ठ 21/15

हारीत ने कहा है कि "जो स्त्री पति के दुःख में दुःखी, मन प्रसन्न होने पर प्रसन्न, विदेश जाने पर कृश तथा मलिन शरीर वाली एवं पति के मर जाने पर मर जाने वाली हो, वही स्त्री पतिव्रता कही गयी है।

उपर्युक्त समस्त वक्तव्यों में नारी को पातिव्रत धर्म का दृढ़ता से पालन करने का उपदेश दिया गया है तथा पातिव्रत धर्म के पालन से स्वर्ग, सुख, कीर्ति, लाभ आदि प्रलोभन दिए गए हैं। इसी पातिव्रत धर्म का अन्तिम सोपान सती धर्म है। पातिव्रत्य महिमा बढ़ते हुए यहाँ तक पहुँची कि मृत पति का आलिङ्गन कर चितारुढ़ हो जाना नारी के पातिव्रत्य का सर्वोत्कृष्ट मापदण्ड स्वीकृत हुआ। इस प्रकार सतीप्रथा की बढ़ा-चढ़ा कर प्रशंसा की जाने लगी। पराशर स्मृति[1] में पतिव्रता सती स्त्री की प्रशंसा इन शब्दों में की गयी है "सर्प को पकड़ने वाला जिस प्रकार बलपूर्वक बिल से सर्प को खींच निकालता है, उसी प्रकार पति का अनुमगन करने

---

1. पराशर स्मृति 4/28

व्यालग्राही यथा व्यालं विलादुद्धरते बलात्।
एवंमुद्धृव्य भर्तारं तेनैव सह मोदते।।

वाली स्त्री स्वामी का उद्धार करके उसी के साथ सुख प्राप्त किया करती है।

पंति के प्रति स्त्रियों के कर्तव्य में 'प्रोषित-पतिका' धर्म भी विशेषरूप से उल्लेखनीय है। अधिकांश स्मृतिकारों ने इस विषय पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला है। प्रोषित पतिका उस स्त्री को कहते हैं—जिसका पति कहीं बाहर गया हो। पति की अनुपस्थिति में पत्नी का व्यवहार, रहन-सहन तथा आचरण कैसा होना चाहिए इस विषय का उल्लेख करते हुए स्मृतिकारों ने तरह-तरह की बातों का निषेध किया है।

याज्ञवल्क्य[1] ने कहा है कि जिस स्त्री का पति विदेश गया हो, वह खेलना, शृङ्गार करना जनसमूह (मेले आदि) उत्सव आदि में जाना, हँसी मजाक और दूसरे के घर जाना इन सब बातों को त्याग दें। व्यासस्मृति[2] में तो ऐसी स्त्री को भर पेट भोजन करने का भी निषेध किया गया है। ऐसी पतिव्रता स्त्री का चेहरा पीला एवं दीन होना चाहिए, शारीरिक शृङ्गार नहीं करना चाहिए और निराहार रहकर शरीर को कृश करना चाहिए।

स्मृतिचन्द्रिका[3] में शङ्खलिखित को उद्धृत करते हुए पत्नी के लिए निषिद्ध कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसे झूले एवं नृत्य से

---

1. याज्ञ0 स्मृति 1/54 — क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
   हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका।।
2. व्यासस्मृति 2/52 — विवर्णा दीनवदना देहसंस्कारवर्जिता।
   पतिव्रता निराहारा शोष्यते प्रोषिते पतौ।।
3. स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहार पृष्ठ 253 पर उद्धृत।

बचना चाहिए। चित्र नहीं देखने चाहिए, उपवनों में घूमना नहीं चाहिए। उत्तम भोजन व पेय नहीं खाना चाहिए। गेंद खेलना, सुगन्धित द्रव्यों का सेवन, झूला, आभूषण दन्तमञ्जन व आँखों में अञ्जन लगाया ये सब पत्नी के लिए वर्जित है। मनु[1] ने भोजन वस्त्र का प्रबन्ध करके परदेश जाने वाले पति की पत्नी को शृङ्गार, परगृहगमनादि का परित्याग करके नियम पूर्वक चर्या का उपदेश दिया है।

किन्तु यदि पति ने भोजन वस्त्रादि का प्रबन्ध न किया हो, तो ऐसी स्थिति में उसे अनिन्दित शिल्प सूत कातना, वस्त्र सीना आदि से धनोपार्जन करके जीवन यापन करने का अधिकार दिया है। विष्णुस्मृति[2] ने ऐसी नारी (प्रोषितभर्तृका) के लिए द्वार, झरोखे आदि पर खड़े होना भी वर्जित माना है।

स्पष्ट है कि स्मृतिकारों ने नारी के लिए, पति के प्रति सर्वात्मना आत्मसमर्पण से बढ़कर अन्य कोई धर्म अथवा कर्तव्य नहीं माना, जिसके फलस्वरूप पातिव्रत्य की कठोर सीमा ने एक तरफ नारियों के द्वारा अत्यन्त गौरवमय त्याग के उदाहरण प्रस्तुत करवाये, दूसरी ओर उसकी सामाजिक स्थिति एवं जीवन के आनन्द को आघात पहुँचाकर आत्महत्या तक के लिए विवश किया।

---

1. मनुस्मृति— विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियमस्थिता।
   प्रोषिते त्वविधायै व जीवेच्छिल्पैरगहितैः।।
2. विष्णुस्मृति— 25/9, 10, 11

सभी स्मृतिकारों एवं टीकाकारों ने माता को अपने बच्चों पर अत्यन्त उत्कृष्ट ढंग का अधिकार दिया है, किन्तु माता के लिए भी बच्चों के प्रति कुछ कर्त्तव्यों का पालन करना अनिवार्य माना है। मनु[1] के अनुसार ने माता का कर्तव्य है कि वह सदा अपने बच्चों का पालन पोषण करे, देखभाल रखे तथा कभी भी उनसे अलग होने की इच्छा न करे। मनु के विार में माता का कर्तव्य है कि वह पति की मृत्यु के बाद पुत्र के संरक्षण में रहे, कभी स्वतन्त्र न रहें।[2]

क्योंकि पुत्र के संरक्षण के अभाव में वह पिता तथा पति दोनों के ही वंशो को निन्दित करती है। मनु[3] तथा अन्य सभी स्मृतिकारों ने माता को पुत्र के अधीन माना है। मनु[4] एवं याज्ञवल्क्य[5] के मत में माता के रूप में नारी स्वतन्त्र नहीं है। पुत्र के अभाव में जाति के लोग उसके रक्षक माने गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि माता को पुत्र अथवा अन्य पुरुष सम्बन्धी जनों के संरक्षण में रहने का आदेश इसलिए दिया गया है जिससे कि वह बाहरी पुरुषों के सम्पर्क से बची रहे। दूसरे उसमें स्वयं

---

1. मनुस्मृति 5/149 'पित्रा भर्ता सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः।'
2. मनुस्मृति 9/3, 5/148
3. मनुस्मृति 5/149 एषां हि विरहेण स्त्री गर्हेय कुर्यादुभे कुले।
4. मनुस्मृति 9/3 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति'
5. यांज्ञवल्क्यस्मृति 1/85

रक्षेत्कन्यां पिता किल पतिः पुत्रास्तु वार्धके।
अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रियः।।

अपना जीवन-निर्वाह करने की पूर्ण सामर्थ्य नहीं होती, पुरुष अभिभावक के अधिकार में रहने से उसका जीवन निर्वाह सरल बनाया जा सकता है यही पुरुष प्रधान समाज की सोच थी। यदि पुत्र बहुत कम उम्र के हो तो अपने परिवार के अन्य पुरुषों के संरक्षण में रहकर वह बच्चों का पालन सरलता से कर सकती है तथा पुत्र के बड़े होने तक अपने आपको सुरक्षित अनुभव कर सकती है।

स्मृतिकारों ने माता के रूप मे नारी को समस्त आदर सम्मान प्रदान किया तथा सर्वोच्च स्थान दिया, किन्तु फिर भी वे यह नहीं भूले की अन्ततः माता भी एक स्त्री ही है और उसकी भी कुछ सीमाएँ हैं। अपनी इस भावना का प्रदर्शन उन्होंने माता पर पुरुष की अधीनता का प्रतिबन्ध लगाकर किया।

वृद्धहारीत[1] ने विधवा स्त्री की आमरण दिनचर्या इस प्रकार निश्चित की है—विधवा स्त्री को केश सज्जा, पान, गन्ध, पुष्पादि का सेवन, रङ्ग बिरङ्गे वस्त्र, कांसे के बर्तन में भोजन, दो बार भोजन, आँखों में अञ्जन लगाना, सदा के लिए त्याग देना चाहिए। विधवा स्त्री को श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिए तथा क्रोधहीन, जितेन्द्रिय, साध्वीं, तन्द्रा तथा आलस्य से रहित, सुनिर्मल एवं शुभ आचरण वाली होना चाहिए, उसे रात को

---

1. वृद्धहारीत0 8/204-211

एवं सुनियताहारा सम्यग्व्रतपरायणा।

भर्त्रा सह समाप्नोति वैकुण्ठपदमव्ययम्।।

पृथ्वी पर कुश की शय्या बिछाकर सोना चाहिए तथा ध्यान एवं योग साधना करनी चाहिए। इस प्रकार सुनियताहार वाली, भली प्रकार व्रतपरायण स्त्री पति के समान अपूर्व वैकुण्ठ पद प्राप्त करती है। मनु[1] ने विधवाओं की जीवनचर्या का विस्तृत वर्णन करते हुए उन्हें कन्द, पुष्प व फल खाने, अपने शरीर को दुर्बल बनाने तथा पर पुरुष का नाम तक न लेने का उपदेश दिया है। उसके अनुसार विधवा को मृत्युपर्यन्त क्षमाशील रहना चाहिए तथा मधु मांस, मद्यादि का त्याग करके ब्रह्मचर्य के व्रत का दृढ़ता से पालन करना चाहिए।

पुनः सदाचारिणी विधवा के अर्जित पुण्य लाभ की प्रशंसा करते हुए मनु कहते हैं कि अपने सतीत्व की रक्षा करके व्रतों का आचरण करने वाली नारी यदि पुत्रहीना भी हो, तो भी वह ब्रह्मचारियों के समान स्वर्ग को जाती है।

बृहस्पतिस्मृति[2] के अनुसार ब्रह्मचर्य में रहने वाली, उपवास करने वाली शुद्धता की रक्षा करने वाली, संयमित और उदार विधवा अपुत्रवती होते हुए भी स्वर्ग जाती है और धार्मिक जीवन द्वारा पति के आध्यात्मिक कल्याण की वृद्धि करती है। उसने विधवाओं को कुछ आदेश दिए हैं— पति की सभी चल और अचल सम्पत्ति, स्वर्ण, अनाज, द्रव्य, परिधानों

---

1. मनु0 5/157-160
2. बृहस्पति स्मृति— 25/10-11, 25/50-71)

को लेकर विधवा अपने पति का मासिक षट् मासिक और वार्षिक श्राद्ध करे। वह धूमावसानिक प्रार्थना सन्ध्या करें, बार-बार स्नान करे और अपने भोजन, वस्त्र, निवास पर ध्यान न दे (इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अपने खान-पान एवं रहन-सहन की अवहेलना करती हुई विधवा शीघ्रातिशीघ्र स्वर्गगामी हो जाय)

विष्णु एवं पराशर[1] ने मनु के समान विधवा स्त्री के लिए ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन करना श्रेष्ठ बताया है तथा याज्ञवल्क्य[2] ने विधवा को सदा माता, पिता, भाई, पुत्र, श्वसुर, सास आदि अभिभावकों की अधीनता में रहना उचित बताया है।

---

1. विष्णुस्मृति 23/17, पराशरस्मृति 4/26।
2. याज्ञवल्क्य स्मृति (1/86)

## कर्तव्य पालन में च्युति तथा उसका प्रायश्चित्त

यदा-कदा ज्ञातवश अथवा अज्ञातवश सामाजिक व्यक्ति से समाज के या व्यक्ति के अपने ही आत्मिक धारणा के विरुद्ध कार्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने मन में विभिन्न प्रकार के विचारों द्वारा दुःख का अनुभव करता है। उस दुःख को प्रायश्चित्त के माध्यम से दूर किया जा सकता है। मनुष्य समाज के विरुद्ध किए गए बुरे कार्य के कारण दुःखी होता है और सोचता है कि मैं भविष्य में इस कार्य को नहीं करूँगा/करूँगी एवं किए हुए बुरे कार्य के लिए शास्त्रसम्मत विधि से दण्ड के रूप में धार्मिक कार्य करूँगा/करूँगी, किसी मन्त्र का जाप, दान अथवा उपवास आदि करके व्यक्ति अपने मन पर पड़े हुए बुरे प्रभाव को दूर कर देता है। धार्मिक एवं आध्यात्मिक विचारों के कारण ही मनुष्य अपने मन में किए हुए बुरे-भले कार्यों का सुख-दुःख अनुभव करता है। यहाँ तक कि उसे अपने किए हुए बुरे कार्यों के कारण ही मन ही मन अत्यधिक व्यथा होती रहती है, जिसे वह सभी से व्यक्त नहीं करना चाहता। मानवीय दुर्बलता एवं अज्ञानता के कारण कई बार मानव जघन्य से जघन्य कृत्य कर जाता है। जिन्हें न समाज का व्यक्ति न शासन का व्यक्ति ही जानता है, किन्तु बुरे कार्य को करने वाला रात-दिन अपने किए गए जघन्य कृत्य पर दुःखी होता हुआ चिन्तित रहता है। प्राचीन भारतीय स्मृतिकारों ने इस प्रकार के कार्यों को करने वाले व्यक्तियों को शान्ति देने के लिए एकमात्र उपाय अपने चिरकाल के चिन्तन के द्वारा 'प्रायश्चित्त' बताया है।

याज्ञवल्क्य स्मृति में उल्लिखित नवम् अध्याय में प्रायश्चित्त व्यवस्था का वर्णन किया गया है। इसमें प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ, उद्भव, विकास, व्युत्पत्ति, सन्धि, विच्छेद आदि का वर्णन किया गया है। इसमें याज्ञवल्क्य ने बताया है कि जानबूझ कर पाप कर्म करके प्रायश्चित्त करने पर पाप दूर तो नहीं होता, किन्तु प्रायश्चित्त के वचन द्वारा लोक में व्यवहार की योग्यता प्राप्त होती है। प्रायश्चित्त के द्वारा व्यक्ति की व्यक्तिगत बुराइयाँ दूर होती हैं और उसमें अच्छे गुणों का उन्नयन होता है। याज्ञवल्क्य ने समाज के विकास के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति के विकास पर अधिक ध्यान दिया है।

अज्ञानवश और क्रोधवश मनुष्य बहुत बुरे कार्य भी कर लेता है, किन्तु जब उसका क्रोध और अज्ञान दूर हो जाता है तब वह अपने मन में अनुभव करता है कि मेरे द्वारा बुरा कार्य हुआ है अथवा सामाजिकों को कष्ट दिया गया है। जिस दण्ड को व्यक्ति और शासक नहीं दे सकते उस दण्ड को मनुष्य को उसका अन्तःकरण या चैतन्यमन दे सकता है। अन्तःकरण की ध्वनि ही मनुष्य के लिए वस्तुतः सत्य और प्रमाण होती है जिस कार्य को व्यक्ति किसी के कहने पर भी स्वीकृत नहीं कर सकता, उसे अन्तःकरण की प्रेरणा से स्वीकृत कर आचरण करने लगता है।

'प्रायश्चित्त' एवं 'प्रायश्चित्ति' शब्द वैदिक साहित्य में भी प्रयुक्त हुए हैं। वहाँ प्रायश्चित्ति शब्द का अर्थ भी प्रायश्चित्त से लिया गया है। मनु[1]

---

1. प्रायो नाम तपः प्रोक्तं, चित्तं निश्चय उच्यते।
   तपोनिश्चय संयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।। मनु0 (11/47)

ने प्रायश्चित्त की व्युत्पत्ति प्रायः (अर्थात् तप) एवं चित्त (अर्थात् संकल्प या दृढ़ विश्वास) से की है। इसका तात्पर्य यह है कि इसका सम्बन्ध तप करने के संकल्प से है या इस विश्वास से है कि इससे पाप मोचन होगा। बालंभट्टी[1] के मत से प्रायः का अर्थ पाप और चित्त का अर्थ शोधन या शुद्धिकरण है अर्थात् प्रायश्चित्त का अर्थ पाप का शोधन या शुद्धीकरण है।

हारीत[2] के अनुसार 'प्रायः' का अर्थ पवित्र और 'चित्त' का अर्थ संगृहीत है, अतः 'प्रायश्चित्त' का अर्थ है—ऐसे कार्य जैसे तप, दान एवं यज्ञ जिनसे व्यक्ति प्रायः अर्थात् ''प्रयत'' (पवित्र) हो जाता है और अपने एकत्र पापों का नाश कर देता है। मिताक्षरा[3] का कथन है कि प्रायश्चित्त शब्द रूढ़ि रूप में उस कर्म या कृत्य का द्योतक है जिसे नैमित्तिक कहा जाता है अर्थात् इसका प्रयोग तभी होता है जबकि उसके लिए अवसर आता है। यह पाप के लिए भी प्रयुक्त होता है अतः यह काम्य भी है।

बालंभट्टी[4] ने प्रायश्चित्त को नैमित्तिक कर्म माना है। बृहस्पति[5] ने पाप के दो प्रकार के माने हैं— (1) कामकृत अर्थात् जानबूझकर किए गए,

---

1. प्रायः पापं विनिर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्। बालभट्टी याज्ञ0 3/206।
2. प्रयतत्वादुपचित्तमशुभं कर्म नाशयतीति प्रायश्चित्तमिति/प्रायश्चित्त तत्त्व पृ0 (467)।
3. 'प्रायश्चित्त शब्दश्यायं पापक्षयार्थे नैमित्तिके कर्म विशेषे रूढः।। मिता0 याज्ञ0 3/220।
4. बालंभट्टी यज्ञ0 3/206
5. कामाकामकृतं त्वेव, पातकं द्विविधं स्मृतम् (वृह0 प्रायश्चित्त 23)

(2) अकामकृत अर्थात् अनजाने में किए गए।

मनु[1] के अनुसार अनजाने में किए गए पापों का नाश वेदाभ्यास से हो जाता है तथा रागद्वेषादि, मोहवश या इच्छापूर्वक किए गए पाप अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों से नष्ट होते हैं। याज्ञवल्क्य[2] के अनुसार प्रायश्चित्त जानबूझकर किए गए पापों को नष्ट नहीं करते हैं अपितु पापी व्यक्ति प्रायश्चित्त कर लेने से अन्य लोगों के संसर्ग में आ जाने के योग्य हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि जानबूझ कर अर्थात् ज्ञानपूर्वक किए गए पापों के फलों से मुक्ति नहीं मिलती। मनु[3] के अनुसार प्रायश्चित्त न करने वाले पापियों से सामाजिक सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। जिन्होंने प्रायश्चित्त कर लिया है उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। याज्ञवल्क्य[4] का मत है कि पापी को अपनी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए, जिससे उसकी अन्तरात्मा शुद्ध हो जाय और वह पूर्वस्थिति को प्राप्त कर ले। इससे अन्य लोग भी प्रसन्न हो जाते हैं।

मनुस्मृति[5] के अनुसार जो द्विज पूर्व जन्म के कारण तथा इस जन्म में भाग्य के कारण कोई पाप करता है वह प्रायश्चित्त के सम्पादन का

---

1. मनुस्मृति 11/46
2. याज्ञवल्क्यस्मृति— 3/226
3. मनुस्मृति 11/189
4. याज्ञवल्क्यस्मृति 3/220
5. मनुस्मृति 11/47

भागी होता है। वह जब तक प्रायश्चित्त नहीं कर लेता, तब तक सुधी जनों के सम्पर्क में नहीं आ सकता है। मनु विष्णु और याज्ञवल्क्य[1] का कथन है कि जो बच्चे की हत्या करता है, कृतघ्न है, शरणागत तथा स्त्री की हत्या करने वाला व्यक्ति प्रायश्चित्त करने पर भी संसर्ग के योग्य नहीं होता है। अङ्गिरस, विष्णु, आपस्तम्ब, देवल, यम और बृहदयम[2] आदि का मत है कि अस्सी वर्ष के वृद्धों, सोलह वर्ष के नीचे के बच्चों, स्त्रियों एवं रोगियों को निर्धारित प्रायश्चित्तों का आधा ही करना पड़ता है।

मिताक्षरा के अनुसार बारह वर्ष के नीचे एवं 80 वर्ष के ऊपर के लोगों को आधा प्रायश्चित्त करना पड़ता है और स्त्रियों के लिए चौथाई प्रायश्चित्त है। दाम्पत्य जीवन की सुख शान्ति पारस्परिक विश्वास पर निर्भर रहती है। व्यभिचार से बढ़कर दाम्पत्य जीवन की सुख-शान्ति नष्ट करने वाला कोई दूसरा कारण नहीं है। व्यभिचार की प्रवृत्ति की सम्भावना युवावस्था में अविवाहित रहने वाली कन्या, विवाहित होने पर भी सहवास सुख से वञ्चित प्रोषित पतिका, पितृगृहस्था या परित्यक्ता स्त्री अथवा पति से विरक्त या असन्तुष्ट होने के कारण परपुरुष में आसक्त स्त्री, युवती विधवा या युवती भिक्षुणी के विषय में की जा सकती थी।

नारीकृत व्यभिचार तीन प्रकार का हो सकता है—मानस, वाचिक तथा

---

1. मनुस्मृति 11/191, विष्णुस्मृति 54/32, याज्ञवल्क्यस्मृति 3/298
2. अङ्गिरस 33, विष्णु 54/32, आपस्तम्ब 3/6
   देवल 30, बृहद्यम 3/3, यम—17

कायिक। इन तीनों प्रकार के व्यभिचार के लिए स्मृतियों में प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी गई है। मनु[1] ने मानसिक रूप से अर्थात् मनसा परपुरुष के साथ व्यभिचार की कामना करने वाली नारी की शुद्धि रजः स्राव से माना है। नारी का कायिक व्यभिचार कामतः कृत अथवा अकामतः कृत सवर्ण अथवा असवर्ण पुरुष के साथ या अन्त्यज आदि के साथ गर्भधारण रहित अथवा गर्भधारण पर्यवसायी आदि अनेक विध होने से उसके लिए प्रायश्चित्त भी तत्तत् परिस्थितियों पर भिन्न-भिन्न बतलाये गये हैं।

सामान्यतः स्त्री को चारित्रिक पतन के लिए पुरुष ही उकसाता है और अपनी शारीरिक सन्तुष्टि हेतु स्त्री को शरीर समर्पण के लिए विवश करता है। अतः जहाँ व्यभिचार में पुरुष की भूमिका प्रमुख रही हो, नारी को अकामतः प्रवृत्त होना पड़ा हो, वहाँ नारी के लिए मृदु प्रायश्चित्त विहित है। परपुरुष के द्वारा बलात् दूषित की गयी अनिच्छुक स्त्री के प्रति प्राचीन आचार्यों की पूर्ण सदाशयता रही है।

याज्ञवल्क्य एवं पराशर[2] ने कहा है कि यदि परपुरुष के समागम से नारी गर्भवती नहीं हुई हो तो वह दूषित नहीं होती। वह मासिक धर्म के

---

1. मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति।
   रजसा स्त्री मनोदुष्टा, संन्यासेन द्विजोत्तमः।।

   मनुस्मृति 5/108

2. (क) व्यभिचाराद् ऋतौ शुद्धिः गर्भे त्यागो विधीयते। याज्ञवल्क्यस्मृति 1/72
   (ख) रजसा शुद्ध्यते नारी विकलं या न गच्छति।। पराशरस्मृति 7/2

अनन्तर शुद्ध हो जाती है। बृहस्पति[1] का भी मत है कि स्त्रियाँ पवित्र होती हैं वे कभी दूषित नहीं होती। मासिक रजः स्राव से उनके सारे दुष्कृत (पाप) दूर हो जाते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में बृहत्पराशर[2] ने कहा है कि स्त्रीजार से दूषित नहीं होती। बृहस्पति[3] के अनुसार स्वयं पथभ्रष्ट न होने वाली या दूसरे के द्वारा पथभ्रष्ट की गयी या बलात् संयुक्त अथवा चोर के द्वारा अपहृत की गयी स्त्री दूषित होने पर भी त्याज्य नहीं है। उसकी शुद्धि हेतु उसके मासिक रजः स्राव तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। इन आचार्यों ने पर पुरुष के द्वारा दूषित नारी के त्याग की निष्ठुर प्रवृत्ति को प्रतिबन्धित करने के ध्येय से ही ऐसे वचन कहे हैं। इनका तात्पर्य यह नहीं था कि परपुरुष के द्वारा दूषित नारी को बिना प्रायश्चित्त के शुद्ध मान लिया जाय।

पराशरस्मृति[4] में कहा गया है कि जिस अनिच्छुक स्त्री के साथ पापी पुरुषों के द्वारा एक बार सम्भोग किया गया हो वह प्राजापत्य (कृच्छ) एवं मासिक रजःस्राव के पश्चात् शुद्ध होती है। वृहस्पति[5] के अनुसार सवर्ण पुरुष के द्वारा दूषित अनिच्छुक नारी को पति के घर में सुरक्षित मलिनाङ्गी, अधःशायिनी, पिण्डमात्रोपजीविनी बनाकर रखे और उससे प्रायश्चित्त रूप में कृच्छ अथवा पराक कराये। अनेक निबन्धकारों

---

1. बृहस्पति स्मृति 5/66
2. वृहत्पराशर स्मृति 6/345
3. वृहस्पति स्मृति 5/64
4. पराशर स्मृति 10/24
5. **बृहस्पति (प्रायश्चित्तमयूख पृ0 166 में उद्धृत)**

(प्रायश्चित्तमयूख, पराशर, मनु, प्राचेतस, कात्यायन एवं विष्णुस्मृति) के द्वारा उद्धृत स्मृतिवचन में कहा गया है कि यदि गर्भवती नारी को कोई सजातीय पुरुष बलात् दूषित कर दे तो वह गर्भ के प्रसव पर्यन्त कोई प्रायश्चित्त न करे, प्रसव के पश्चात् वह अपनी शुद्धि हेतु एक मास तक यावक भोजन पर निर्भर रहे।

मनु के अनुसार[1] यदि कोई स्त्री किसी सवर्ण पुरुष के बहकावे में आकर पुनः (एक बार प्रायश्चित्त करके शुद्ध हो चुकने पर भी) प्रदूषित हो जाय तो कृच्छ करके चन्द्रायण करने पर ही वह शुद्ध होती है। यह प्रायश्चित्त अकामतः कृत व्यभिचार की पुनरावृत्ति पर माना जा सकता है।

कामतः व्यभिचार में लिप्त होने वाली नारी के लिए अधिक कठोर प्रायश्चित्त का विधान प्राप्त होता है। शङ्खलिखित एवं बृहस्पति[2] के अनुसार स्वेच्छया व्यभिचार में प्रवृत्त होने वाली नारी से वही प्रायश्चित्त कराना चाहिए जो पुरुष के लिए परस्त्रीगमन में विहित है। मनुस्मृति[3] में भी यही कहा गया है कि—व्यभिचार से दूषित स्त्री को पति घर के एक कमरे में बन्द रखकर उससे यही व्रत करावे जो पुरुष के लिए परस्त्रीगमन पर

---

1. मनु0 11/177

   द्र0-इदं चाकामतः। कामतस्तु द्विगुणम्। प्रायश्चित्तमयूख पृ0 166

2. (क) प्रायश्चित्त विवेक पृ0 167 तथा प्रायश्चित्तमयूख पृ0 168 में उद्धृत

   (ख) बृहस्पति स्मृति0 7/56 यत्पुंसः परदारेषु समानेषु व्रतं स्मृतम्।

   व्यभिचारेऽपि भर्तुः स्त्री तदशेषं समाचरेत्।।

3. मनुस्मृति 1/176

विहित है। अगम्यपुरुषगमन आदि से जो स्त्रियाँ पतित हो जाएँ उनकी शुद्धि हेतु भी कात्यायन[1] ने पतित पुरुष के समान ही प्रायश्चित्त कराने को कहा है। अङ्गिरा[2] ने भी यह कहा है कि पतित स्त्री के सेवन पर पुरुष से जो प्रायश्चित्त कराया जाता है वही पतित पुरुष का सेवन करने वाली नारी से भी कराया जाना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियों को अन्य पाप कर्मों पर प्रायश्चित्त की जो आधी छूट दी जाती थी विष्णुस्मृति, अङ्गिरा याज्ञवल्क्य पर मिताक्षरा[5] द्वारा उद्धृत वह नारियों को कामतः व्यभिचार में प्रवृत्त होने पर नहीं दी जाती थी अर्थात् कामतः व्यभिचार में प्रवृत्त होने वाली नारी को पूरा प्रायश्चित्त करना पड़ता था।[3]

यह प्रायश्चित्त प्रायः वही होता था जो परस्त्रीगामी पुरुष के लिए विहित था, किन्तु अन्तर इतना था कि जहाँ सम्बन्ध की गई स्त्री के साथ व्यभिचार या किसी भी रूप में अगम्यागमन के कारण पतितपुरुष को घर से बाहर निकाल दिया जाता था वहाँ स्त्री को घर में एक कोठरी में बंद रखकर उससे प्रायश्चित्त करवाया जाता था। निम्न वर्ग के पास

---

1. कात्यायन (विष्णुस्मृति 34/2, 53/2 की टीका वैजयन्ती में उद्धृत

   एष दोषश्च शुद्धिश्च पतितानामुदाहृता।
   स्त्रीणामपि प्रसक्तानामेष एव विधिः स्मृतः।।

2. अङ्गिरा (प्रा0 मयूख पृ0 167 में उद्धृत) व्रतं यच्चोदितं पुंसां पतितस्त्रीनिषेवणात्।
3. विष्णु स्मृति 54/33, अङ्गिरा (याज्ञ0 3/243 पर मिता0 में उद्धृत)

   अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो बाप्यूनषोऽशः।
   प्रायश्चित्तार्द्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च।।

जाना (अर्थात् अपने निम्न जाति से संसर्ग), गर्भपात करना, पति की हत्या ये स्त्रियों के विशेष रूप से पतित कर्म कहे गये हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति[1] में पतित स्त्री पुरुषों के लिए समान प्रायश्चित्त विधि बतलाते हुए यह कहा गया है कि पतित स्त्रियों को प्रायश्चित्तकाल में घर के समीप ही निवास, अन्न (पिण्डमात्र भोजन) वस्त्र (मलिनवस्त्र) तथा संरक्षण देना चाहिए। प्रचेता[2] के अनुसार शूद्र के साथ व्यभिचार करने वाली ब्राह्मणी यदि गर्भधारण न की हो तो वह प्रायश्चित्त रूप में एक कृच्छ और तीन चन्द्रायण करे। वह वैश्य के साथ व्यभिचार पर गर्भधारण न होने की स्थिति में एक कृच्छ और दो चन्द्रायण करे और क्षत्रिय के साथ समागम के प्रायश्चित्त रूप में (गर्भधारण न होने की स्थिति में) एक कृच्छ तथा एक चन्द्रायण करे। इसी तरह क्षत्रिया यदि शूद्र के साथ सम्भोग के फलस्वरूप गर्भिणी नहीं होती तो प्रायश्चित्त रूप में कृच्छ एवं दो चन्द्रायण करे तथा वैश्य के साथ सम्भोग पर (गर्भधारण न करे तो) एक कृच्छ एवं एक चन्द्रायण करे। वैश्या शूद्र के साथ सम्भोग से गर्भधारण न करने की स्थिति में कृच्छ और चन्द्रायण करे।

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति—3/296-97

   पतितानामेष एव विधिः स्त्रीणां प्रकीर्तितः।
   वासो गृहान्तिके देयमन्नं वासः संरक्षणम्।।
   नीचाभिगमनं गर्भपातनं भर्तृहिंसनम्।
   विशेषपतनीयानि स्त्रीणामेतान्यपि ध्रुवम्।।

2. प्रचेता (परा० मा०, प्रा० का० पृ० 115-116) प्रायश्चित्त मयूख पृ० 167 तथा विष्णु स्मृति 53/8 की टीका वैजयन्ती में उद्धृत।

देवल[1] का कथन है कि 'असवर्ण' पुरुष के द्वारा दूषित स्त्री यदि गर्भवती न हुई तो वह गर्भत्याग अथवा प्रसव पर्यन्त अशुद्ध रहती है। गर्भ के निकल जाने पर अथवा (गर्भिणी न होने की स्थिति में) रजःस्राव हो जाने के पश्चात् वह शुद्ध हो जाती है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसे प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता था। सवर्ण, असवर्ण अथवा वर्णवाह्य किसी भी पुरुष के साथ व्यभिचार पर नारी को जो प्रायश्चित्त करना पड़ता था, उससे अधिक प्रायश्चित्त गर्भिणी होने पर उसे करना पड़ता था, किन्तु बलात्कार के फलस्वरूप गर्भिणी होने पर प्रायश्चित्त की मात्रा कुछ कम हो सकती थी।

उपर्युक्त प्रायश्चित्त को कामतः या बुद्धिपूर्वक किए गए व्यभिचार के फलस्वरूप गर्भधारण होने की स्थिति में विहित माना जा सकता है। जैसाकि नीलकण्ठ ने भी कहा है—कामतः व्यभिचार में प्रवृत्ति के फलस्वरूप गर्भधारण होने की स्थिति में इसका द्विगुणित प्रायश्चित्त होगा (द्र० प्रायश्चित्तमयूख पृ० 168)। देवलस्मृति[2] में कहा गया है कि कामतः

---

1. देवल स्मृति 50-51 स्मृतिसंदर्भ भाग 3 पृ० (659)
   असवर्णेन यो गर्भः स्त्रीणां योनौ निषिच्यते।
   अशुद्धा सा भवेन्नारी यावच्छल्यं न मुंचति।
   विनिःसृते ततः शल्ये राजसो वापि दर्शने।
   तदा सा शुद्ध्यते नारी विमलं कांचनं यथा।।
2. स गर्भो दीयतेऽन्यस्मै स्वयं ग्राह्ये न कर्हिचित्।
   स्वजातौ वर्जयेद् यस्मात् सङ्करं स्यादतोऽन्यथा।।
   (देवलस्मृति श्लोक 52 स्मृति संदर्भ 3 पृ० 1660)

व्यभिचारिणी स्त्री से उत्पन्न नारी से उत्पन्न शिशु को अपने पास नहीं रखना चाहिए, अपितु किसी अन्य को दे देना चाहिए। ऐसी सन्तान को अपनी जाति में नहीं मिलाना चाहिए। अन्यथा वर्णसङ्करता का दोष आ जाता है। देवल[1] जैसे आचार्यों ने यह व्यवस्था नारी के त्याग की निष्ठुर प्रवृत्ति को रोकने के उद्देश्य से दी है। याज्ञवल्क्य[2] ने व्यभिचार के फलस्वरूप गर्भधारण न होने की स्थिति में मासिक रजःस्राव से नारी की शुद्धि बतलायी है, किन्तु गर्भधारण होने की स्थिति में उसके त्याग का जो विधान किया है उसे विज्ञानेश्वर ने शूद्रकृत गर्भाधान विषयक बतलाया है।

पराशरस्मृति[3] के अनुसार जो नारी पापी पुरुषों के द्वारा बन्दी बनाकर एवं मार-पीट कर और भय दिखाकर दूषित की गयी हो वह सान्तपन कृच्छ से शुद्ध होती है। यह प्रायश्चित्त गर्भधारण न होने की स्थिति में होगा। गौतम[3] के अनुसार यदि बन्दीकृतनारी गर्भिणी होने के पश्चात् छोड़ दी गयी हो तो पति उसे प्रायश्चित्त के ज्ञाता विद्वान् ब्राह्मणों की सभा में ले जाय, वहाँ वह स्त्री अपने साथ किए गए दुष्कर्म का वर्णन करें। तब सभा उससे साठ बार मृत्तिका के लेप पूर्वक और तद्पश्चात् एक बार घृतलेप पूर्वक शौच कराने के पश्चात् नदी के जल में स्नान करावे

---

1. व्यभिचाराद् ऋतो शुद्धिः गर्भे त्यागो विधीयते, याज्ञ0 1/72
2. मिताक्षरा (याज्ञ0 1/72)
3. पराशरस्मृति 10/23
4. चतुवर्गचिन्तामणि, प्रायश्चित्तखण्ड, पृ0 373-74 में उद्धृत।

और तब पूर्ववत (बलात्दूषिता अनिच्छुक नारी के लिए विहित) प्रायश्चित्त करावे।

संवर्तस्मृति[1] में श्रेष्ठ (त्रैवर्णिक) स्त्रियों के लिए चाण्डाल, पुक्कश श्वपाक तथा पतित के साथ समागम के प्रायश्चित्त रूप में तीन चान्द्रायण विहित किए गए हैं। नीलकण्ठ भट्ट[2] के अनुसार यह प्रायश्चित्त इन स्त्रियोंकी अकामतः प्रवृत्ति में और रेतःसेक से पूर्व निवृत्त हो जाने पर विहित है। प्रायश्चित्तमयूख पृ0 (169) में उद्धृत एक अन्य स्मृतिवचन में रजक, व्याध, शैलूष, वेणुजीवी तथा चर्मकार के साथ अकामात् (अज्ञान से या अबुद्धिपूर्वक या अविवेक) समागम कर बैठने वाली ब्राह्मणी के लिए दो चन्द्रायण विहित किए गए है। शृष्यशृङ्ग[3] के एक वचन में अन्त्यज के साथ समागम करने वाली नारी के लिए एक वर्ष तक कृच्छव्रत करते रहने का विधान किया गया है, जिसे नीलकण्ठ ने (प्रा0 मयूख पृ0 169 में) कामतः एक बार समागम पर विहित बतलाया है।

पराशरस्मृति[4] में अज्ञान में चाण्डाल का संसर्ग करने वाली त्रैवर्णिक

---

1. संर्वतस्मृति श्लोक 168
2. प्रायश्चित्तमयूख पृ0 170

   रजकव्याधशैलूषवेणुचर्मोपजीविनः।

   ब्रह्मण्येतान् यदा गच्छेद्कामादैन्दवद्वयम्।।
3. ॠृष्यशृङ्ग (प्रायश्चित्तमयूख पृ0 169 में उद्धृत)
4. पराशर स्मृति 10/16-29

नारी की शुद्धि बतलाते हुए कहा गया है कि वह दस विद्वान् ब्राह्मणों के समक्ष अपने दोष का प्रकाशन करके अहोरात्र पर्यन्त गोमयोदक कर्दम (पानी में घोले हुए गोबर के कीचड़) से पूरित कूप में निराहार रहे। तब शिखा सहित समस्त शिर का मुण्डन करके यावक भोजन करे और त्रिरात्र पर्यन्त उपवास करके एक रात जल में रहे। तद्पश्चात् शंङ्खपुष्पी लता के मूल अथवा पत्र या पुष्प या फल तथा सुवर्ण एवं पञ्चगव्य का क्वाथ बनाकर उसका पान करे। तब मासिक रजः स्राव होने तक अहोरात्र में एक बार भोजन करे और घर के बाहर निवास करे, तद्पश्चात् ब्राह्मणों को भोजन करावे तथा एक जोड़ा गोदान और दक्षिणा दान करे।

यही प्रायश्चित्त पराशरमाधव[1] में स्वयम्भुव मनु के द्वारा कथित बतलाया गया है।

अङ्गिरा[2] ने इसे चाण्डाल संसर्ग करने वाली ब्राह्मणी के लिए भी विहित किया है। अन्त्यज के द्वारा दूषित की गयी गर्भवती स्त्री के विषय में ऋष्यशृङ्ग के (प्रायश्चित्तमयूख पृ० 170) एकवचन में कहा गया है कि वह प्रसव पर्यन्त न तो प्रायश्चित्त करे, न तब तक घर में प्रवेश करे, न तो अङ्ग प्रसाधन करे, न पति के साथ शयन करे और न बान्धवों के साथ भोजन करे, किन्तु प्रसव के पश्चात् वह एक वर्ष तक प्रायश्चित्त करे तथा उसके अन्त में ब्राह्मणों को सुवर्ग या धेनु दान करे।

---

1. पराशरमाधवीयस्मृति पृ० 278
3. अङ्गिरा प्रायश्चित्तमयूख पृ० 169 पर उद्धृत

यवनों के द्वारा स्त्रियों के अपहरण और उसके साथ बलात्कार की घटनाएं मध्यकाल में अधिक होती थीं। प्राचीनकाल में यह आशंका कम थी। अतः तद्विषयक प्रायश्चित्त प्राचीन आचार्यों ने नहीं बतलाया है। किन्तु देवल[1] ने इस विषय में भी प्रायश्चित्त विहित किया है। उनके अनुसार म्लेच्छों के द्वारा बलात्कार से दूषित स्त्री यदि गर्भवती हो जाय तो वह शुद्ध नहीं होती, किन्तु गर्भवती न होने की स्थिति में वह त्रिरातव्रत से शुद्ध हो जाती है।

देवल[1] के अनुसार म्लेच्छ के बलात्कार के फलस्वरूप गर्भधारण करने वाली नारी की शुद्धि के विषय में प्रश्न उठाने के पश्चात् उन्होंने उसकी शुद्धि कृच्छसान्तपन तथा योनि के (ईषदुष्ण) घृत के पाचन (अर्थात् लेप) से विहित की है। इस शुद्धि (प्रायश्चित्त) को वह स्त्री गर्भ के त्याग या प्रसव के पश्चात् ही कर सकती थी।

निष्कर्षतः—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि नारी को सवर्ण असवर्ण अथवा अन्त्यज किसी भी पुरुष के साथ अकामतः अथवा कामतः दुराचार कर बैठने पर उसका प्रायश्चित्त करना पड़ता था। प्रायश्चित्त पूरा होने तक जहाँ पुरुष को घर से निकाल दिया जाता था वहाँ नारी को

---

1. देवल स्मृति श्लो0 47 (स्मृति सन्दर्भ भाग 3 पृ0 1659)
   गृहीता स्त्री बलादेव म्लेच्छैर्गुर्वीकृता यदि।
   गुर्वी न शुद्धिमाप्नोति त्रिरात्रेणेतरा शुचिः।।
2. देवलस्मृति श्लोक 48-49 (स्मृति सन्दर्भ भाग3 पृ0 1659-1660)

घर के एक कमरे में अथवा घर के समीप आवास प्रदान किया जाता था। कामतः व्यभिचार में प्रवृत्त नारी को प्रायश्चित्त में कोई छूट नहीं दी जाती थी। शूद्र और अन्त्यज के साथ शारीरिक सम्पर्क के फलस्वरूप गर्भिणी होने पर त्रैवर्णिक नारी को त्याग दिया जाता था अन्यथा (गर्भिणी न होने पर) वह प्रायश्चित्त से शुद्ध हो सकती थी।
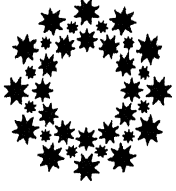
## तृतीय अध्याय

# नारी अधिकार
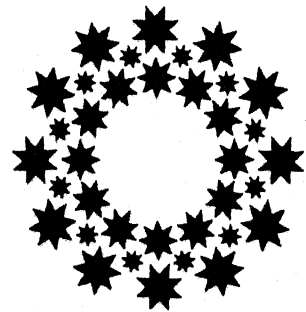
# आर्थिक अधिकार

## ( स्त्रीधन )

मानव जाति के अधिकांश सभ्य समाजों के प्राचीनतम इतिहास से लेकर पिछली शताब्दी के इतिहास का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि उनकी नारियों को सम्पत्ति पर किसी भी प्रकार का स्वामित्व नहीं था। वे स्वयं ही पति की चल सम्पत्ति के समान क्रय विक्रय की वस्तु थी। पश्चिमी जगत् की नारियों को साम्पत्तिक अधिकार अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध से प्राप्त हो सके। किन्तु हिन्दू समाज की नारी के धनाधिकारों पर दृष्टिपात करने से आश्चर्य मिश्रित तथ्य उद्घाटित होता है। वैदिक युग में रानी के पद पर प्रतिष्ठित पत्नी जहाँ निरन्तर अपने सामाजिक स्तर से पतित होते हुए दासी की श्रेणी तक पहुँचा दी गयी। ठीक इसके विपरीत वैदिक युग में मान्य साम्पत्तिक अधिकारों के साथ-साथ वह निरन्तर प्राप्त अधिकारों को समेटती हुई पति के सम्पत्ति के उत्तराधिकार की भी कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही अधिकारिणी घोषित हुई। यद्यपि जुआरी द्वारा पत्नी को दाँव पर लगाना[1] युधिष्ठिर का द्रौपदी को दाँव पर लगाना, हरिश्चन्द्र का पत्नी विक्रय करना, धृतराष्ट्र[2] द्वारा सौ दासियों का दान करना। आदि उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय हिन्दू समाज में भी नारी चल सम्पत्ति के समान थी।

---

1. ऋग्वेद 10/34
2. महाभारत 5/86/8 दासीनामप्रजातानां शुभानां रूक्मवर्चसाम्।
   शतमस्यै प्रदास्यामि दासानामपि तावताम्।।

महाभारत[1] में उल्लिखित है कि द्रौपदी को दाँव पर लगाने पर युधिष्ठिर की जैसी भर्त्सना सभा में उपस्थित जनो ने की है, उससे स्पष्ट है कि यद्यपि पति को पत्नी पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त था, किन्तु उसके आदान-प्रदान को समाज अत्यन्त हेय दृष्टि से देखता था और ऐसा हेय कृत्य केवल शराबी एवं जुआरी प्रकृति के म्त्त पुरुषों से ही अपेक्षित हो सकता था (को ही दीव्याद्भार्यया[2] राजपुत्रों मूढो राजा द्यूतमदेन मत्तः) याज्ञवल्क्य स्मृति[3] में कहा गया है कि वस्तुतः भारत में नारी पुरुष की चल सम्पत्ति के रूप में कभी अवस्थित नहीं हुई। बाद में स्मृतिकारों ने पत्नी पुत्र विक्रय पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया। हिन्दू समाज में स्त्री-पुरुष एक प्राण दो देह माने गये हैं। उनका स्वार्थ, स्वत्त्व, एवं अधिकार एक रहा है। यदि पति-सम्पत्ति का एवं स्त्री का स्वामी है, तो पत्नी भी पति के सर्वस्व की, उसके हृदय की भी स्वामिनी है। पुरुष गृह स्वामी होने के साथ-साथ बाहर काम करने वाला श्रमिक भी है, किन्तु स्त्री पुरुष की समस्त सम्पदा पर एक मात्र अधिकार रखने वाली घर की रानी है। पति के धन पर तो वह अधिकार रखती ही है, किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी स्थिति भी होती है जिसकी व्यक्तिगत रूप से केवल स्त्री ही अधिकारिणी है। "दम्पति" शब्द का प्रयोग पारिवारिक सम्पत्ति

---

1. महाभारत 2/86/40

   एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन धीमता।

   धिग्धिगित्येव वृद्वानां सभ्यानां निस्तृता गिरा।

2. महाभारत 2/89/17

3. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/175 'स्व कुटुम्बावरोधेन देयं दारासुतादृते'

पर पति पत्नी के समान अधिकार का स्पष्ट द्योतक है। मनु[1] के अनुसार 'पुत्र अपनी ही आत्मा के समान होता है एवं पुत्री उस पुत्र के समान होती है, अतएव आत्मा के समान पुत्री के जीवित रहते हुए मृत पिता के धन को कोई अन्य कैसे ले सकता है। मेधातिथि, नारायण, एवं कुल्लूक भट्ट आदि टीकाकारों[2] ने दुहिता शब्द का अर्थ 'पुत्रिका' किया है। मनु[3] ने कन्या के प्रति अपनी करुण भावना का प्रदर्शन कन्या को कुछ नये अधिकार दे कर किया है। मनु[3] के अनुसार भाई अपने भागों में से चतुर्थ अंश अविवाहित कन्याओं को दे, जो भाई ऐसा नहीं करता, वह पतित है। याज्ञवल्क्यस्मृति[4] ने भी इस व्यवस्था की पुष्टि करते हुए कहा है कि यह प्रबन्ध कन्याओं के विवाह के व्यय की पूर्ति के लिए है। कात्यायन[5] ने मनु तथा याज्ञवल्क्य का पूर्ण समर्थन किया है। इसी प्रकार नारद ने कन्या का अंश मँझले भाइयों के अंश के समान माना है, जिसका उद्देश्य विवाह काल तक कन्या का भरण पोषण करना था। नारद[6] ने पुत्र के अभाव में कन्या को रिक्थाधिकार,

---

1. मनुस्मृति 9/130
   यथौवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा
   तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्योधनं हरेत्।।
2. मेधातिथि, नारायण, कुल्लूक भट्ट, मनुस्मृति 9/130 पर
3. मनुस्मृति 9/18
4. याज्ञ0 9/124
5. कात्यायन, दाय भाग पृष्ठ 69 पर उद्धृत (कन्यकानां त्वदत्तानां चतुर्थो भाग इष्यते)
6. नारद 16/3, 16/27, 13/50

इस आधार पर दिया है कि वह पुत्र के समान ही पिता के कुल को चलाने वाली होती है ("पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तान कारणात्")।

कात्यायन[1] ने अविवाहिता को पत्नी के अभाव में रिक्थहर माना है। बृहस्पति[2] ने भी पुत्र के अभाव में पुत्री को ही दायाद माना है। दायभाग[3] में पराशर को उद्धृत करके अविवाहित कन्या को विवाहित कन्या से अधिक मान्यता दी है।

मनु[4] ने कन्या को दायाद माना है, यह बात उनकी इस व्यवस्था से पुष्ट हो जाती है कि बंटवारे के समय किसी भाई के मृत या संन्यासी हो जाने पर उसका हिस्सा सभी सहोदर भाई बहन बाँट लें। यहाँ पर कुमारी अथवा विवाहित कन्याओं में भेद नहीं रखा गया है तथा दोनों को ही अधिकार दिया गया है। मनु[5] इसके अतिरिक्त माता के रिक्थ में भाइयों के साथ कन्या को भी दायांश देते हैं। यहाँ तक जबकि याज्ञवल्क्य ने माता के धन को सिर्फ पुत्रियों को देने की वकालत की है। माता का शरीर पुत्रियों से अधिक मिलता है इसलिए माता के धन की अधिकारी पुत्री हुई। मनुस्मृति में पुत्री की पुत्री को भी नानी (मातामही) की सम्पत्ति में से प्रीति पूर्वक कुछ देने

---

1. कात्यायन, मिताक्षरा याज्ञ0 2/136 तथा स्मृतिचन्द्रिका पृ0 296 पर उद्धृत
2. बृहस्पति दाय भाग पृ0 168 पर
3. दायभाग 99.2.4 (पृष्ठ 175)
4. मनु 9/211, 212
5. मनुस्मृति 9/192-193

का आग्रह किया गया है। जबकि पौत्री के लिए ऐसा विचार कहीं नहीं किया गया।

मनु[1] के मतानुसार पौत्र तथा दौहित्र में कोई अन्तर नहीं है, दौहित्र भी पौत्र के समान परलोक में नाना का उद्धार करता है। दौहित्र नाना का पिण्डदाता तथा पुत्रहीन पिता के धन का अधिकारी होता है। के० पी० जायसवाल[2] के अनुसार "मनु ने पौत्र और दौहित्र में अभेद स्थापित करके पुराने नियमों में एक बड़ा परिवर्तन किया। मनु की इस नूतन व्यवस्था का मूल कारण उसका कन्याओं के प्रति स्नेहभाव ही था।

किन्तु कन्या के दायाधिकार के विषय में मनु, पराशर, कात्यायन एवं याज्ञवल्क्य आदि शास्त्रकारों की इतनी स्पष्ट व्यवस्थाएं होते हुए भी टीकाकारों एवं निबन्धकारों में उसे रिक्थहर मानने में बड़ा मतभेद था। उनकी मान्यता के अनुसार तीसरी पीढ़ी तक पुरुष उत्तराधिकारी के अभाव में तथा विधवा के अभाव में कन्या दायाद हैं। मिताक्षरा ने गौतम (28.22) के आधार पर उसी कन्या को प्राथमिकता दी है जो अपेक्षाकृत निर्धन है तथा रक्त की सन्निकटता को मानते हुए कन्या के पुत्रवती, बन्ध्या या विधवा होने की बाधा को उपस्थित नहीं किया है। किन्तु दायभाग[3] ने मिताक्षरा की भाँति ही अविवाहित कन्याओं को विवाहिता की अपेक्षा वरीयता प्रदान की है।

---

1. मनुस्मृति 9/133
2. के० पी० जायसवाल मनुस्मृति याज्ञ० पृष्ठ 259
3. दायभाग याज्ञ० 2/135-136

विश्वरूप[1] धारेश्वर, देव स्वामी, देवरात आदि टीकाकारों ने उत्तराधिकारियों में 'दुहिता' शब्द को सामान्य न मानकर 'पुत्रिका' बनायी हुई 'दुहिता' का द्योतक माना है। किन्तु मिताक्षरा ने इसका खण्डन करते हुए कन्या मात्र को उत्तराधिकारिणी माना है। मनु तथा याज्ञवल्क्य[2] ने भाइयों द्वारा अविवाहिता बहन के लिए अपने-अपने भाग चतुर्थांश देने की जो व्यवस्था की है उस पर विशेष रूप से भारूचि[3] एवं अपरार्क[4] टीकाकारों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि चूंकि यह धन बहनों के विवाह के लिए निर्धारित है अतः विवाह के बाद बहनों का पैतृक सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं रहता। किन्तु चतुर्थांश की यह व्यवस्था अनेक दोषों के कारण व्यावहारिक नहीं बन पायी। विज्ञानेश्वर ने इस व्यवस्था के दोषों को सुधारा और व्यवहार बनाया। विष्णु स्मृति[5] में कहा गया है कि वस्तुतः प्रत्येक कन्या को अपने पिता की सम्पत्ति में से भरण पोषण पाने का अधिकार था। पिता अथवा पिता के अभाव में भाइयों का कर्त्तव्य था कि वे कन्या का विवाह करें। नारद[6] ने पैतृक धन के अभाव में भाइयों का यह कर्त्तव्य निश्चित किया कि वे स्वार्जित सम्पत्ति में से बहनों का विवाह संस्कार करें।

---

1. विश्वरूप, याज्ञ0 2/135 पर अन्य टीकाकार, स्मृति चन्द्रिका भाग 2, पृ0 295
2. मनु 9/118, याज्ञ0 2/124
3. पराशर माधवीय पृ0 510, 511 में उद्धृत
4. अपरार्क 2/124 पृ0 741-43
5. विष्णु 15/31 अनूढानां तु कन्यानां वित्तानुसारेण संस्कारं कुर्यात्।।
6. नारद 13/34

*अविद्यमाने पित्रर्थे स्वांशादुद्धृत्य वा पुनः।*

*अवश्यकार्याः संस्कारा भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः।।*

वस्तुतः कन्या को दायाद बनाने में बाधक, उनका विवाह के बाद दूसरे कुल में चला जाना था। कन्या को सम्पत्ति देने से वह एक कुल से दूसरे कुल में चली जाती थी। अतएव कन्या को दायाद बनाने में बहुत सी व्यावहारिक कठिनाइयाँ थी।

उपर्युक्त नियमों के अनुसार स्त्री को दायस्वरूप जो कुछ भी धन-सम्पत्ति प्राप्त होती थी, उस पर उसका सर्वाधिकार नहीं होता था। वह उनका जीवन पर्यन्त उपभोग तो कर सकती थी, किन्तु न नष्ट कर सकती थी और न विक्रय ही कर सकती थी। केवल निर्दिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही उसका विनियोग कर सकती थी। किन्तु इसके अतिरिक्त संयुक्त अथवा विभक्त परिवार की हिन्दू नारी को एक अन्य प्रकार की सम्पत्ति भी प्राप्त थी, जिस पर एक मात्र उसी का पूर्ण स्वत्त्व था और वह उसका विनियोग भी स्वेच्छापूर्वक कर सकती थी। नारी की इस सम्पत्ति की शास्त्रानुसार पारिभाषिक संज्ञा 'स्त्रीधन' है।

स्मृतिकारों के समय में स्त्रीधन के भेदों में वृद्धि होने लगी थी किन्तु किसी का ध्यान स्त्री धन की परिभाषा की ओर नहीं गया। यहाँ तक कि मनु, जिन्होंने सर्वप्रथम स्त्रीधन के प्रकारों की स्पष्ट व्याख्या की है, इसकी

---

1. मनुस्मृति 9/194 अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि।
   भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्।।

परिभाषा नहीं देते। मनु[1] ने छह प्रकार के स्त्रीधन का वर्णन इस प्रकार किया है—(1) अध्यग्नि (विवाह संस्कार में अग्नि के सम्मुख दिया गया धन) (2) अध्यावाहनिक (पिता के घर से पति गृह लायी जाती हुई कन्या के लिए दिया गया धन) (3) प्रीतिदत्त (प्रेम सम्बन्धी किसी सुअवसर पर पति आदि के द्वारा दिया गया धन) (4) भाई (5) माता (6) और पिता द्वारा विविध अवसरों पर दिया गया द्रव्य। पुनः मनु[1] ने घोषणा की है कि पति के जीवन काल में स्त्रियाँ जिन आभूषणों को पहनती हों, उनको भाई आदि रिक्थहर आपस में न बाँटे, क्योंकि उन्हें लेने पर वे पतित हो जाते हैं। मिताक्षरा[2] में कहा गया है कि यह संख्या यह बताती है कि इससे कम प्रकार का स्त्रीधन हो ही नहीं सकता, किन्तु अधिक प्रकार का हो सकता है।

इसके अतिरिक्त मनु[3] ने अन्य एक और प्रकार के स्त्रीधन का भी उल्लेख किया है—'अन्वाधेय' अर्थात् विवाह के बाद मिली भेटें। स्त्री के अन्वाधेय धन को पाने का अधिकार उसके पति के जीवित रहने पर भी पुत्रों या पुत्रियों का ही होता था। इसके अतिरिक्त मनु[4] ने स्त्रीधन के लिए 'यौतक'

---

1. मनुस्मृति 9/200 पत्यौजीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत्।
   न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते।।
2. मिताक्षरा याज्ञ0 2/143 पर
   इति स्त्रीधनस्य षड्विधत्वं तन्न्यून सङ्ख्या व्यच्छेदार्थ नाधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदाय।।
3. मनुस्मृति 9/195 'बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च' ।।
4. मनुस्मृति 9/131 "मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारी भाग एव सः"।।
   यौतक के सम्बन्ध में टीकाकारों में मतभेद रहा है सम्भवतः 'यौतक' का प्रयोग मनु ने सामान्य रूप से 'स्त्रीधन' के पर्यायवाची के रूप में किया है।

शब्द का भी प्रयोग किया है।

नारद[1] ने भी मनु की भाँति छह प्रकार का स्त्रीधन बताया है, किन्तु उन्होंने मनु के प्रीतिदत्त धन को 'भर्तृदाय' की संज्ञा देकर केवल पति द्वारा दी गयी भेटों तक ही सीमित कर दिया है। विष्णु[2] तथा याज्ञवल्क्य[3] ने मनु द्वारा उल्लिखित इन छः प्रकारों के अतिरिक्त स्त्रीधन में तीन अन्य प्रकारों की और वृद्धि कर दी है। जो ये हैं—अधिवेदनिक, बन्धुदत्त और शुल्क। यहाँ पर अधिवेदनिक वह धन है जो दूसरा विवाह करते समय पति द्वारा पहली स्त्री के सन्तोष के लिए प्रदत्त होता है। कन्या के मातृपक्ष और पितृपक्ष के बन्धुओं द्वारा प्रदत्त धन बन्धुदत्त कहा गया है तथा जो धन लेकर विवाह में कन्या दी जाय, वह शुल्क कहलाता है।

स्मृतिकारों में कात्यायन[4] एक ऐसे स्मृतिकार हैं जिन्होंने 27 श्लोकों में पूर्ण विस्तार के साथ स्त्रीधन की व्याख्या की है। उन्होंने मनु, नारद, याज्ञवल्क्य एवं विष्णु द्वारा कथित छह प्रकार के स्त्रीधन का वर्णन करते हुए स्त्रीधन के कुछ अन्य प्रकारों का भी प्रतिपादन किया है। कात्यायन के

---

1. नारद दायभाग 8।
2. विष्णु स्मृति 17/18
3. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/143-144
   "पितृमातृपति भ्रातृदत्त मध्यग्न्युपागतम्।
   अंधिक वेद निकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्।
4. कात्यायन, मिताक्षरा 2/143 यथा स्मृति चन्द्रिका भाग-2 पृष्ठ संख्या 280, 281 पर तथा दायभाग पृष्ठ 93 पर उद्धृत।

अनुसार छः प्रकार का स्त्रीधन इस प्रकार है—

1. **अध्यग्नि**—वह धन जो विवाह काल में अग्नि साक्षित्त्व के समय पिता आदि के द्वारा दिया गया हो।

2. **अध्यावहनिक**—वह धन जो पतिगृह को जाते समय पिता के घर से प्राप्त होता है। इन दोनों प्रकार के धन में वे भेटें भी सम्मिलित हैं। जो विवाह के समय आगन्तुकों द्वारा प्रदत्त होती हैं।

3. **प्रीतिदत्त**—वह धन जो सास-ससुर प्रीतिपूर्वक वधू को देते हैं तथा जो गुरुजनों की चरण वन्दना करते समय प्राप्त होता है।

4. **शुल्क**—वह धन जो घर की वस्तुओं, भारवाही एवं दुधारू पशुओं आभूषणों तथा दासों को खरीदने के लिए मूल्यरूप में प्राप्त होता है।

5. **अन्वाधेय**—वह धन जो विवाह के पश्चात् पितृ या पति कुलों के बन्धुओं से प्राप्त होता है।

6. **सौदायिक**—वह धन जो विवाहिता या अविवाहिता कन्या को अपने पति या पिता के घर में भाई और माता-पिता से मिलता है।

कात्यायन की स्त्रीधन की ये परिभाषाएं एवं प्रकार सभी निबन्धकारों को मान्य हैं। कात्यायन[1] ने स्त्रीधन के इन समस्त प्रकारों पर स्त्री का स्वतन्त्र स्वामित्व स्वीकार किया है, यहाँ तक कि वह इसके विनियोग में भी स्वतन्त्र है। किन्तु कात्यायन[2] ने स्त्रियों की शिल्पादि की कमाई तथा सम्बन्धियों के

1. दायभाग पृ0 संख्या 73 उद्धृत कात्यायन
2. वही पृ0 76 पर उद्धृत कात्यायन

अतिरिक्त व्यक्तियों द्वारा दी गयी भेटों पर पति का ही स्वत्त्व माना है। स्मृतिचन्द्रिका[1] भाग 2 में कात्यायन ने कुछ परिस्थितियों में दिए गए आभूषण स्त्रीधन के अन्तर्गत नहीं माने हैं—पिता भाई और पति द्वारा विशेष उत्सव पर पहनने के लिए दिए गए आभूषण तथा अपने समांशी दायादों को ठगने की कुदृष्टि से दिए गए आभूषण। देवल[2] ने स्त्रीधन के प्रकारों में वृत्ति के लिए दिया गया धन, आमरण शुल्क और लाभ का वर्णन किया है। परन्तु नन्दन[3] टीकाकार का कथन है कि मनु द्वारा गिनाये गये छह प्रकार के स्त्रीधन के अतिरिक्त जो कुछ सम्पत्ति स्त्री के पास होती है, वह स्त्रीधन में नहीं गिनी जाती।

स्वत्त्व की दृष्टि से स्त्रीधन दो प्रकार का होता है—(1) **सौदायिक**—वह सम्पत्ति जिस पर स्त्री का पूर्ण प्रभुत्व होता है तथा— **(2) असौदायिक**—वह सम्पत्ति जिसका उपयोग तो स्त्री करती है किन्तु उस पर नियन्त्रण उसके पति का होता है। कात्यायन[4] ने स्त्री के सौदायिक धन पर स्त्री के एकाधिकार की घोषणा करते हुए इसकी स्पष्ट रूप से व्याख्या की। उसने कहा—सौदायिक धन पर स्त्री का स्वतन्त्र अधिकार इस कारण से है क्योंकि यह धन पति से भिन्न सम्बन्धी स्त्री पर अनुकम्पा की दृष्टि से तथा दुर्गति से बचाने के

---

1. स्मृति चन्द्रिका भाग-2 पृ0 281 पर उद्धृत कात्यायन
2. दाय भाग पृ0 75
3. नन्दन मनु 9/194
4. कात्यायन 905-7, 911

लिए देते हैं। स्त्री सौदायिक सम्पत्ति के यथेच्छ विनियोग की तो अधिकारिणी है ही साथ ही वह सौदायिक अचल सम्पत्ति की भी स्वामिनी है। विधवा हो जाने पर वह पति द्वारा दी गयी चल भेटों के विनियोग में भी स्वतन्त्र है, किन्तु पति की जीवितावस्था में उसका कर्त्तव्य है कि वह पति द्वारा प्रदत्त धन का संग्रह करे या केवल कुल की आवश्यकताओं में ही व्यय करें। किन्तु पति, पुत्र, पिता तथा भाइयों को किसी स्त्री के स्त्रीधन के विनियोग का अधिकार प्राप्त नहीं है।

इसके अतिरिक्त देवल[1] ने कुछ अन्य प्रकार के स्त्रीधन के विनियोग का भी स्त्री को अधिकार दिया है। वह धन है—स्त्री की वृत्ति धन, आभरण, शुल्क तथा लाभ। इस धन का पति आपत्ति के अतिरिक्त किसी भी समय उपयोग नहीं कर सकता और यदि वह अकारण उपयोग करता है तो उसे यह धन ब्याज सहित पत्नी को लौटाना पड़ेगा।

किन्तु कात्यायन के पूर्ववर्ती स्मृतिकारों के सौदायिक सम्पत्ति के विषय में मत कुछ भिन्न हैं। मनु[2] ने किसी भी प्रकार के धन पर स्त्री को पति से स्वतन्त्र अधिकार नहीं दिया। नारद[3] ने पति द्वारा प्रदत्त अचल सम्पत्ति

---

1. देवल दायभाग पृ0 75, स्मृति चन्द्रिका भाग 2 पृ0 संख्या 285 पर उद्धृत।
2. मनुस्मृति 8/416, 9/199
3. नारद 4/28, 4/26

   भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन्मृतेऽपि तत्।
   सा यथाकाममश्नीयाद्रा स्थावरादृते।। नारद 4/28
   नाधिकारो भवेस्त्रीणां दान विक्रयकर्मसु।
   यावत्संजीवमाना स्यात्तवाद् भोगस्य सा प्रभुः।। 4/26

के अतिरिक्त धन पर स्त्री को प्रभुता दी है, किन्तु साथ ही स्त्रियों को सम्पत्ति के विनियोग से वंञ्चित रखा है तथा केवल उपभोग का ही अधिकार दिया है।

स्मृतियाँ कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में सौदायिक स्त्रीधन पर भी पति को अधिकार प्रदान करती हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति[1] तथा कात्यायन[2] के मतानुसार यदि दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, व्याधि में या बन्दी बनायें जाने पर पति, स्त्रीधन का व्यय करे तो उस धन को लौटाने के लिए पति को बाध्य नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य और विष्णु स्मृति[3] में कहा गया है कि जो ऋण पत्नी करती है उसे चुकाने का दायित्त्व पति पर नहीं होता तथा जो ऋण पति करता है उसे चुकाने का दायित्त्व पत्नी पर नहीं होता।

यदि स्त्रीधन को पति, माता या भाई बलपूर्वक ले लें या उसका उपयोग कर लें तो उन्हें वह धन ब्याज सहित उस स्त्री को लौटाना पड़ेगा। मनु[4] ने ऐसे सम्बन्धियों के लिए चोर के समान दण्ड की व्यवस्था की है कात्यायन अपरार्क, देवल स्मृति[5] के अनुसार केवल संकट पूर्ण या दुःखद परिस्थितियों में ही पति को स्त्रीधन के उपयोग का अधिकार था। कात्यायन[6] के अनुसार

---

1. याज्ञ0 2/147 दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके।
   गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति।।
2. कात्यायन 9/4
3. याज्ञवल्क्य 2/46, विष्णु 6/31, 32
4. मंनुस्मृति 8/29 9/200
5. कात्यायन अपरार्क पृ0 755 पर देवल स्मृति चन्द्रिका भाग 2 पृ0 283
6. कात्यायन 908

यदि किसी पुरुष की दो पत्नी में से एक उपेक्षित हो, तो राजा को चाहिए कि वह उसके पति से उसका स्त्रीधन लौटाने में सहायता करें। भले ही उस स्त्री ने प्रेमवश पति को वह धन दिया हो।

असौदायिक सम्पत्ति दो प्रकार की होती है—एक तो वह सम्पत्ति जो स्त्री अपने शिल्पादि श्रम द्वारा स्वयं उपार्जित करती है तथा दूसरी वह सम्पत्ति जो स्त्री को उसके माता-पिता, पति आदि सम्बन्धियों के अतिरिक्त व्यक्तियों से प्राप्त हुई है। इन दोनों प्रकार की सम्पत्तियों पर स्त्री का अधिकार या स्वामित्त्व नहीं होता। इसका अधिकारी स्त्री का पति ही होता है। दायभाग[1] के अनुसार शिल्पादि से धन या अन्य लोगों से प्राप्त भेंट-दान, पति के अधिकार में रहते हैं और वह उनका उपभोग आपातकाल न होने पर भी कर सकता है।

अतएव स्पष्ट है कि इस प्रकार के स्त्रीधन पर पति का यथेच्छ अधिकार था किन्तु पति के अतिरिक्त अन्य किसी को यह अधिकार प्राप्त नहीं था। यदि देखा जाय तो पुरुषों का असौदायिक स्त्रीधन पर सर्वाधिकार था, पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री इस सम्पत्ति को इच्छापूर्वक व्यय करने में स्वतन्त्र थी।

स्पष्ट है कि सौदायिक वह स्त्रीधन है जिसका विनियोग स्त्री स्वेच्छापूर्वक कर सकती है। वह सौदायिक अचल सम्पत्ति की भी पूर्ण स्वामिनी है तथा

---

1. दायभाग पृ0 76

उसकी मृत्यु के बाद उस सम्पत्ति के उत्तराधिकारी उस स्त्री के अपने रिक्थहर होते हैं। परन्तु असौदायिक वह स्त्रीधन है जिसका विनियोग स्त्री पति की अनुमति के बिना नहीं कर सकती। असौदायिक सम्पत्ति पत्नी की मृत्यु के बाद पति तथा उसके वारिसों को प्राप्त होती है तथा पति की मृत्यु के बाद पत्नी तथा उसके वारिसों को।

कात्यायन[1] और याज्ञवल्क्य ने सदा पति का अपकार करने वाली निर्लज्जा पति की सम्पत्ति नष्ट करने वाली तथा व्यभिचारिणी स्त्री को किसी भी प्रकार के स्त्रीधन का अधिकारिणी नहीं माना है।

मनु[2] के अनुसार माता का धन उसकी अविवाहित पुत्री पाती है। गौतम[3] के अनुसार स्त्रीधन पहले अविवाहित पुत्री को फिर निर्धन विवाहित पुत्री को, बाद में धनी विवाहित पुत्री को मिलता है। मनु[4] के अनुसार माता के मरने पर सगे भाई और बहिन को उसका धन समान रूप से बाँट लेना चाहिए। दुहिता पुत्रियों को भी स्नेहानुकूल कुछ भाग मिलना चाहिए। मनु[5] के मतानुसार यदि पत्नी पति के रहते मर जाती है तो उसका अन्वाधेय (पति कुल से प्राप्त धन) स्त्रीधन पति प्रदत्त स्नेहदान आदि धन उसकी सन्तानें ही प्राप्त

---

1. कात्यायन, अपरार्क द्वारा याज्ञ0 2/147 पर उद्धृत
2. मनुस्मृति 9/131
   (मातुस्तु यौतकं यत् स्यात् कुमारी भाग एव सः)
3. गौतम 29/22
4. मनुस्मृति 9/192-193-195
5. मनुस्मृति 9/196-197

करती हैं पति नहीं। यदि स्त्री का विवाह ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व और प्राजापत्य विधि से होता है और स्त्री सन्तानहीन मर जाती है तो उसका स्त्रीधन पति प्राप्त करता है। यदि आसुर राक्षस और पैशाच विधि से हुआ हो तो उस सन्तानहीन स्त्री का धन माता-पिता पाते हैं।

याज्ञवल्क्य[1] के अनुसार स्त्रीधन या माता का धन कन्याएँ पाती हैं। कन्या के अभाव में पुत्र पाते हैं। यदि स्त्री सन्तान हीन मर जाती है तो उसका स्त्रीधन पति प्राप्त करता है यदि विवाह ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य विधि से हुआ हो। यदि विवाह आसुर गान्धर्व पैशाच और राक्षस विधि से हुआ हो तो माता-पिता पाते हैं। नारद और विष्णु[2] का भी यहीं मत है। नारद[3] का कथन है कि माता का धन कन्याओं में बँटना चाहिए, उसके अभाव में उनकी सन्तानों को मिलना चाहिए।

*पितर्युपरते पुत्रा विभजेयुधनं पितुः।*
*मातुर्दुहितरोऽभावे दुहितॄणां तदन्वयः।।*

मनु[4] के अनुसार यदि निम्न जाति की स्त्री सन्तानहीन मर जाती है तो उसकी उच्चत्तर जाति वाली सौतेली पुत्री को उसका धन मिलता है। उसके अभाव में उसका पुत्र प्राप्त करता है।

---

1. याज्ञ0 2/117 मातुर्दुहितरः शेषमृणात् साम्य ऋतेऽन्वयः।
2. यांज्ञ0 2/144, 145 नारद 13/9 विष्णु 17/20-21
3. नारद 13/2
4. मनुस्मृति 9/98

याज्ञवल्क्य, विष्णु एवं नारद[1] के अनुसार पत्नी के समान ही माता को भी पिता की मृत्यु के बाद विभाजन के समय पुत्रों के एक भाग की प्राप्ति का अधिकार था, किन्तु जब तक पुत्र सञ्युक्त रहते थे, वह विभाजन की माङ्ग नहीं कर सकती थी। विभाजन के अवसर पर उसके पास विद्यमान समस्त स्त्रीधन को सम्मिलित करते हुए शेष भाग की पूर्ति करके ही उसे एक पुत्र के बराबर भाग दिया जाता था। मिताक्षरा[2] ने पूर्ववर्ती लेखकों के इस मत का खण्डन किया है कि माता को केवल जीविका के साधन मात्र प्राप्त होते हैं। मनु[3] के अनुसार सन्तानहीन पुत्र के धन को माता पाती है और माता के न रहने पर दादी पाती है। बृहस्पति[4] भी कहते हैं कि यदि मृत व्यक्ति की न तो स्त्री हो न पुत्र हो तो उसकी सम्पत्ति उसकी (मृत व्यक्ति की) माता लेगी। माता की अनुमति होने पर मृत व्यक्ति के भाई लेगें। मनु[5] के अनुसार औरस और क्षेत्रज आदि पुत्रों के न रहने पर पुत्रहीन पुरुष का धन पिता या भाई लेते हैं।

---

1. याज्ञ01 याज्ञवल्क्य 2/123 विष्णु—18/34, नारद दायभाग 12
2. याज्ञ0 2/135 पर मिताक्षरा।
2. मनुस्मृति 9/217
3. वृहस्पति 25/63
4. मनुस्मृति 9/185

   न भ्रातरो न पितरः, पुत्रा रिक्थहराः पितुः।
   पिता हरेदपुत्रस्य, रिक्थं भ्रातर एव च
   तद्भावे पितृगामि। तदभावे मातृगामि।।

मिताक्षरा[1] ने पिता की अपेक्षा माता को वरीयता दी है क्योंकि माता पिता की अपेक्षा अपने पुत्र से अधिक सन्निकट रहती है विष्णुस्मृति[2] के अनुसार पहले पिता फिर माता भाग पाती है। व्यास[3] के मतानुसार एवं विश्वरूप द्वारा याज्ञवल्क्य स्मृति की व्याख्या और साथ ही एक मध्यम स्तरीय मत के भी अनुसार पत्नी एवं माता अधिकतम दो हजार पणों की अधिकारिणी होती थीं। इस व्यवस्था को विभिन्न प्रकारों से स्पष्ट भी किया गया है। इसके अतिरिक्त पितामही को विमाता-पितामही के विभाजन की माङ्ग करने का कोई अधिकार नहीं था, किन्तु परिवार के पुरुषों में विभाजन के समय उन्हें एक भाग पाने का अधिकार था। व्यास का कथन है कि—"पिता की पुत्रहीन पत्नियों को पुत्र के बराबर भाग मिलता है और सभी पितामहियाँ माता के तुल्य होती हैं।

पुत्रहीन विधवा को मृत पति की सम्पत्ति का अधिकारी घोषित करने का श्रेय सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य को जाता है। यद्यपि विष्णु गौतम तथा शंख ने याज्ञवल्क्य से पहले विधवा को दायाद बनाने के सम्बन्ध में चर्चा की थी किन्तु काल विवाद तथा अर्थवाद विवाद के कारण इनके प्रमाण मान्य नहीं हैं। मनु[4] ने दायादों की लम्बी सूची में पत्नी का कहीं उल्लेख नहीं

---

1. (स्मृतिचन्द्रिका भाग 2 पृष्ठ संख्या 297)
2. विष्णु स्मृति 16/6-7
3. व्यास का मत, स्मृति चन्द्रिका भाग 2 पृष्ठ 281, तथा विश्वरूप द्वारा याज्ञ0 2/119 व्याख्या में उद्धृत
4. प्रो0 हरिदत्त वेदालङ्कार हि0 प0 मी0 पृ0 476 संकेत पं0 9

किया, किन्तु याज्ञवल्क्य ने सर्वप्रथम इसका उल्लेख करते हुए जो व्याख्या प्रस्तुत की वह आज तक हिन्दू समाज के अधिकांश भाग में उत्तराधिकार क्रम की आधारशिला के रूप में मान्य है। याज्ञवल्क्य[1] की व्यवस्थानुसार पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति पर क्रमानुसार पत्नी, कन्या, दौहित्र, माता, पिता, भाई, भाइयों के लड़के गोत्रज, बन्धु शिष्य एवं सहपाठी का अधिकार होता है।

किन्तु नारद[2] ने इस सम्बन्ध में पुरानी व्यवस्था का ही समर्थन किया है। उसने पुत्राभाव में कन्या के अधिकार का तो बलपूर्वक समर्थन किया क्योंकि उसके मत से "पुत्र और पुत्री दोनों पिता के वंश को बढ़ाने वाले होते हैं। किन्तु उसने विधवा को दायाद नहीं माना। नारद[3] के अनुसार दायादों का क्रम इस प्रकार है—पुत्री, सकुल्य, बान्धव सजाति और राजा।

*पुत्राभावे तु दुहिता तुल्य सन्तानदर्शनात्।*

*पुत्रश्च दुहिता चोभौ पितुः सन्तानकारकौ।।* नारद 14/17

---

1. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/135-136

   पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा

   तत्सुता गोत्रजा बन्धुशिष्यसब्रह्मचारिणः।

   एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः

   स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः।।

2. नारदस्मृति 14/17

3. नारदस्मृति 14/48-49

नारद[1] ने पतिव्रता विधवाओं के मात्र भरण पोषण की व्यवस्था का भार उसके पति के उत्तराधिकारी पर डाल दिया, किन्तु व्यभिचारिणी विधवा पत्नी को जीविका वृत्ति के अधिकार से भी वञ्चित रखा।

पुनः याज्ञवल्क्य के बाद बृहस्पति तथा कात्यायन ने विधवा को दायाद बनाने का तर्कयुक्त प्रबल समर्थन किया। याज्ञवल्क्य ने उत्तराधिकारियों में विधवा का उल्लेख भर किया है किन्तु बृहस्पति ने विधवा के इस अधिकार की पुष्टि में तर्क भी उपस्थित किए। उन्होंने कहा—वेदों, स्मृतियों तथा लोकाचारों द्वारा पत्नी पति की अर्द्धाङ्गिनी मानी गयी है जो पुण्य तथा पाप के फलों में पति के समान भागीदार समझी जाती है। जिस पुरुष की पत्नी जीवित है उसकी देह का आधा भाग जीवित रहता है, अतएव उसके शरीर के आधे भाग के जीवित रहते कोई अन्य पुरुष उसके पति के धन का अधिकारी कैसे हो सकता है। अतएव पुत्रहीन मृतव्यक्ति की सम्पत्ति का उत्तराधिकार सकुल्य पिता, माता, सहोदर भाई आदि के रहते हुए भी, उसकी पत्नी को मिलता है। बृहस्पति[2] के अनुसार—"पति से पहले मरने वाली पत्नी

---

1. नारदस्मृति 14/25-26
2. वृहस्पति अपरार्क पृ0 740-741, दायभाग 1/112 पृष्ठ संख्या 149-150, कुल्लूक मनु 9/187 पर स्मृति चन्द्रिका भाग-2 पृष्ठ 290 पर उद्धृत यथा—"आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरभिः। शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा।। यस्यनोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति। जीवत्यथशरीरेऽर्थं कथमन्यः समाप्नुयात्।। सकुल्यैविद्यमानैस्तु पितृभ्रातृ सनातिभिः। असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भाग हारिणी। पूर्व मृता त्वग्निहोत्रं मृते भर्तरि तद्धनम्। विन्देत् पतिव्रता नारी धर्म एष सनातनः।।"

अपने पति के अग्निहोत्र को साथ ले जाती है, किन्तु यदि पति पहले मर जाए तो साध्वी पत्नी उसकी सम्पत्ति को प्राप्त कर लेती है। पतिव्रता नारी की वन्दना करनी चाहिए, यही सनातन धर्म है।

कात्यायन[1] ने बृहस्पति का ही समर्थन करते हुए साध्वी पतिव्रता पत्नी को दायाद बनाया है। कात्यायन[2] के अनुसार कुल-प्रतिष्ठा की रक्षा करने वाली स्त्री पति के मरने पर उसके अंश को जीवन पर्यन्त प्राप्त करने वाली होती है किन्तु इसके दान, विक्रय और गिरवी रखने का अधिकार नहीं होगा।

अतएव स्पष्ट है कि पत्नी जीवन पर्यन्त पति की सम्पत्ति का उपभोग कर सकती है किन्तु उसका यथेच्छ विनियोग नहीं कर सकती। केवल पति के उत्तराधिकारियों की सहमति से ही उसे विनियोग का अधिकार है किन्तु वह धार्मिक कार्यों अथवा पति को लाभ पहुँचाने वाले कार्यों के लिए पर्याप्त व्यय कर सकती है। पति के मरने पर यह सम्पत्ति पति के अन्य उत्तराधिकारियों को प्राप्त होती हैं। इस प्रकार वृहस्पति तथा कात्यायन की प्रबल तर्कपूर्ण विवेचना के आधार पर ही मध्यकाल तथा आधुनिक काल

---

1. कात्यायन, याज्ञ0 2/126 मिताक्षरा द्वारा उद्धृत

पत्नी भर्तुधनहरी या स्याद व्यभिचारिणी।
तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा।।

2. कात्यायनस्मृतिचन्द्रिका पृष्ठ 292 पर उद्धृत

मृते भर्तत्रिरि भशं लभेत कुलपालिका।
यावज्जीवं न हि स्वाम्यं दानावमनविक्रये।

की विधवाओं को पति की सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त हुए। इन्हीं के समान व्यास, उशना, यम, बृद्धहारीत, लघुहारीत बृहन्मनु[1] ने भी विधवा को मृतपति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी माना है।

कात्यायन[2] ने एक विशेष नियम की व्यवस्था दी है कि यदि पतिस्त्रीधन देने की प्रतिज्ञा कर ले तो उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र (अपने पुत्र या विमाता-पुत्र) को उसे ऋण के रूप में चुकाना चाहिए, किन्तु ऐसा तभी हो सकता था जबकि विधवा पति के कुल में ही रहे और अपने पिता के घर न जाय।

ऋग्वेद[3] में वधू के साथ वर के लिए उपहार भेजने का वर्णन आया है। आपस्तम्ब[4] के अनुसार भी आभूषण पत्नी का होता है और वह सम्पत्ति भी उसकी है जिसे वह अपने पिता भाई आदि से प्राप्त करती थी। बौधायन[5] का मत है कि कन्याएं अपनी माता के आभूषण पाती है और परम्परा से जो कुछ मिलना चाहिए वह भी उसे प्राप्त होता है। शङ्ख[6] ने व्यवस्था दी है कि विवाह के सभी प्रकारों में कन्या को आभूषण एवं स्त्रीधन देना चाहिए।

---

1. व्यास धर्मकोश खण्ड-2 पृ0 1524, उशना वही पृ0 1526, यम वही, वृद्धहारीत वही, लघु हारीत, बृहन्मनु 1527 पृ0)
2. कात्यायन—905-7, 911, 916
4. 1. ऋ0 10/85/13 एवं 38
5. आप0 ध0 सू0 2/6/14/9
6. बौधायन ध0 2/2/49
7. शंङ्ख (संस्कार प्रकाश पृ0 851)

सम्भवतः यही व्यवस्था आगे (वर्तमान समय में) चलकर दहेज का विकराल रूप धारण कर चुकी है।

स्त्रीधन के उत्तराधिकार के विषय में गौतम[1] ने कहा है कि स्त्रीधन सर्वप्रथम पुत्रियों को मिलता है और इन पुत्रियों को भी अविवाहित कन्याओं को वरीयता मिलती है तथा विवाहितों में उनको जो निर्धन होते हैं। याज्ञवल्क्य[2] के व्याख्याकार विज्ञानेश्वर ने कहा है कि पुत्रियों में पुत्र की अपेक्षा माता के शरीर का अंश अधिक रहता है अतः उसे स्त्रीधन की प्राप्ति में वरीयता मिली है। मिताक्षरा में दोषपूर्ण और अवगुणयुक्त कन्याओं को स्त्रीधन न देने का विधान नहीं है।

अतः स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को स्वीकार किया गया है। इसमें बहुमूल्य वस्त्र एवं आभूषण जवाहरात आदि वस्तुयें ही आती थीं। जिसके ऊपर सामान्य परिस्थिति में स्त्री का पूर्ण अधिकार होता था। प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रीधन नारी की सामाजिक एवं आर्थिक दशा में दृढता की ओर इङ्गित करता है, जो उसकी विभिन्न अवस्थाओं से आबद्ध है। स्त्री के विपत्तिकाल में उसके जीवन का सञ्चालन उसके स्त्रीधन से ही हो सकता था।

स्त्रीधन से सम्बन्धित उपलब्ध तथ्यों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल से ही कन्या के विवाह के अवसर पर या स्त्री को

---

1. गौतम धर्म सूत्र, 28/22
2. मिताक्षरा याज्ञ0 2/117

अपने वैवाहिक जीवन में विभिन्न अवसरों पर न्यूनाधिक धनराशि या सामग्री उपहार या प्रेमवश प्राप्त हुआ करती थी। एक नैतिक मान्यतावश स्त्री का स्वत्व इस पर प्रारम्भ हुआ और पतिकुल में स्त्री के मातृकुल से आयी हुई (दहेज की) सामाग्री उस स्त्री के स्वत्व मूलक शब्दों से पहचानी जाने लगी। इसलिए धीरे-धीरे पत्नी के स्त्रीधन पर उपभोग सर्वाधिकार प्रचलित हुआ। यह संयोग ही है कि ऋग्वेद से धर्मसूत्र/धर्मशास्त्र पर्यन्त साहित्य में दायभाग के सन्दर्भ में विधवा स्त्री के स्त्रीधन के विषय में स्वत्वादि का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। फिर भी यत्र-तत्र प्राप्त उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि विधवा अपने आपद्काल में जीवन यापन के लिए इस धन का यथा आवश्यकता उपभोग करती थी। प्रारम्भिक स्मृतिकारों ने स्त्रीधन में मात्र चल सम्पत्ति की गणना की है, किन्तु कात्यायन और बृहस्पति आदि ने अचल सम्पत्ति को भी स्त्रीधन में जोड़ने का प्रयास किया है, जबकि दान, विक्रय या गिरवी रखने के अधिकारों पर विवाद बना रहा। फिर भी प्रारम्भिक स्मृतिकारों की अपेक्षा बाद के स्मृतिकारों का दृष्टिकोण व्यापक एवं उदार था।

स्त्रीधन और उस पर विधवा के स्वत्व विषय पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि वैवाहिक अग्नि के समक्ष या विवाह के बाद विभिन्न अवसरों पर विदाई इत्यादि के समय स्त्री के पतिगृह में पहुँचने पर सास श्वसुर या भाई इत्यादि द्वारा जो कुछ प्रीति पूर्वक प्राप्त हो उसमें क्या हो सकता है? कुछ आभूषण जिन्हें स्त्रियाँ शरीर पर धारण करती थीं, पहनने के लिए वस्त्र

और साज-श्रृङ्गार की सामग्री, इसके साथ बहुत थोड़ी सी मुद्रा जिसकी अधिकांशतः सीमा प्राचीन भारतीय साहित्य में तीन हजार पण तक नियत की गई थी।

यद्यपि स्त्रीधन की प्रकृति पर विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि अधिकांश सामग्री उपभोग की थी और वह पुरुषों द्वारा उपभोग्य नहीं थी (स्त्रियों के वस्त्र आभूषण, साज-सज्जा के समान आदि) कोई भी सम्पत्ति पूँजी के रूप में सामने नहीं आती। यदि स्त्री को इसके उपभोग का अधिकार मिला था, तो पुरुष समाज ने स्त्री पर कोई अनुकम्पा या उदारता नहीं दिखायी थी क्योंकि स्त्री को नग्न (आभूषण रहित) रखना, उसे कुरूप देखना न तो उसकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के अनुकूल था न सांस्कृतिक स्तर (सामाजिक स्तर) पर ही मान्य।

रही उन गिनी चुनी मुद्राओं की बात, आपद्काल में पुरुषों को उसे भी प्राप्त करने और व्यय करने का अधिकार था। आभूषण जिसे स्त्रियाँ अपने आपद्काल के लिए सञ्चित रखा करती हैं उस पर भी पुरुष समाज और परिवार के प्रत्येक व्यक्ति की निगाहें सदैव टिकी रहती है। विधवाओं को इस सम्पत्ति के विक्रय, दान, गिरवी रखने के अधिकारों का विरोध पुरुषों की धन लोलुपता की पराकाष्ठा थी यह सम्पत्ति स्वत्व ही कैसा, जो प्रतिबन्धित हो? क्योंकि कभी किराये का मकान अपना नहीं समझा जाता। यदि विधवा का स्त्रीधन पर उपभोग तक ही स्वत्त्व था तो उसे स्त्रीधन पर पूर्ण अधिकार नहीं कह सकते।

भारतीय समाज में पुरुषों ने स्त्री को सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार दिया तो न था, तथापि किन्हीं परिस्थितियों में वह उसका प्रयोग मात्र कर सकती थी। पुरुष वर्ग को जब लगा कि उसके हाथ से कोई लाभ की वस्तु निकल जाएगी तो उसने अनेक प्रतिबन्ध लगाने की चेष्टा की। यथा—व्यभिचार और सदाचार का सम्पत्ति से क्या सम्बन्ध? क्योंकि व्यभिचारी को भी धन की आवश्यकता (भोजन वस्त्र साज-सज्जा आदि) तो होती ही है। विधवा स्त्री उस समाज में जहाँ पुनर्विवाह न कर सकें न ही नियोग अपना सके, यदि पुरानी मान्यताओं का पालन न कर पाये तो उसे स्त्रीधन (अपने आभूषण) से वञ्चित कर दिया जाय, यह उदार भावना का परिचायक नहीं माना जा सकता।

निष्कर्ष यही है कि स्मृतिकाल में विधवा स्त्री को वस्त्र धारण और अपने परिवार में रहकर किसी तरह पेट भरने जीवित रहने का अधिकार था। कीमती वस्त्र, साज-सज्जा, आभूषण पहनना समाज ने वैधव्य के कारण प्रतिबन्धित ही कर दिया था। अतः उन पर सिद्धान्त रूप में अधिकार होते हुए भी व्यवहार में इच्छानुसार उसका उपयोग नहीं कर पाती थी।

# सामाजिक स्थिति

*"स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन्"* इस उक्ति से स्पष्ट है कि नारी जाति के विषय में स्मृतिकारों के विचार कितने उत्कृष्ट एवं उदार रहे हैं। स्त्रियों को गृहों में लक्ष्मी के समान कहा गया है, अतएव 'श्री' तथा 'स्त्री' में कोई भेद नहीं है। जहाँ तक स्नेह एवं प्रेम प्रदर्शित करने का प्रश्न है पुत्र एवं पुत्री में भारतीय शास्त्रों या धर्मशास्त्रों में कोई भेद नहीं किया गया है। लेकिन जहाँ पर सामाजिक स्तर एवं आर्थिक उत्तराधिकार का प्रश्न है, निश्चित रूप से दोनों स्थितियों में अन्तर है। मनुस्मृति में (9/81-82) साधारण तौर पर माना गया है कि जिस प्रकार आत्मा एवं पुत्र में कोई भेद नहीं है उसी प्रकार पुत्र-पुत्री में भेद नहीं है। किन्तु उत्तराधिकार आदि के सम्बन्ध में यह समानता नहीं। मनुस्मृति एवं बृहत्पराशर[1] में कहा गया है कि सन्तानोत्पादन, सन्तान का पालन-पोषण प्रतिदिन के अतिथि तथा मित्रादि के सत्कार रूपी लोक व्यवहार के पालन का मुख्य साधन स्त्रियाँ ही हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि धार्मिक कृत्य, सेवा शुश्रूषा श्रेष्ठ रति पितरों के एवं अपने स्वर्ग आदि स्त्रियोंके ही अधीन हैं। मनुस्मृति एवं बृहत्पराशर स्मृति[2] में कहा गया है कि जिस कुल में बहन, कन्या, पत्नी

---

1. उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्
   प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षंस्त्रीनिबन्धनम्     (मनुस्मृति 9/27) बृहत्पराशर 6/7
2. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः
   यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।     मनुस्मृति 3/56
   बृहत्पराशरस्मृति 6/44-45

पुत्रवधू, माता आदि स्त्रियों का वस्त्रालङ्कारों मधुरवचनों आदि से सत्कार होता है, उस कुल में देवता निवास करते हैं तथा जिस कुल में स्त्रियों का समादर नहीं होता वहाँ समस्त क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं। मनु[1] का कथन है कि जिस कुल में स्त्रियाँ शोकाकुल होकर शाप दे देती हैं, वह कुल शीघ्र ही कृत्या के द्वारा सताये गये की भाँति नष्ट हो जाता है, किन्तु जिस कुल में ये नारियाँ प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सदा उन्नति करता है। याज्ञवल्क्य[2] एवं मनु ने कहा है कि उन्नति चाहने वाले व्यक्ति को स्त्रियों का सदा सत्कार करना चाहिए तथा विशेष उत्सवों के अवसर पर वस्त्राभूषणों एवं भोजनादि के द्वारा सम्मानित करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त मनु[3] ने नारी का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए उसे सृष्टि चक्र को चलाने के लिए अनिवार्य माना है। बिना नारी के सृष्टि की रचना नहीं हो सकती, अतएव सृष्टि को चलाने के लिए हिरण्यगर्भ ने अपने शरीर के दो भाग किए, जिसमें से एक भाग से पुरुष और दूसरे भाग से नारी तत्त्व का निर्माण किया। इस प्रकार स्मृतिकारों की दृष्टि में नारी हर प्रकार से पुरुष के समान ही प्रमुख स्थान रखती है।

स्मृतिकारों की दृष्टि में गृह में नारी की अनिवार्य सत्ता का कितना महत्त्व है तथा नारी का कैसा सम्मान है, इसका अनुमान उसकी सुखी गृहस्थ सम्बन्धी

1. मनुस्मृति 3/57-58-59
2. याज्ञ० 1/82, मनुस्मृति 3/55
3. द्विधा कृत्वाऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्
   अर्धेन नारी तस्यां च विराजमसृजत्प्रभुः।।    मनुस्मृति 1/32

उक्तियों से ही जाना जा सकता है। स्मृतिकार पति-पत्नी के मध्य अत्यन्त मधुर एवं सहयोग की भावना से ओत-प्रोत सम्बन्ध को ही दाम्पत्य जीवन की आधार शिला मानते हैं। मनुस्मृति[1] में कहा गया है कि जिस कुल में पति पत्नी से तथा पत्नी-पति से सन्तुष्ट है, वहाँ नित्य ही कल्याण होता है।

"यो भर्ता या सा स्मृताङ्गना" के उत्कृष्ट आदर्श को प्रस्तुत करते हुए मनु[2] ने कहा है कि स्त्री के बिना पुरुष अपूर्ण है, पति तथा पत्नी में कोई भेद नहीं हैं। मनु नारी को पुरुष का ही अवयव मानते हैं तथा उनके अनुसार दोनों मिलकर ही पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं। याज्ञवल्क्य[3] ने *"यत्रानुकूल्यं दामपत्योस्त्रिवर्गस्तत्रवर्धते"* कहकर स्त्री पुरुष की परस्पर अनुकूलता में ही धर्म, अर्थ और काम का वास माना है। बृहस्पति[4] ने भी इसी बात का समर्थन किया है। पराशर[5] ने नारी की समानता पृथ्वी से की है। बृहत्पराशर[6] के अनुसार 'जहाँ पत्नी है, वहीं घर, पत्नी के बिना घर वन के सदृश है। घर से व्यक्ति गृहस्थ नहीं बनता, पत्नी के साथ ही गृहस्थ कहलाता है।

---

1. मनुस्मृति 3/60
2. मनुस्मृति 9/45
3. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/74,
4. बृहस्पतिस्मृति 6/47
5. पराशरस्मृति 10/24, "यथा भूमिस्तथा नारी तस्मात्तां न तु दूषयेत्।"
6. वृहत्पराशरस्मृति 6/71 यत्र भार्या गृहं तत्र भार्याहीनं गृहं वनम्।
   न गृहेण गृहस्थः स्याद्भार्यया कथ्यते गृही।।

मनुस्मृति और बृहत्पराशर स्मृति[1] में कहा गया है कि मृत्यु पर्यन्त स्त्री पुरुष में परस्पर धर्मार्थकाम विषयक कार्यों में पार्थक्य (अलगाव) न हो—यही संक्षेप में स्त्री-पुरुष का धर्म है—अर्थात् वैवाहिक जीवन का आदर्श पति-पत्नी का परस्पर अन्योन्य समभाव (एकभाव) है।

मनु आदि स्मृतिकार नारी की शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता की ओर पूर्ण सजग दिखायी पड़ते हैं। वे नारी की अन्तर्निहित विशेषताओं के प्रति भी उदासीन नहीं हैं। वे नारी को उन्हीं कार्यों का दायित्त्व सौंपते हैं; जिनको वे अपनी प्रकृति के अनुकूल सरलता एवं कुशलता पूर्वक वहन करने में समर्थ है। मनु और याज्ञवल्क्य ने नारी का कार्य क्षेत्र गृह माना और इसी आधार पर उसे गृहस्वामिनी कहा। मनुस्मृति नारी को ऐसे कार्य नहीं सौंपती जो कि उसके स्वभाव के विरुद्ध हो और जिन्हें वह भली प्रकार नहीं निभा सकती हो। वस्तुतः शारीरिक रूप से स्त्री-पुरुष दोनों परस्पर भिन्न कार्यों के लिए उपयुक्त हैं। पुरुष शारीरिक एवं मानसिक दृष्टिकोण से कठिन एवं श्रम युक्त कार्यों के लिए समर्थ है जबकि नारी गृहकार्यों तथा अन्य अल्प श्रमयुक्त कार्यों के लिए ही।

---

1. अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः
   एष धर्मः समासेनज्ञेयः स्त्रीपुंसयो परः।। (मनुस्मृति 9/101)
   स्त्रीपुंसयोर्यत्र विन्यासस्तयोरन्योन्यामुच्यते। (वृहत्पराशर 6/178)
2. मनुस्मृति 9/27-28 याज्ञवल्क्य 1/83
3. मनुस्मृति 9/11

स्त्रियों की मानसिक तथा शारीरिक दुर्बलता के कारण स्मृतियों में उनकी रक्षा करने का आदेश है। नारियों में बौद्धिक हीनता का कारण मनु ने ब्रह्मा की सृष्टि रचना को बताया है। मनु[1] के अनुसार ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना करते समय शय्या, आसन, आभूषण, काम, क्रोध, कुटिलता द्रोह भाव और दुराचरण आदि स्त्रियों के लिए बनाए थे। मनु[2] के अनुसार स्त्रियों में छह स्वभावजन्य दोष पाये जाते हैं, अतएव स्त्रियों को इससे बचना चाहिए। मनु ने स्त्रियों को असत्य के समान अपवित्र कहा है और इसी कारण उनकी रक्षा को आवश्यक माना है। कुल्लूक[3] ने मनु के इस वक्तव्य का स्पष्टीकरण देते हुए कहा है कि स्त्रियों के संस्कार वैदिक रीति से सम्पन्न न होने के कारण उनका अन्तःकरण निष्पाप नहीं होता, अतएव वे यत्नतः रक्षणीय होती हैं। *"ततश्च मन्त्रवत् संस्कारगुणाभावान्न निष्पापान्तःकरणाः"।* इसी प्रकार मनु[4] ये *"चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा"* कहकर चारों वर्णों की नारियों के रक्षण का भार पूर्णरूप से पुरूष को सौंप देते हैं। राजा को भी नारी की रक्षा करने के लिए प्रेरित करते हुए धर्म सूत्रकार एवं स्मृतिकार कहते हैं—राजा का धर्म है कि वह आपत्ति के समय धन की रक्षा करे, धन के

---

1. मनुस्मृति 9/16, 17, 18
2. मनुस्मृति 9/13
3. कुल्लूक मनु 9/18 पर (ततश्च मन्त्र)
4. मंनु 8/359
5. मनुस्मृति 7/213, बौधा0 2/61
   सर्वेषामेव वर्णानां दारा रक्ष्यतमाधनात्।

द्वारा स्त्रियों की रक्षा करें और धन तथा स्त्रियों के द्वारा सर्वदा अपनी रक्षा करें,[1] क्योंकि स्त्रियों की रक्षा करने से मनुष्य अपनी सन्तान अपने आचरण, अपने कुल अपनी आत्मा और अपने धर्म की रक्षा करता है। मनुस्मृति[2] में कहा गया है कि स्त्री की रक्षा इसलिए और भी आवश्यक मानी गयी है जिससे कि दूषित सन्तानोत्पत्ति न हो। मनु[3] ने कहा है कि एक प्रकार से पति ही स्त्री में प्रवेश करके गर्भ रूप होकर संसार में उत्पन्न होता है। जाया का जायात्व यही है जो कि इसमें फिर से जन्मता है।

हारीत[4] का वचन है कि पत्नी की अरक्षा से धर्मनाश, धर्मनाश से आत्मनाश और आत्मनाश से सर्वनाश होता है। इसके अतिरिक्त वृहत्पराशरस्मृति[5] में कहा गया है कि स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा आठ गुनी काम वासना अधिक होती है इसीलिए मनु एवं बृहत्पराशर ने कहा वह स्त्रियाँ धन, जाति, रूप, आयु आदि का विचार किए बिना ही केवल पुरुष है इतना मानकर भोग करती है।

*नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः।*
*सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते।।*

(मनुस्मृति, वृ0 पराशर)

---

1. मनुस्मृति 9/7, याज्ञ0 1/78
2. मनु 9/9
3. मनुस्मृति 9/8, जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः।
4. हारीत, वी0 मि0 व्यवहार प्रकाश, पृष्ठ 410 पर उद्धृत।
5. वृहत्पराशर स्मृति 6/53
6. मनुस्मृति 9/14, वृहत्पराशरस्मृति 6/54

*नारीणां च नदीनां च गतिर्न ज्ञायते बुधैः*

*चेष्टा चरित्र-चित्राणि देवा नैव विदुः स्त्रियाम्*

*किं पुनः प्राणिमात्रास्तु सर्वथा नष्टवुद्धयः।।*

वृहत्पराशर 6/56, 57, 58

वृहत्पराशरस्मृति[1] में कहा गया है कि स्त्री तथा नदी की गति को विद्वान् भी नहीं जानते स्त्रियों की चेष्टा, चरित्र एवं चित्तों को जब देवता भी नहीं जान पाते फिर सर्वथा नष्ट बुद्धि प्राणिमात्र का तो क्या कहना? अतएव ससुर, देवर, पिता भाई आदि सब पुरुषों को सदा सभी उपायों से स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए।

जीवन भर नारी पर पहरा बैठाकर उसका रक्षण नहीं किया जा सकता। नारी रक्षण का उपाय बताते हुए मनुस्मृति (9/11) कहते हैं कि पिता, पति, पुत्रादि अभिभावकों को चाहिए कि वे स्त्रियों को धन के संग्रह, व्यय, वस्तु तथा पदार्थों की शुद्धि, घर की सफाई, पति तथा अग्निहोत्र की सेवा आदि कार्यों में नियुक्त करके व्यस्त रखे। याज्ञवल्क्य स्मृति[2] ने स्त्रियों के लिए गृहकार्यों में दक्ष होना आवश्यक माना है। इसी प्रकार अन्य स्मृतिकारों[3] ने भी स्त्री की रक्षा, उनके कार्यक्षेत्र में अत्यन्त विस्तार करके ही बतायी है। इन स्मृतिकारों के विचारों से यदि स्त्री के कार्य क्षेत्र को विस्तृत करके उसे

---

1. वृहत्पराशर स्मृति 6/56, 57, 50
2. याज्ञ0 1/83
3. बृहस्पति, वी0 मि0 पृ0 411, हारीत, वही, पृ0 431-4 तथा शुक्र 4/4/8-31

व्यस्त रखा जाए, जिससे कि वह थककर अन्ततः सो जाए तो उसे कुछ सोचने का अवसर ही न मिलेगा और उसकी स्वयं की रक्षा हो जायेगी। फिर भी मनु का विचार इस सम्बन्ध में भिन्न है तथा अधिक तर्क सम्मत भी प्रतीत होता है। मनु[1] ने कहा है कि किसी भी स्त्री को उसके सगे सम्बन्धी पुरुष कितनी भी रक्षा क्यों न करें, किन्तु यदि वह स्त्री अपनी रक्षा स्वयं नहीं करती तो फिर वह सदा अरक्षित ही है अर्थात् वे ही नारियाँ सुरक्षित हैं जो धर्मानुकूल बुद्धि होने के कारण अपनी रक्षा स्वयं ही करती हैं।

*अरक्षिता गृहे रूद्धाः पुरूषैराप्तकारिभिः।*

*आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः।।* (मनुस्मृति 9/12)

इस प्रकार नारी के उपर्युक्त स्वभाव जन्य दोषों को ध्यान में रखते हुए शास्त्रकारों ने नारी के रक्षण को अनिवार्य माना और रक्षण की आवश्यकता की आड़ में नारी को हर प्रकार की स्वतन्त्रता से वञ्चित किया। सर्वप्रथम गौतम[2] ने "अस्वतन्त्रता धर्मे स्त्री" कहकर नारी को धर्म कार्य में पराधीन बताया। वसिष्ठ[3] ने "अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुषप्रधाना" कहकर नारी को पुरुष की अधीनता में दे दिया तथा सामान्य रूप से उसे स्वतन्त्रता न देते हुए, बचपन में पिता को, यौवन में पति को तथा वृद्धावस्था में पुत्र को

---

1. मनुस्मृति 9/12
2. गौतम 1, गौतम अ0 18
3. पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने
   रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति। वशिष्ठ 5/1/3

उसका संरक्षक नियुक्त किया। इसी व्यवस्था का सभी स्मृतिकारों[1] ने अनुमोदन किया।

याज्ञवल्क्यस्मृति[2] के अनुसार नारी को कहीं भी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। जिस स्त्री के पिता, पति तथा पुत्रादि अभिभावक न हों उस स्त्री की रक्षा जाति के लोग करते हैं। इसी प्रकार नारद[3] का कहना है कि "जब विधवा पुत्रहीन होती है, तो उसके पति के सम्बन्धी उसके भरण-पोषण, देखभाल तथा सम्पत्ति की रक्षा करने वाले होते हैं, किन्तु यदि उनका अभाव हो तो पिता का कुल उसका रक्षक होता है। विधाता ने स्त्री को पराश्रित बनाया है, अच्छे कुल की नारियाँ स्वतन्त्र होने पर पतन के गर्त में गिर जाती हैं।

स्त्रियों के लिए स्वतन्त्रता पर ऐसा कड़ा नियन्त्रण रखने के लिए क्या कारण थे? ऐसा प्रतीत होता है कि नारियों के दुर्बल स्वभाव को देखते हुए तथा उनके प्रति असतीत्व होने की प्रबल धारणा मन में रखते हुए ही स्मृतिकारों ने उसकी स्वतन्त्रता का प्रबल निषेध किया है। पर-पुरुष संसर्ग से नारियों की रक्षा करने की भावना, इस नियम की प्रेरक शक्ति है। क्योंकि पर पुरुष संसर्ग से उत्पन्न पुत्र, मृत्यु के बाद यमलोक को पहुँचा देता है,

---

1. मनुस्मृति 9/3. 5/146-148, याज्ञ0 1/85, 86, बौधा0 2/50-52 विष्णु 25/12, 13, वृहत्पराशरस्मृति 6/56, नारद दायविभाग, 30, 31
2. याज्ञ0 1/85, मिता0 "न स्वातन्त्रं क्वचित्स्त्रियः"
3. नारद दायविभाग 27, 31, वृहत्पराशर स्मृति 6/60
3. रेतोधाः पुत्रं नमति परेत्य यमसादनें
   तस्माद्भार्यां तु रक्षन्ति बिभ्यतः पररेतसः।। (बौधायनस्मृति 2/40)

ऐसी स्मृतिकारों[4] की धारणा थी। इसी धारणा के आधार पर नारियों के पिता, पति तथा पुत्रादि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उनके रक्षक बनें।

मनु[1] ने योग्य वयस् में कन्या का विवाह न करने वाले पिता को, पत्नी की भली प्रकार देखभाल न करने वाले पति को तथा माता को वृद्धावस्था में सहारा न देने वाले पुत्र को निन्दनीय बताया है। इस व्यवस्था से स्पष्ट होता है कि स्मृतिकारों का उद्देश्य, नारियों की स्वतन्त्रता को छीनना नहीं था, अपितु जीवन भर उनकी सतीत्त्व रक्षा व देखभाल करना था।

स्मृतिकारों ने नारी के सतीत्त्व को बहुत ही ऊँचा एवं अनिवार्य स्थान दिया है। मनु तथा याज्ञवल्क्य[2] के अनुसार सतीत्त्व द्वारा नारी उस परमलोक को प्राप्त कर सकती है, जिसे केवल ब्रह्मा, पवित्र ऋषि और पवित्र ब्राह्मण ही प्राप्त कर पाते हैं। पुनः याज्ञवल्क्य तथा वृद्धहारीत[3] कहते हैं कि पति के जीवन काल में मर जाने पर भी जो स्त्री किसी दूसरे पुरुष के समीप नहीं जाती, वह इस संसार में तो कीर्ति पाती ही है, मृत्यु के बाद भी अपने पुण्य के प्रभाव से उमा के साथ सुखपूर्वक निवास करती है।

विष्णु[4] के अनुसार पति की मृत्यु के बाद सती साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्य का

---

1. कालेऽदाता पिता वाच्योवाच्यश्चानुपयन्पतिः
   मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता।। मनु 9/4
2. मनु 5/165-166, याज्ञ0 1/87
3. मृते जीवति वा पत्यौ या नान्यमुपगच्छति
   सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चोमया सह।। याज्ञ0 1/75, वृद्ध हा0 8/196
4. विष्णु 25/17

पालन करती हुई पुत्रहीना होते हुए भी ब्रह्मचारियों के तुल्य स्वर्गलोक को जाती है। गौतम[1] स्त्री के साध्वी चरित्र पर इतना बल देते हैं कि उनके अनुसार स्त्री को मन से भी पति के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष का चिन्तन नहीं करना चाहिए। वृद्धहारीत[2] के अनुसार नारियों का परम धर्म शील (सतीत्त्व) है। शीलभङ्ग होने पर स्त्री यमलोक के भयङ्कर दुःख को पाती है।

इसी प्रकार कन्याओं के लिए कौमार्य का अनिवार्य महत्त्व है। मनु[3] ने कन्याओं के कौमार्य को विशेष महत्त्व प्रदान करते हुए विस्तृत विवेचना की है। मनु[4] के मत में विवाह संस्कार अक्षत योनि की कन्या का ही हो सकता है, क्षतयोनि कन्या के संस्कार की विधि नहीं है। स्मृतिकारों[5] ने अनन्यपूर्विका तथा अस्पृष्ट मैथुना कन्या को ही पाणिग्रहण के योग्य माना है। उन्होंने (क) कन्याओं का कौमार्य नष्ट करने वाले व्यक्ति को वध के तुल्य कठोर दण्ड का भागी बनाया है। (ख) तथा जो लोग कन्या के सम्बन्ध में झूठा प्रवाद

---

1. गौतम अ0 18, "नाति चरेद् भर्तारम्"
2. वृद्धहारीत 8/195
3. मनुस्मृति 8/224-226, 8/364-370
4. मनुस्मृति 8/226

   पाणि ग्रहणिका यन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः

   नाकन्यासु क्वचिन्तणां लुप्तधर्मक्रियाः हिताः
5. (क) गौतम 4/1 वशिष्ठ 8/1, याज्ञ0 1/52

   (ख) मनुस्मृति 8/364

   (ग) मनुस्मृति 8/225 विष्णु 5/47

उड़ाते थे उनके लिए सौ पण दण्ड का विधान किया है। (ग) नारद 1/31 के मतानुसार कलियुग का एक लक्षण यह भी है कि कन्याएँ ही माताएँ बनने लगेंगी। कन्या दूषण करने वाले पुरुषों को मनु[1] ने वेदयज्ञ तथा पितृश्राद्ध में त्याग देने को कहा है। अतः ऐसा व्यक्ति केवल नैतिक रूप से ही नहीं अपितु समाज में भी बहिष्कृत तथा अपाङ्क्तेय कहा गया है।

प्राचीन काल से ही हिन्दू परिवारों में नारी के सतीत्त्व का आदर्श पत्नी की अपनी सत्ता को पूर्ण रूप से पति में विलीन कर देना है। बृहस्पति[2] ने कहा है कि वही स्त्री पतिव्रता है जो पति के दुःखी होने पर दुःखी, प्रसन्न होने पर प्रसन्न, विदेश जाने पर मलिन एवं दुर्बल तथा पति के मर जाने पर स्वयं भी मर जाने वाली हो। मनु[3] ने कहा है कि दुःशील पति की सेवा-पूजा स्त्री को देवता की भाँति करनी चाहिए एक बार विवाह हो जाने पर नारी को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं है।

उपर्युक्त समस्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि नारी के अखण्डित सतीत्त्व पर स्मृतिकारों ने पूर्ण बल दिया तथा ऐसी अपराधिनी

---

1. मनुस्मृति 12/164
2. वृहस्पति मिताक्षरा (याज्ञ0 1/86) द्वारा उद्धृत
   आर्त्तार्ते मुदिते दृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा
   मृते म्रियते या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता।।
3. मनुस्मृति 5/154-158

नारियों के लिए मनु, याज्ञवल्क्य, गौतम, नारद एवं बृहस्पति[1] आदि ने सिर मुडवाने अङ्ग-भङ्ग करने, सम्पत्ति छीनने आदि के कठोर दण्ड विहित किए। जहाँ तक शास्त्रकारों[2] (गौतम) ने नारियों के सतीत्त्व का मानदण्ड एक पतीत्त्व तथा मन से भी परपुरुष का स्मरण न करना माना है वहाँ पुरुष के लिए इस प्रकार की कोई सीमा निर्धारित नहीं की है। मनु ने पत्नी[3] के मरने के बाद पुरुष को दूसरा विवाह करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी है। जबकि पति की मृत्यु हो जाने पर पत्नी दूसरे विवाह की अधिकारिणी नहीं है, यहाँ तक कि वह दूसरे पुरुष का नाम तक नहीं ले सकती।[4] मनु[5] विवाह के बाद पत्नी के दोष प्रकट होने पर पुरुष उसे छोड़ सकता है, किन्तु पत्नी पति के दोष प्रकट होने पर उसे नहीं छोड़ सकती। मनु[6] ने पत्नी को यह आदेश दिया है कि चाहे उसका पति दुःशील परस्त्री-गामी या गुणहीन क्यों न हो, उसे पति को देवता के समान ही पूजना चाहिए।

*विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।*

*उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः।।*

---

1. मनुस्मृति 8/371, गौतम 23/14, याज्ञ0 1/70, पराशरस्मृति 10/18-23 10/30, वृद्धहारीत0 4/184-185
2. गौतम अ 18, "नातिचरेद् भर्तारं"
3. मनुस्मृति 5/168
4. मनुस्मृति 5/162
5. मनुस्मृति 9/72-71
6. मनुस्मृति 5/154

पराशर स्मृति[1] में तो यहाँ तक कहा गया है कि दरिद्र, रोगी, या धूर्त पति का भी जो स्त्री पति भाव से आदर नहीं करती, वह मर कर सर्पिणी होती है और बार-बार वैधव्य के कष्ट को भोगती है, किन्तु इसके विपरीत स्मृतिकारों[2] ने पुरुष को दीर्घ रोग ग्रस्त, धूर्त, बाँझ, अप्रियवादिनी तथा पुत्रियों को जन्म देने वाली स्त्री के जीवित रहते हुए भी दूसरा विवाह करने का अधिकार दिया है। शङ्ख[3] ने स्त्री के अनुकूल न रहने पर पुरुष को उसके अधिवेदन का अधिकार दिया है।

उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर यह स्पष्ट है कि स्मृतियों[4] के काल में स्त्री को दूसरा विवाह करने की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी, जबकि पुरुष को ऐसा विशेषाधिकार प्राप्त था और कुछ परिस्थितियों में पत्नी का अधिवास भी कर सकता था। इसी के परिणाम स्वरूप पुरुष एक पत्नीव्रत के उच्चादर्शों को भूलने लगा और नारियों की दशा निरन्तर पतनोन्मुख होती गयी। अतः सतीत्त्व का यह आदर्श केवल स्त्रियों के लिए अनिवार्य होने से पक्षपात पूर्ण एवं एकाङ्गी है।

---

1. पराशर स्मृति 4/15
2. स्मृतिकारों (मनुस्मृति 9/80-81, याज्ञ0 1/73 बौ0 ध0 2/65, वृहत्पराशर 6/67)
3. शंख स्मृति च0 पृ0 244 पर उद्धृत।
4. मनुस्मृति 5/162 "न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद् भर्तोपदिश्यते।"
   मनुस्मृति 9/65 "न विवाह विधावुक्तं विधवावेदनं पुनः।।"
   मनुस्मृति 9/47 "सकृत्कन्या प्रदीयते।"
   मनुस्मृति 8/226 "पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।"

सत्तीत्व के इस एकाङ्गी आदर्श को देखते हुए यह कल्पना कर पाना भी कठिन होता है कि इस युग में नारियों के पुनर्विवाह भी कभी होते रहे होगें। प्रथम स्मृतिकार मनु ने विधवा के पुनर्विवाह का विरोध विभिन्न ढङ्गों से किया है। वस्तुतः नारियों का सतीत्त्व के एकाङ्गी आदर्श का विकास नारियों की स्थिति गिरने के साथ-साथ ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में हुआ। मनु[1] पहले स्मृतिकार थे, जिन्होंने इसका पूर्णतः समर्थन किया।

यद्यपि समाज ने इसे शनैः शनैः स्वीकार कर लिया था किन्तु फिर भी नारद तथा पराशर जैसे मध्ययुग के स्मृतिकारों[2] ने स्त्रियों के प्रति ऐसे कठोर नियमों को स्वीकार नहीं किया, अतएव गुप्तयुग तक हमें पुनर्विवाह के उदाहरण मिल जाते हैं। नारद (400 ई० पु०) ने पति के नपुंसक होने की दशा में, पत्नी को दूसरे विवाह का अधिकार दिया। इसके लिए नारद का तर्क यह है कि नारियों की रचना सन्तानोत्पत्ति के लिए हुई है, स्त्री क्षेत्र है, पुरुष बीज है, अतएव क्षेत्र को बीजयुक्त को ही देना चाहिए, बीजहीन को क्षेत्र पाने का अधिकार नहीं है।

अतएव नारद व पराशर[3] ने पति के लापता, मृतक, क्लीब, पतित

---

1. हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू परिवार मीमान्सा पृ0 117
2. हरिदत्त वेदालङ्कार हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इति0 पु0 293 पर

   अपत्यर्थ स्त्रियः सृष्टाः स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः।
   क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजो क्षेत्रमर्हति।।
3. नारद स्त्रीपुंस 99 पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।

   पराशर 4/25 पत्यौ प्रव्रजिते नष्टे क्लीबेऽथ पतिते मृते।

और संन्यासी होने की दशा में स्त्री को दूसरे पुरुष से विवाह करने की अनुमति दी है। किन्तु पराशर[1] ने पुनः कहा है कि पति के मृत्युगत होने पर जो नारी ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहती है वह एक सद्ब्रह्मचारी की भाँति ही मृत्यु के बाद स्वर्ग को प्राप्त करती है। अतः स्पष्ट है कि स्मृतिकार कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार देते हुए भी, विधवा विवाह को अच्छा नहीं समझते थे।

वसिष्ठ[2] ने कहा है कि वाणी और जल से दी गयी कन्या, जिसका संस्कार मन्त्रों से न हुआ हो और पति मर जाए तो क्वाँरी कन्या मानी जाती है। मन्त्रों के साथ जिस कन्या का संस्कार न हुआ हो और कोई बलपूर्वक ले जाता है तो उस कन्या का विधिपूर्वक संस्कार किया जा सकता है। यदि मन्त्रों के साथ किसी कन्या का संस्कार हो जाने के बाद पति मर जाय, और कन्या अक्षतयोनि हो तो उसका पुनर्विवाह किया जा सकता है। अधिकतर स्मृतिकारों[3] ने पति के परदेश चले जाने पर पत्नी से उसकी प्रतीक्षा करने की निश्चित अवधि बतायी है, परन्तु इन स्मृतिकारों ने यह नहीं बताया कि इतनी प्रतीक्षा करने के बाद भी पति के न लौटने पर पत्नी क्या करे?

उपर्युक्त सभी तथ्यों से यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती कि प्रोषितपतिका पत्नी की प्रतीक्षा की अवधि समाप्त हो जाने पर भी यदि पति के आवास निवास का निश्चित ज्ञान नहीं हो पाये तो उसे क्या करना चाहिए। केवल

1. पराशर 4/26
2. वसिष्ठ 17/64-65, बौधायन ध0 4/1/65
3. मनुस्मृति 9/76, याज्ञ0 1/69 वसिष्ठ 17/69-68

नारद[1] एक ऐसे स्मृतिकार हैं जो भिन्न वर्णो की प्रोषितपतिका पत्नियों के लिए पति की प्रतीक्षा की अवधि विभिन्न रूप से निर्धारित करके स्पष्ट कहते हैं कि यदि[2] निर्धारित समय तक पति नहीं लौटता तो स्त्री को दूसरे पुरुष का आश्रय ले लेना चाहिए। नारद[3] के मत से इस प्रकार दूसरा पति बना लेने में स्त्रियों का कोई दोष नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल नारद व पराशर स्त्रियों को कुछ अवस्थाओं में पुनर्विवाह का अधिकार देते हैं।

नारद स्मृति में पुनर्भू स्त्रियों का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसके अनुसार—पुनर्भू स्त्री वह है जो एक पुरुष से विवाह करने के बाद उसके मर जाने अथवा अन्य किसी कारण से, पुनः दूसरे पति को विवाह द्वारा प्राप्त करती है। नारद ने ऐसी सात प्रकार की स्त्रियों का वर्णन किया है।

*परपूर्वाः स्त्रियत्स्वन्याः सप्त प्रोक्ता यथाक्रमम्*

*पुनर्भूस्त्रिविधा तासां स्वैरिणी तु चतुर्विधा।।*

मनु[4] यद्यपि विधवा विवाह के कट्टर विरोधी है किन्तु उन्होंने ने भी

---

1. नारद स्त्रीपुंस 100-104
2. नारद स्त्रीयुंस 100

   अष्टौ बर्षाण्युदीक्षते ब्राह्मणं प्रोषितं पतिम्।

   अप्रसूता तु चत्वारि परतोऽन्यं समाश्रयेत्।।
3. नारद स्त्रीपुंस 104, स्त्रीणामेवं दोषो न विद्यते।
4. मनु 9/176

अक्षतयोनि कन्या के पुनर्विवाह की बात चलायी है। वसिष्ठ तथा याज्ञवल्क्य[1] ने पौनर्भव संस्कार की चर्चा की है। बौधायन[2] पुनर्भू स्त्री से उत्पन्न होने वाले पुत्र को पौनर्भव पुत्र कहते हैं। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य, नारद, वसिष्ठ, गौतम, बौधायन आदि सभी स्मृतिकारों[3] ने पौनभर्व पुत्र की चर्चा दायभाग प्रकरण में की है। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्मृतिकाल में स्त्रियों के पुनर्विवाह भी होते थे, किन्तु इन विवाहों को विशेष अच्छा नहीं समझा जाता था। इससे उत्पन्न पुत्रों को हेय दृष्टि से देखा जाता था, जैसा कि पुनर्भू स्त्री के पुत्र को श्राद्ध कर्म में आमन्त्रित न करने की व्यवस्था याज्ञवल्क्यस्मृति[4] से भासित होती है।

विधवा स्त्री के पुनर्विवाह के निषेध के साथ ही उसके जीवन में कर्त्तव्यों एवं दायित्त्वों की अधिकता दिखायी देती है। पति की मृत्यु होते ही नारी का जीवन अत्यन्त कठोर एवं नीरस हो जाता था। मनु[5] ने विधवाओं की जीवनचर्या का विस्तृत वर्णन करते हुए उन्हें कन्द, पुष्प व फल खाने, अपने शरीर को दुर्बल बनाने तथा पर पुरुष का नाम तक न लेने का आदेश दिया है। उनके अनुसार विधवा को मृत्युपर्यन्त क्षमाशील रहना चाहिए तथा मधु,

---

1. वसिष्ठ 17/74, याज्ञवल्क्य 2/130
2. बौधायन 2/31
3. मनुस्मृति 9/160, याज्ञ0 2/134, नारद दायविभाग 45
   वसिष्ठ 17/19-20, गौतम अ0 19, बौधायन 2/31-37
4. याज्ञ0 1/222
5. मनुस्मृति 5/157, 160

मांस, मद्यादि का त्याग करके ब्रह्मचर्य के व्रत का दृढता से पालन करना चाहिए। पुनः सदाचारिणी विधवा के अर्जित पुण्य लाभ की प्रशंसा करते हुए मनु कहते हैं कि अपने सतीत्त्व की रक्षा करके, व्रतों का आचरण करने वाली नारी यदि पुत्रहीना भी हो, तो भी वह ब्रह्मचारियों के समान स्वर्ग को जाती है। विष्णु एवं पराशर[1] ने भी मनु के समान विधवा स्त्री के लिए ब्रह्मचर्य व्रतों का पालन करना श्रेष्ठ बताया है तथा याज्ञवल्क्य[2] ने विधवा को सदा माता, पिता, भाई, पुत्र, श्वसुर एवं सास आदि अभिभावकों की अधीनता में रहना उचित बताया है। वृद्धहारीत[3] ने विधवा स्त्री की आमरण दिनचर्या इस प्रकार निश्चित की है। "विधवा स्त्री को केश सज्जा, पान, गन्ध, पुष्पादि का सेवन, रङ्ग-बिरङ्गे वस्त्र, कांसे के बर्तन में भोजन, दो बार भोजन, आँखों में अञ्जन लगाना, सदा के लिए त्याग देना चाहिए। उसे श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिए तथा क्रोधहीन जितेन्द्रिय साध्वी तन्द्रा तथा आलस्य से रहित, सुनिर्मल एवं शुभ आचरण वाली होना चाहिए, उसे रात को पृथ्वी पर कुश की शय्या बिछाकर सोना चाहिए तथा ध्यान एवं योग साधना करनी चाहिए। इस प्रकार सुनियताहार वाली भली प्रकार व्रत परायणा स्त्री पति के समान अपूर्व बैकुण्ठ पद प्राप्त करती है।

---

1. विष्णु 25/17, पराशरस्मृति 4/26
2. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/86
3. वृद्ध हारीत 8/204, 211

   एवं सुनियताहारा सम्यग्व्रत परायणा।

   भर्त्रा सह समाप्नोति बैकुण्ठपदमव्ययम्।।

मनु एवं याज्ञवल्क्य आदि किसी स्मृति में विधवा के क्षौर (मुण्डन) की चर्चा नहीं की गयी है। वृद्धहारीत[1] ने विधवा के लिए केश श्रृङ्गार का निषेध किया है। अतएव यह स्पष्ट है कि विधवाएं मुण्डित सिर वाली नहीं होती थी।

यदि पति की मृत्यु हो गयी हो और विधवा ने अपना शरीर चिता में अपने पति के शरीर के साथ ही जलाया हो, तो इसे 'सहमरण', 'सहगमन' अथवा 'अन्वारोहण' कहते हैं। यदि पति का दाह संस्कार कहीं और हो गया हो, और पत्नी मृत पुरुष की राख पादुका अथवा किसी स्मारक चिह्न के साथ जलायी जाये तो इसे 'अनुमरण' कहते हैं। सती प्रथा की चर्चा मनुस्मृति[2] में नहीं की गयी, क्योंकि मनु चाहते थे कि विधवा पति की मृत्यु के बाद ब्रह्मचर्य का पालन करें। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति में भी विधवाओं के सती होने की चर्चा नहीं है।

बृहत्पराशरस्मृति[3] में कहा गया है कि पति के साथ मरने वाली पत्नी पति का उद्धार करती है। पराशरस्मृति[4] के अनुसार मनुष्य के शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं, जो स्त्री स्वामी का अनुसरण करती है, वह उतने ही काल तक स्वर्ग में निवास करती है। जिस प्रकार सर्प पकड़ने वाला,

---

1. वृद्धहारीत 8/205
2. मनुस्मृति 5/157, 158
3. बृहत्पराशरस्मृति, जीवानन्द 2 पृ0 182 (भर्त्रा सह मृता भार्या भर्त्तारं सा समुद्धरेत)
4. पराशर स्मृति 4/32-33

सर्प को बिल से बलपूर्वक निकालता है उसी प्रकार वह स्त्री पति का उद्धार करके उसके साथ ही आनन्दित होती है।

मिताक्षरा में (1/86) दिए गए उद्धरणों से स्पष्ट है कि शङ्ख और अङ्गिरस भी पराशर से सहमत हैं। बृहस्पति और व्यास[1] 'सहगमन'[1] को विकल्प मानते हैं—पति की मृत्यु के बाद चिता पर चढ़ जाए अथवा पति के कल्याणार्थ शुद्ध जीवन यापन करें। दक्षस्मृति[2] के अनुसार जो स्त्री पति के मरने पर उसके साथ अग्नि में जल जाती है वह शुभ आचरणों से युक्त होती है और स्वर्ग के ऊपर पूजी जाती है।

*मृते भर्तरि या नारी समारोहेद्हुताशनम्।*

*सा भवेन्तु शुभाचारा स्वर्गलोके महीयते।* 4/19-20

इसके अतिरिक्त दक्ष ने पराशरस्मृति में उद्धृत श्लोक (4/33) को दुहराया है। टीकाकारों ने सतीप्रथा के विषय में परस्पर विरोधी मत प्रकट किया है। मेधातिथि[3] सतीप्रथा के विरोधी थे। उनका कहना है—अस्त्येव पतिमनुमरणेऽपि स्त्रियः प्रतिषेधः अर्थात् पतियों के साथ अनुमरण में भी स्त्रियों का प्रतिषेध है। मिताक्षरा[4] के अनुसार मृत पति के सङ्ग मरना सभी स्त्रियों का, ब्राह्मण

---

1. वृहस्पति 25/51, व्यास स्मृति जीवानंद 2 पृ0 329
   मृतं भर्त्तारमादाय ब्राह्मणी वहिनमाविशेत्।
   जीवन्ती चेत्त्यक्तकेशा तपसा शोधयेद्वपुः।।
2. दक्षस्मृति 4/15-20
3. मेधातिथि 5/155
4. मिताक्षरा 1/86

से चण्डाल तक जो गर्भवती न हों, और शिशु वाली न हो साधारण धर्म था।

*अयं च सकल एव सर्वासां स्त्रीणामगर्भिणीं।*

*नाम बाला पत्यानामचण्डालं साधारणो धर्मः।।*[1]

मिताक्षरा (1/86)

अपरार्क[2] विराट का यह कथन उद्धृत करते हैं कि जीवित रहने से विधवा पति का हित कर सकती है, किन्तु सती बनने से वह आत्महत्या करती है। स्मृतिचन्द्रिका[3] सती प्रथा को ब्रह्मचर्य से जघन्य समझती है।

प्राचीनकाल से ही शास्त्रकारों की यह प्रबल धारणा रही है कि नारी की किसी भी अवस्था में हत्या नहीं करनी चाहिए। मनु[4] की दृष्टि से स्त्री हत्या उपपातक है तथा स्त्री हत्या करने वाले को राजा द्वारा प्राणदण्ड मिलना चाहिए। मनु और गौतम[5] ने स्त्री हत्या करने पर ब्रह्महत्या के समान प्रायश्चित्त का विधान किया है।

बृहस्पतिस्मृति[6] में स्त्रीहन्ता व्यक्ति को हजार गायों के हन्ता के समान पापी माना गया है। प्रायः सभी स्मृतियों[7] में सतीत्त्व खण्डन जैसे महापाप

---

1. अपरार्क 1/87
3. स्मृतिचन्द्रिका व्यवहारकाण्ड पृष्ठ 597
   "तदेतद्धर्मान्तरमपि ब्रह्मचर्य धर्मात् जघन्यं निकृष्टफलत्वात्।"
4. मनुस्मृति 11/66, 9/232
5. मनुस्मृति 11/72, 82, गौतम अ0 23
6. वृहस्पति 1/27
7. याज्ञवल्क्यस्मृति 2/286, वृद्ध हारीत 7/192

को करने पर भी नारियों के लिए वध के अतिरिक्त अन्य दण्डों की व्यवस्था की गयी है, किन्तु कहीं कहीं स्मृतियों[1] में कुलटा स्त्रियों के लिए प्राणदण्ड की आज्ञा दे दी गयी है।

अतः स्पष्ट है कि नीच एवं चरित्रहीन स्त्रियों का वध यद्यपि पाप था किन्तु फिर भी उनके वध का दण्ड बहुत ही हल्का अथवा नहीं के बराबर था। नारी के समस्त दण्ड, न्यायालय में राजा द्वारा विचार विमर्श के बाद ही दिए जाते थे। अन्यथा मनुस्मृति (2/299-300) शङ्ख (4/16) तथा यम (विवाद रत्नाकर पृ0 202 पर उद्धृत) के अनुसार ताडन द्वारा ही स्त्रियों पर नियन्त्रण रखने का नियम था। विवाद रत्नाकर (पृ0 202) में स्त्रियों के वध, विरूपीकरण एवं बन्दीकरण को निषिद्ध माना है।

नारी-हरण को स्मृतिकारों ने अत्यन्त घोर पापकर्म माना है। मनु एवं याज्ञवल्क्य[2] ने इसके लिए वधु को दण्ड एवं प्रायश्चित के योग्य समझा है। इसी प्रकार स्मृतियों[3] में स्त्री जाति एवं भार्योपजीवी की घोर निन्दा की गयी है। स्मृतियों[4] में पति को पत्नी के दान का कोई अधिकार नहीं दिया गया है।

---

1. पराशर—"हीन वर्णोपभुक्ता या साम्या साऽङ्क्या वध्याऽथवा।", गौ0 ध0 सू0 पृ0 234 पर उमेश चन्द्र द्वारा उद्धृत्। विश्वरूप द्वारा याज्ञ0 3/268 पर। विवाद रत्नाकर 398 पर। मनुस्मृति 11/138 गौतम अ0 23
2. मनुस्मृति 8/323, 11/163, याज्ञ0 3/212, 2/290
3. मनुस्मृति 4/27, याज्ञ0 1/163, वसिष्ठ 14/6, मनु 8/65, याज्ञ0 2/70, 71, नारद 4/81
4. याज्ञ0 2/175 एवं कुटुम्बाविरोधेन देयं दारसुतादृते।

स्मृतिकाल में स्त्रियों का उपनयन संस्कार किया जाता था अथवा नहीं इस विषय में स्मृतिकारों में मतभेद है। स्मृतिकाल[1] में स्त्रियों का उपनयन नहीं किया जाता था, वैवाहिक मन्त्रों के समय ही उपनयन आदि हो जाता था। स्त्रियाँ दो प्रकार की थीं। (1) ब्रह्मवादिनी या ज्ञानिनी (2) सद्योवधू (जो सीधे विवाह कर लेती थीं। इनमें 'ब्रह्मवादिनी' स्त्रियों को उपनयन करना, अग्निहोत्र करना, वेदाध्ययन करना, अपने ही घर में भिक्षाटन करना पड़ता था, किन्तु सधोवधुओं का वित्राह के समय उपनयन कर दिया जाता था।

यम[2] ने लिखा है कि प्राचीन काल में मूञ्ज की मेखला बाँधना (उपनयन) नारियों के लिए एक नियम था। उन्हें वेद पढ़ाया जाता था। वे गायत्री मन्त्र का उच्चारण करती थी। उन्हें अपने पिता, चाचा, भाई पढ़ा सकते थे। अन्य कोई बाहरी पुरुष नहीं पढ़ा सकता था। वे घर में ही भिक्षा माङ्ग सकती थीं। उन्हें मृगचर्म, वल्कल वस्त्र नहीं पहनना पड़ता था और न वे जटाएं रखती थीं।

अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्राचीन काल में कन्याओं का उपनयन किया जाता था। विष्णुस्मृति[3] में यह माना गया हैं कि स्त्रियोंके लिए उपनयन संस्कार आवश्यक नहीं है, क्योंकि विवाह ही उनका उपनयन संस्कार है—

---

1. संस्कार तत्त्व पृ0 866
2. ' पुराकल्पे............जटाधारणमेव च।

   संस्कार प्रकाश पृ0 402-403, स्मृतिचन्द्रिका 1 पृ0 24
3. विष्णुस्मृति 22, 23,

"स्त्रीणां विवाहः संस्कारः (22, 23) इस सम्बन्ध में मनु[1] का मत कुछ अस्पष्ट है—एक ओर जातकर्म से लेकर उपनयन तक शरीर की शुद्धि के लिए संस्कारों का उल्लेख करने के बाद वे कहते हैं कि ये सभी संस्कार कन्याओं के लिए भी बिना मन्त्रों के सम्पन्न करना चाहिए, किन्तु बाद में कन्याओं के लिए इस संस्कार को अनावश्यक घोषित करते हैं। मेधातिथि[2] इसकी टीका करते हुए कहते हैं कि—विवाह ही स्त्रियों का वैदिक संस्कार और उपनयन है। आश्वलायनगृहसूत्र[3] के मतानुसार कन्याओं का भी चूडाकर्म होना चाहिए, किन्तु वैदिक मन्त्रों का उच्चारण नहीं होना चाहिए। मनु एवं याज्ञवल्क्य[4] ने जातकर्म से चौलकर्म तक के सभी संस्कारों को कन्या शिशुओं लिए उचित माना है।

ऋग्वैदिक युग[5] में यज्ञों में प्राप्त अधिकार पत्नी से छीन लिए गए और स्मृतिकाल तक नारियों को यज्ञाधिकार से वञ्चित कर शूद्रों के समकक्ष बना दिया गया। स्त्रियों को यज्ञाधिकार से वञ्चित करने के निम्न कारण थे—(1) स्त्रियों का मासिक धर्म (2) कर्मकाण्ड की जटिलता एवं पवित्रता में वृद्धि (3) अन्तर्जातीय विवाह (4) स्त्रियों को उपनयन के अभाव में शूद्र समझा जाना।

---

1. मनु 2/67, 2/66
2. मेधातिथि 2/67, "विवाह एव स्त्रीणां वैदिकसंस्कार उपनयनम्"
3. आश्वलायन गृह0 सूत्र 1/17/18
4. मनु 2/66, याज्ञ0 1/13 (तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः 1/13)
5. सूतसंहिता शूद्रकमलाकर पृ0 23/पर उद्धृत

*द्विजस्त्रीणामपि श्रौतज्ञानाभ्यासेऽनधिकारिता*

*वदन्ति केचिन्मुनयः स्त्रीणां शूद्रसमानताम्।।*

यद्यपि स्त्रियों का उपनयन नहीं किया जाता था और वे वेदाध्ययन से भी सर्वथा वञ्चित कर दी गयी थीं, किन्तु फिर भी शास्त्रों की मर्यादा के अनुसार गृहस्थ पुरुष जो भी धार्मिक कृत्य करता था उसमें उसकी पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य थी। लध्वाश्वलायन[1] के अनुसार पत्नी की जीवित अवस्था में शिशु का कोई भी संस्कारादि कर्म बिना पत्नी के एकाकी नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति[2] के अनुसार स्त्रियाँ धार्मिक कृत्य बिना मन्त्रों के कर सकती थीं। मनु[3] ने धार्मिक कृत्यों में पति-पत्नी में सदा एकता बतायी है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति[4] के अनुसार स्त्रियों का यज्ञ से निकट सम्बन्ध होने के कारण ही यदि वे पति के पूर्व मर जाती थी तो उनका शरीर पवित्र अग्नि के सारे उपकरणों एवं पात्रों के साथ जलाया जाता था। वृद्धहारीतस्मृति[5] में कहा गया है कि पत्नी की मृत्यु हो जाने पर पति उसकी कुशमयी प्रतिमा बनाकर आजीवन अग्निहोत्र तथा पञ्चयज्ञ आदि का आधान करे।

---

1. लध्वाश्व0 16/6 पत्नीं विना न तत्कुर्यात्संस्कारं कर्म यच्छिशोः
   पत्न्यां चैव तु जीवन्त्यां विधिरेष उदाहृतः।।
2. मनुस्मृति 3/121 "सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्।"
3. मनुस्मृति 9/101, 102
4. मनुस्मृति 5/167, 178, याज्ञ0 1/89
5. वृद्धहारीत 8/2/3

*कृत्वा कुशमयीं पत्नीं यावज्जीवमतन्द्रितः।*

*जुहूयादग्निहोत्रं तु पञ्च यज्ञादिकं तथा।।*

मनु एवं विष्णु[1] के अनुसार स्त्रियों के पक्ष में धार्मिक अधिकार की स्वतन्त्रता नहीं थी। पत्नी पति के अनुपस्थित में अथवा उसकी आज्ञा के बिना कोई धार्मिक कृत्य स्वतन्त्र रूप में नहीं कर सकती थी।

गौतम[2] ने श्रौत तथा स्मार्त धर्मों में स्त्री को अस्वतन्त्र बताया है अर्थात् पति के ही धर्मानुष्ठान का पत्नी को अनुकरण करना चाहिए। कात्यायन[3] ने कहा है कि विवाह के पूर्व पिता की आज्ञा के बिना और विवाहोपरान्त पति या पुत्र की आज्ञा से स्त्री जो कुछ आध्यात्मिक लाभ के लिए करती है वह सब निष्फल हो जाता है। मनु[4] ने कन्या और युवती द्वारा यज्ञ का होता बनने का निषेध किया और कहा कि कर्ता रूप में होम करने पर ये नरकगामी होते हैं। इसके अतिरिक्त मनु[5] ने कहा है कि ब्राह्मण को अश्रोत्रिय ग्राम्यपुरोहित [समस्त ग्राम भर (बिना विवेक)] और जिस यज्ञ की कर्ता स्त्री

---

1. मनुस्मृति 5/155, विष्णु 25/15
2. गौतम अ 18, "अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री"
3. कात्यायन, व्यवहार मयूख, पृ0 113 पर उद्धृत
4. मनुस्मृति 1/36, 37

   न वै कन्या न युवतिर्नाल्यविद्यो न बालिशः ।

   होता स्याद्ग्निहोवस्य नार्तो ना संस्कृतस्तथा ।।
5. मनु 4/205-206

हो, उस यज्ञ में भोजन नहीं करना चाहिए।

गौतम[1] ने शब्दों में वर्जित नियन्त्रण वाले व्यक्तियों में उस व्यक्ति की गणना की है, जो स्त्रियों के लिए यज्ञ कार्य करता हो। बृहत्पराशरस्मृति[2] में पुत्र के अभाव में पति-पत्नी को एक दूसरे का श्राद्ध कर्म करने की स्वतन्त्रता दी गयी है; क्योंकि दोनों में अन्योन्य भाव सम्बन्ध माना गया है, किन्तु उसने श्राद्ध कर्म में खिलायें जाने वाले ब्राह्मण पुरुषों में स्त्री को भोजन कराना वर्जित किया है भले ही वह स्त्री व्रतचारिणी ही क्यों न हो ?

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि यद्यपि स्मृतिकारों ने यह तो नहीं कहा है कि स्त्री पृथक् यज्ञ की अधिकारिणी नहीं है, किन्तु वे उसके द्वारा कर्त्ता रूप में किए गए समस्त धार्मिक कृत्यों को फलहीन तथा विग्रहणीय मानते हैं।

स्मृतिकाल में नारी शिक्षा का बड़ी तीव्र गति से ह्रास हुआ। उपनयन संस्कार नारियों के लिए एक औपचारिक रीति बनकर रह गया था। उपनयन का महत्त्व समाप्त हो जाने से नारियों के धार्मिक अधिकारों पर भी बुरा प्रभाव पड़ा, उनकी शूद्रों से समानता की जाने लगी तथा उन्हें वेदोच्चारण एवं यज्ञ के अयोग्य समझा जाने लगा। स्त्रियों की शिक्षा की उपेक्षा तो

---

1. गौतम अ0 15
2. वृहत्पराशर स्मृति 7/47, 71

धर्मसूत्रों के काल से ही प्रारम्भ हो गयी थी। क्योंकि हारीत धर्मसूत्र[1] (500-200 ई० पू०) ने जिस दृढ़ता से स्त्रियों को शिक्षा देने का समर्थन किया है उससे उनकी शैक्षिक स्थिति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

मनु[2] ने तो स्पष्ट शब्दों में नारियों के लिए वैदिक शिक्षा एवं संस्कारों में वैदिक मन्त्रोचारण का निषेध कर दिया। बाद के सभी स्मृतिकारों[3] (याज्ञ० एवं विष्णु) ने मनु के इन नियमों का अक्षरशः पालन किया। परिणामतः इस काल के अन्त तक अधिकांश नारियाँ अशिक्षित ही रहने लगीं जिसके कारण उनकी सामाजिक स्थिति को और अधिक आघात पहुँचा।

इस प्रकार स्त्रियाँ उपनयन, वेदाध्ययन एवं यज्ञाधिकारों से वञ्चित होकर पूर्णरूप से पुरुषों पर आश्रित हो गयी धर्मशास्त्रकारों[4] ने इसकी समानता शूद्रों से करनी शुरू कर दी। प्रायः मनुस्मृति[5] द्वारा दोनों के लिए समान व्यवहार वाली व्यवस्थाएं भी दी गयी। जहाँ समस्त द्विज तीन बार आचमन करके

---

1. हारीत धर्मसूत्र० 21/22, 23

    न शूद्रसमाः स्त्रियः। न हि शूद्रयोनौ ब्राह्मणक्षत्रिय
    वैश्या जायन्ते तस्माच्छन्दसा स्त्रियः संस्कार्या। तासां
    द्विविधौ विकल्पः ब्रह्मवादिन्यः सद्ययोद्वाहाश्चेति।
    ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्निसंस्कारः स्वगृहेऽध्ययनं भैक्ष्य
    चर्या च प्राप्तौ रजसः समावर्तनम्। अतिरिक्तेऽप्रधानंसद्योऽपध्वंसनम्।

2. मनुस्मृति 2/16, 2/66-67, 9/18
3. याज्ञ० 1/12-13, विष्णु 27/13-14
4. सूतसंहिता शूद्रकमलाकर पृ० 231 पर उद्धृत
    "वदन्ति केचिद्विद्वांसः स्त्रीणां शूद्रसमानताम्।"
5. मनुस्मृति 5/139, "शरीरं शौचमिच्छन् हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत्सकृत्।"

पवित्र होते थे; स्त्रियाँ तथा शूद्र केवल एक बार आचमन करके ही पवित्र मान लिए जाते थे। याज्ञवल्क्य[1] के मत से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः हृदय, कण्ठ और तालु तक जल स्पर्श कराने पर शुद्ध हो जाते हैं। विष्णु[2] स्मृति के अनुसार द्विजाति पुरुष वैदिक मन्त्रों के साथ आचमन करते थे, किन्तु स्त्रियों तथा शूद्र बिना मन्त्रों के अर्थात् मौन रहकर ही, स्मृति चन्द्रिका[3] में शूद्र तथा स्त्रियाँ आम श्राद्ध विना पके भोजन के साथ करते थे। बौधायन तथा पराशर[4] ने शूद्र तथा स्त्री की हत्या करने पर समान दण्ड की व्यवस्था की है। इस प्रकार मध्यकाल तक समाज में नारी एवं शूद्र का समान स्थान निर्धारित हो चुका था।

कन्याओं की शिक्षा समाप्त हो जाने पर समाज में उनका विवाह शीघ्र ही अल्पायु में कर देने की प्रवृत्ति बड़ी तीव्रता से आ गयी। कन्याओं का कम उम्र में विवाह कर देने के कुछ मुख्य कारण ये थे—

(1) शिक्षा का अप्रचलन,

(2) भ्रूण हत्या दोष

---

1. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/21
2. विष्णु स्मृति, स्मृ0 यं0 भाग-1 पृ0 181 पर उद्धृत

   'ब्रह्मक्षत्रविशां चैव मन्त्रवत्स्नानमिष्यते।
   तूष्णीमेव हि शूद्रस्य स्त्रीणां च कुरूनन्दन।।

3. प्रचेता, स्मृ च0 श्राद्धप्रकरण पृ0 491, 92 पर उद्धृत

   स्त्री शूद्रः श्वपचश्चैव जातिकर्माणि चाप्यथ।
   आमश्राद्धं तथा कर्याद्विविधा पार्वणेनतु।

   किन्तु स्त्री और शूद्र तालु से एक बार ही जल स्पर्श कराने पर ही शुद्ध हो जाते हैं।

4. पराशर स्मृति 6/61

(3) देवताओं द्वारा उपभोग का भय

(4) विवाह को ही उपनयन समझना।।

सम्भवतः शिक्षा के अभाव में कन्यायें विवाह से पूर्व तक का समय घर में खाली रहकर ही व्यतीत करती थीं; जो कि मानसिक विकास की दृष्टि से उनके लिए अनुचित था। अतएव कन्याओं को घर में खाली बिठाये रखने की अपेक्षा उनका बाल्यावस्था में विवाह कर देना उचित समझा गया होगा। दूसरे धर्मसूत्रों के काल से ही भ्रूण हत्या महान् पाप माना गया है। पुनः स्मृतिकाल में इस धारणा ने अधिक बल पाया। इसके आधार पर मनु तथा याज्ञवल्क्य[1] ने भ्रूण हत्या को ब्रह्महत्या के समान भयङ्कर पाप मानते हुए बारह वर्ष तक प्रायश्चित करने का विधान किया। उनके अनुसार जो पिता कन्या के रजस्वला होने पर भी उसका विवाह नहीं करता था, वह भ्रूण हत्या पाप का भागी होता था। उससे स्पष्ट है कि भ्रूणहत्या दोष का भय धीरे-धीरे जन साधारण के मन में घर कर गया था, जिससे बचने के लिए वे कन्या का विवाह ऋतुमती होने से पूर्व ही करने लगे थे। बौधायन[2] ने तो यहाँ तक कहा है कि गुणवान वर के अभाव में गुणहीन वर को ही कन्या देनी चाहिए, किन्तु रजस्वला कन्या को घर में नहीं रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक और विश्वास वैदिककाल[3] से ही प्रचलन में था कि कन्या के विवाह से पूर्व साम, गन्धर्व तथा अग्नि उसका उपभोग करते हैं।

---

1. मनु 1/87, याज्ञ0 3/259

2. बौधायन स्मृति0 4/1/12; 15

3. ऋग्वेद 10/85/40-41

संवर्त स्मृति[1] ने भी इन तीनों देवताओं द्वारा कन्या के उपभोग की चर्चा करते हुए कन्या के अङ्गों में किसी प्रकार का परिवर्तन प्रकट होने से पूर्व ही उसके विवाह को श्रेयस्कर माना है।

इसके[2] साथ ही विवाह को उपनयन का स्थानिक बना देने से विवाह का जल्दी कर देना और भी उपयुक्त माना जाने लगा। यम स्मृतिमुक्ताफल[3] में उपनयन की अवस्था आठ वर्ष मानी गयी है अतः आठवें वर्ष में कन्या का विवाह कर देना अधिक अभीष्ट प्रतीत होने लगा।

*विवाहं चोपनयनं स्त्रीणामाह पितामहः ।*

*तस्याद् गर्भाष्टमः श्रेष्ठो जन्मतो वाष्टवत्सरः।।*

(यम, स्मृतिमुक्ताफल, वर्णाश्रमधर्म पृ0 136)

उपर्युक्त सभी बातों को देखते हुए प्रतीत होता है कि लोकापवाद के भय से माता-पिता अपनी कन्याओं का शीघ्रातिशीघ्र विवाह करने लगे। स्मृतिकारों ने ही समाज में बाल विवाह जैसी कुरीतियों को प्रोत्साहन दिया है। पराशर स्मृति[4] ने रजोदर्शन से पूर्व कन्या के विवाह पर बल दिया है।

---

1. संवर्तस्मृति 65, 68
2. संस्कार कौस्तुभ पृ0 699,

   "स्त्रीणामुपनयन स्थानापन्नो विवाह इति
   तदुचितावस्थायां विवाहस्योचितत्त्वात्।।"
3. यम स्मृतिनुक्ताफल—वर्णाश्रम धर्म पृ0 136
4. पराशर स्मृति 7/8, 9,

   माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च
   त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्
   यस्ताम उद्वहेत् कन्यां ब्राह्मणो मदमोहितः
   असम्भाव्यो ह्यपांक्तेय स विप्रो वृषली पतिः।।

उसके अनुसार जो पिता ऋतु से पूर्व अपनी कन्या का विवाह नहीं कर देता वह निन्दनीय है तथा नरक का भागी होता है और जो व्यक्ति 12 वर्ष से अधिक आयु वाली कन्या से विवाह करता है वह सभा में भाषण करने तथा पङ्क्ति में बैठने के अयोग्य होता है। पराशर[1] ने आठ वर्ष की कन्या को गौरी कहा है और बारह वर्ष की अवस्था तक विवाह करने की छूट दी।

संवर्त स्मृति[2] और बृहद्यम ने भी पराशर का पूरा समर्थन किया है किन्तु संवर्त[3] ने आठ वर्ष की कन्या का विवाह अधिक उचित माना हैं। मनु ने कन्या विवाह के नियम में थोड़ी सी उदारता दिखायी। परवर्तीस्मृतिकारों ने उतनी ही कठोरता दिखायी। मनु ने रजस्वला हो जाने पर उसके माता-पिता की निन्दा नहीं की, किन्तु परवर्ती स्मृतिकारों ने कन्या के यौवन की देहरी पर कदम रखते ही माता-पिता को भयङ्कर रूप से दोषी ठहरा दिया और ऐसी कन्या से विवाह करने वाले पुरुष को समाज से बहिष्कृत असम्भाष्य, अपाङ्क्तेय तथा वृषलीपति कहकर हतोत्साहित किया। फलतः सामाजिक परिहास और लोकापवाद के भय से माता-पिता कन्या का विवाह करने लगे, जिससे उसकी खेलने-खाने की और मानसिक रूप से अपरिपक्व उम्र होती थी और परिवार की सम्पूर्ण जिम्मेदारी कन्या के ऊपर आ जाती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्मृतिकाल में कन्याओं का विवाह गुड्डे-

---

1. पराशरस्मृति 7/6, 7
2. संवर्तस्मृति 65, 66, वृघ्यम 20-22
2. संवर्त स्मृति 68

गुड़ियों के ब्याह जैसा खेल बन गया। इस प्रथा (बाल विवाह) ने समाज में नारियों की रही सही सामर्थ्य को भी मिट्टी में मिला दिया।नन्ही बालिका जब होश सम्भालती तो उसके सम्मुख पति रूपी देवता एवं ससुराल की जिम्मेदारियाँ ही होती थी। इस प्रकार इनके प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करती हुई वह आमरण अपने अस्तित्व को पहचान पाने की सामर्थ्य जुटा ही नहीं पाती थी।

मनु[1] ने मद्यपान करना, दुर्जन संसर्ग, पति की अनुपस्थिति में इधर-उधर घूमना, कुसमय में सोना, दूसरों के घरों में निवास करना—ये छः स्वभाव नारियों के दोष माने हैं। मनु[2] ने स्वेच्छाचारिणी गर्भपात तथा पतिहत्या करने वाली, मद्यपान करने वाली स्त्रियों के तिलाञ्जलि दान एवं श्राद्धादि कर्म करने का भी निषेध किया तथा (मनु[3] ने) व्यभिचारिणी स्त्री के अन्न को अभक्ष्य बताया है। याज्ञवल्क्य[4] ने भी कुलटा स्त्री के द्वारा दिया जाने वाला दान कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए। वशिष्ठस्मृति[5] में नारियों के पतन के

---

1. मनुस्मृति 9/13

   पानं दुर्जनसंसर्ग पत्या च विरहोऽटनम्।
   स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानिषट्।।

2. मनुस्मृति 5/90
3. मनुस्मृति 4/211
4. याज्ञ0 1/215
5. वशिष्ठ 28/7

   त्रीणि स्त्रियः (याः) पातकानि लौक धर्मविदोविदुः।
   भर्तुर्वधो भ्रूणहत्या स्वस्थ्य गर्भस्यपातनम्।।

तीन कारण बताए गए हैं—(1) पति का वध करना, (2) भ्रूण हत्या करना, (3) अपना गर्भपात करना

गौतम[1] ने भ्रूण हत्या करने वाली तथा निम्न वर्ण के पुरुष का संसर्ग करने वाली स्त्री घोर पातकी होती है। पराशर स्मृति[2] में कहा गया है कि काम, क्रोधवश जो स्त्री अपने बन्धुओं, पति व बच्चों का त्यागकर चली जाए उसके इहलोक व परलोक सब नष्ट हो जाते हैं। बृहत्पराशरस्मृति[3] में लिखा है कि मन से भी दुष्ट तथा पति के विरुद्ध भाव रखने वाली नारी पति का लेश मात्र भी विद्रोह करने पर नरक को जाती है।

नारियों पर जहाँ एक ओर सामाजिक बन्धन पारलौकिक भय और इतने लाञ्छन लगा दिए गए हैं वहीं उन्हें सदा ही पवित्र मानने की परम्परा अत्यन्त आश्चर्यजनक है। प्राचीन काल से ही यह मान्यता चली आ रही थी कि कन्या के सर्वप्रथम भोक्ता क्रमशः सोम, गन्धर्व तथा अग्नि होते हैं। सर्वत ने इस बात का पूर्ण अनुमोदन किया है।

*सोमदर्शनसंप्राप्ते सोमो भुङ्क्तेऽथ कन्यकाम्*

*रजो दृष्ट्वा तु गन्धर्वः कुचौ दृष्ट्वा तु पावकः।।*

याज्ञवल्क्य, बौधायन, अत्रि, बृहत्पराशर आदि स्मृतिकारों[4] का मत है

---

1. गौतम अ0 22, "भ्रूर्णहानि हीनवर्णसेवायांच स्त्री पतति।"
2. पराशरस्मृति 10/32
3. वृहत्पराशरस्मृति 6/51
4. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/71 सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम्
   पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो हयतः।।

   बौधायन 2/64, अत्रि 139, 140, बृहत्पराशर0 6/62

कि स्त्रियों को सोम देवता ने पवित्रता दी है। गंधर्व देवताओं ने सुसंस्कृत वाणी दी है, तथा अग्नि ने सर्वमेध्यत्त्व प्रदान किया है, अतएव स्त्रियाँ सदा पवित्र होती हैं।

मनु[1] ने "नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणाम्" कहकर स्त्रियों के मुख को सदा पवित्र माना है। आपस्तम्ब[2] के मतानुसार स्त्री, बालक, वृद्ध के समस्त चरित्र पवित्र होते हैं, ये तीनों कभी दूषित नहीं होते। पराशर तथा आपस्तम्ब[3] का तो यहाँ तक कहना है कि जिस प्रकार बहती हुई धारा तथा वायु से उड़ी धूल पवित्र होती है, उसी प्रकार स्त्री, वृद्ध तथा बालक कभी अपवित्र नहीं होते।

मनु वसिष्ठ तथा बौधायन[4] के मतानुसार स्त्रियाँ सदा पवित्र इसलिए हैं, क्योंकि प्रतिमास का रजोदर्शन इनके पापों का नाश करता है। यमस्मृति[5] में कहा गया है कि "स्त्री की रज से तथा नदी की वेग से शुद्ध" बतायी गयी है। याज्ञवल्क्य एवं पराशर[6] ने ऐसी स्त्री को जिसने पर पुरुष गर्भधारणादि विकलता को न प्राप्त किया हो, रजोदर्शन के बाद शुद्ध मान लिया है।

---

1. मनुस्मृति 5/130
2. आपस्तम्ब 2/1
3. पराशर 7/37
4. मनुस्मृति 5/108, "रजसा स्त्री मनोदुष्टा", वशिष्ठ 18/4, बौधायन स्मृ0 2/63
5. यम स्म0 77 अङ्गिरस, 42, "रजसा शुध्यते नारी नदी बेगेन शुध्यति।"
6. याज्ञ0 1/72, पराशर 7/4

उपर्युक्त समस्त नारी सम्बन्धी व्यभिचार के दोषों में इतनी उदारता दिखाने का कारण सम्भवतः यही है कि पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह अपने परिवार की स्त्रियों को वश में करके रखे और उनका रक्षण करें। यदि स्त्री अनुचित कार्य करती है तो वह पुरुष के अनुशासन का ढीलापन है और रक्षण का अभाव है। इसीलिए पुरुष को ही स्त्री के लिए पापों का उत्तरदायी माना गया है।

उपर्युक्त समस्त सीमाओं से घिरी रहकर नारियाँ अपने मनोरञ्जन के लिए क्या उपाय कर सकती थी ? इस सम्बन्ध में स्मृतियाँ कोई प्रकाश नहीं डालती, किन्तु फिर भी प्रोषितपतिका धर्मों के व्यवस्था सम्बन्धी विवरणों से इस विषय पर यत्किञ्चित् प्रकाश पड़ ही जाता है। याज्ञावल्क्य[1] स्मृति में प्रोषितपतिका स्त्री के लिए खेलना, मेले या उत्सव आदि में जाना निषिद्ध माना है। शंङ्खलिखित[2] ने ऐसी स्त्री के लिए गेंद, झूला, नृत्य, उपवनों में घूमना तथा चित्रदर्शन का निषेध किया है। इन समस्त व्यवस्थाओं से प्रतीत होता है कि मनोरञ्जन के ये समस्त उपाय इस काल के साधारण परिवारों में भी प्रचलित रहे होंगे, मनोरञ्जन के विषय में नारियाँ परवश थीं।

ज्ञात होता है कि कुछ विषयों में नारियाँ अत्यधिक परवश और अयोग्य मानी गयी थी और कुछ विषयों में स्मृतिकारों ने नारियों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक स्वत्व प्रदान किए हैं।

---

1. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/84
2. स्मतिचन्द्रिका व्यवहार पृ0 253 पर उद्धृत।

मार्ग में स्त्रियों को पुरुषों से पहले जाने का अधिकार मनु[1] ने दिया है। वसिष्ठ[2] कहते हैं नयी व्याह कर लायी गयी वधू के लिए सबको मार्ग देना चाहिए। याज्ञवल्क्य[3] ने गर्भिणी स्त्री के लिए मार्ग छोड़ देने की व्यवस्था की है। गौतम याज्ञवल्क्य और लघुहारीत[4] आदि के मतानुसार बच्चों, पुत्रियों, विवाहिता पुत्रियों एवं बहनों, गर्भवती स्त्रियों, अतिथियों एवं सेवकों को गृहस्वामी एवं गृहस्वामिनी से पूर्व भोजन करा देना चाहिए, किन्तु मनु[5] तथा विष्णु ने तो कुल की नवविवाहिता पुत्रियों तथा कन्याओं एवं गर्भवती नारियों को अतिथियों से भी पूर्व भोजन करा देना चाहिए।

मनु, याज्ञवल्क्य, नारद वसिष्ठ[6] के अनुसार स्त्री सम्बन्धी अभियोगों में स्त्रियों की साक्षी स्त्रियों को ही बनाया जाता था। नारद[7] के अनुसार जिस अभियोग में कोई स्त्री अभियुक्त को, उसकी सुनवाई पुनः होनी चाहिए। याज्ञवल्क्य[8] के मिताक्षरा टीका में कहा गया है कि सामान्यतः स्त्रियों का अभियोग दिव्य (जल अग्नि से कठिन परीक्षा) से सिद्ध नहीं किया जाता था यदि बहुत आवश्यक हो जाय तो तुला दिव्य की व्यवस्था थी। वसिष्ठ[9]

1. मनुस्मृति 2/138
2. वसिष्ठ 13/27
3. याज्ञ0 1/117
4. गौतम 5/23, याज्ञ0 1/105, लघु हारीत 4/64
5. मनुस्मृति 4/14, विष्णु 67/39
6. मनुस्मृति याज्ञ 2/72 नारद, ऋणदान 132, वसिष्ठ 16/24
   "स्त्रीणां तु साक्षिणः स्त्रियः कुर्याद्"
7. नारद 1/43,
8. याज्ञ0 2/98 मिताक्षरा टीका
9. वसिष्ठ 19/23 मनुस्मृति 8/407, विष्णु 5/132

ने युवा एवं सद्यः प्रसूता स्त्रियों को कर रहित माना है, जबकि मनु तथा विष्णु ने तीन मास की गर्भवती नारी को घाट के कर से मुक्त रखा है।

विष्णु और देवल स्मृति[1] में कहा गया है कि स्त्री पुरुष का दण्ड यदि एक सा भी हो तो भी स्त्री को पुरुष की अपेक्षा आधा ही प्रायश्चित्त करना पड़ता था। मनुस्मृति[2] में राजा को पुरुष को भारी तथा स्त्री को हल्का दण्ड देने का अधिकार था। मनु[3] के अनुसार जातिच्युत स्त्री का भी पुरुष को भोजन तथा वस्त्र से पालन करना पड़ता था। यहाँ तक कि यदि स्त्री निरन्तर विश्वास घात कर रही हो तो भी मनु[4] ने उसका त्याग न करके चन्द्रायण व्रत द्वारा शुद्धि कर लेने की छूट दी है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र[5] में कहा है कि स्त्री की चाहे जो अवस्था हो किन्तु उसको अपने पति की अवस्था के अनुसार ही आदर मिलता था। मनु[6] के मतानुसार स्त्री यदि कोई अच्छा कार्य करती हो अथवा उसका कार्य शास्त्रानुकूल एवं रूचिकर हो तो पुरुष को उसे अवश्य अपना लेना चाहिए। मनुस्मृति[7] ब्रह्मचारी द्वारा भिक्षा आदि के अवसर पर स्त्रियों को आदर के

---

1. विष्णु 54/33 देवल 30
2. मनुस्मृति 8/364-368
3. मनुस्मृति 11/188
4. मनुस्मृति 11/171
5. आपस्तम्ब ध0 सू0 1/4/14/18
6. मनुस्मृति 2/223
7. मनुस्मृति 2/123, 129, 131, 133

साथ सम्बोधित करना आवश्यक था और अनपढ़ स्त्रियों तक को प्रणाम करना आवश्यक था। याज्ञवल्क्य और वसिष्ठ[1] ने तो पतित से उत्पन्न पुत्र को तो पतित माना लेकिन कन्या को नहीं। वसिष्ठ, बौधायन, पराशर और याज्ञवल्क्यस्मृति[2] के अनुसार स्त्रियों की हत्या करना पाप था तथा उन्हें प्राणदण्ड भी सामान्यतः दण्ड देने की बात कही गयी है। याज्ञस्मृति[3] के अनुसार पत्नी और बच्चों को बेचने का भी गृहपति को कोई अधिकार नहीं था। किसी माता और बहन को गाली देने वाला व्यक्ति दण्डनीय माना जाता था। बौधायन, गौतम[4] और वृद्ध हारीत ने स्त्रीधन के उत्तराधिकार में पुत्रियों को पुत्रों की अपेक्षा प्रमुखता दी थी। याज्ञवल्क्य एवं नारद[5] यहाँ तक प्रतिकूल अधिकार प्राप्ति में भी स्त्री का स्त्रीधन नहीं फँस सकता था। नारद ने कहा है पति के द्वारा प्रेम से दी गयी वस्तु को कोई नहीं छीन सकता था।

मनु, याज्ञवल्क्य आदि ने कही भी परदा प्रथा (अवगुण्ठन) की ओर सङ्केत मात्र नहीं किया है। समाज में नारी के विभिन्न रूप पाये जाते हैं। नारी, पुत्री, पत्नी, माता तो है ही, किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे सम्बन्ध भी हैं जो कि जीवन में पुरुष ने नारी के साथ स्थापित किये हैं। इसमें वेश्या, रखैल, तथा दासी प्रमुख स्थान रखती है। इन स्त्रियों की चर्चा स्मृतियों

---

1. याज्ञ0 3/261 वसिष्ठ 13/20 "पतितोत्पन्नः पतितो भवतीत्याहुरन्यत्र स्त्रियः"
2. वसिष्ठ 13/21, बौधा0 2/43, पराशर 4/14 याज्ञ0 2/240
3. याज्ञ0 2/178, 2/208
4. बौधा0 2/49, गौतम अ0 29, वृद्धहारीत 4/246
5. याज्ञ0 2/25 नारद ऋणदान 82/83

में स्थान-स्थान पर की गयी है।

याज्ञवल्क्यस्मृति[1] में दो प्रकार की रखैल स्त्रियों की चर्चा की गयी है एक 'अवरुद्धा' (जो घर में रहती है और उसके साथ कोई अन्य व्यक्ति सम्भोग नहीं कर सकता) तथा दूसरी 'भुजिष्या' (जो घर में नहीं रहती, किन्तु एक व्यक्ति की रखैल के रूप में और कहीं रहती हैं)। इन दोनों प्रकार की नारियों से इनके स्वामी के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति सम्बन्ध स्थापित करता था तो उसे पचास पण दण्ड देना पड़ता था, क्योंकि उस पुरुष के ग्रहण कर लेने से ये पर पत्नी के समान हो जाती थी। नारद[2] ने कहा है कि अब्राह्मणी, स्वैरिणी वेश्या, दासी, निष्कासिनी स्त्रियाँ अपने से निम्न जाति की होने पर गम्य होती हैं किन्तु प्रतिलोम क्रम से (अर्थात् अपने से उच्च जाति की स्त्री यदि हो) यह व्यवहार निषिद्ध है। यदि ये नारियाँ किसी की भुजिष्या रखैल के रूप में रहती हो तो इनके साथ ऐसा सम्बन्ध बनाने पर उसी प्रकार का अपराध माना जाता है जैसा कि किसी की पत्नी का सम्पर्क करने पर।

---

1. याज्ञ0 2/290

   अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च
   गम्यास्वपि पुमान्दाप्यः पञ्चाशत्पणिकं दमम्।।

2. स्वैरिण्य ब्राह्मणी वेश्या दासी निष्कासिनी च या।
   गम्याः स्युरानुलोम्येन स्त्रियों न प्रतिलोम्यतः।।
   आस्वेव तु भुजिष्यासु दोषः स्यात् परदारवत्
   गम्या अपि हि नोपेयास्ताश्चेदन्यपरिग्रहाः।। नारद स्त्रीपुंस 78, 79

मिताक्षरा[1] ने याज्ञवल्क्य की व्याख्या में लिखा है कि वेश्यायें अप्सराओं से उत्पन्न पञ्च चूडा नामक विशिष्ट जाति है, यदि वे किसी की रखैल नहीं हैं और वे अपनी जाति या उच्च जाति के पुरुषों से सम्भोग करती हैं तो पाप की भागी या राजा से दण्डित नहीं होती तथा इनका सम्पर्क करने वाला पुरुष भी राजा द्वारा दण्डनीय नहीं होता, किन्तु स्वदारनिरतः सदा (मनुस्मृति 3/45) आदि नियम के अनुसार पुरुष पाप का भागी होता है तथा केवल प्राजापत्य व्रत द्वारा प्रायश्चित करके शुद्ध हो सकता है।

स्मृतियों में रखैल स्त्रियों के भरण-पोषण की व्यवस्था भी की गयी है। नारद[2] के अनुसार—यदि व्यक्ति बिना उत्तराधिकारी के मर जाय तो उसकी सम्पत्ति राजा को मिल जाती थी और राजा को उसमें उस व्यक्ति की अवरुद्धा रखैल का प्रबन्ध करना पड़ता था। मृत ब्राह्मणों की रखैलों को भी उनकी सम्पत्ति में से जीवन निर्वाह योग्य धन पाने का अधिकार था।

यद्यपि धर्मशास्त्रकारों ने वेश्याओं और रखैलों के आवास, निवास, दण्ड तथा अधिकारों की चर्चा करके समाज में उसकी उपस्थिति एवं स्वीकृति को प्रदर्शित किया है, किन्तु फिर भी उन्हें अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता था। स्मृतिकारों ने इन नारियों के सम्बन्ध में अत्यन्त कठोर नियम बनाए हैं। मनु[3] ने ब्राह्मण के लिए वेश्या का अन्न खाना पूर्णतया वर्जित किया, क्योंकि वेश्या

---

1. मिताक्षरा याज्ञ0 2/290
2. नारद दायभाग 49
3. मनुस्मृति 4/209, 4/219

का अन्न पुण्यों से प्राप्त होने वाले स्वर्गलोक से व्यक्ति को भ्रष्ट करता है। मनु और गौतम के अनुसार ने व्यभिचारिणी स्त्री का भी अन्न अभक्ष्य होता है। मनु[2] ने वेश्या की कमाई पर निर्भर रहने वाले पुरुष के द्वारा दिया गया दान भी स्वीकार करने का निषेध किया है, क्योंकि मनु[3] ने ऐसे पुरुष को दस मद्य बेचने वालों के बराबर अधम माना है। मनु[4] द्वारा वेश्याओं की गणना अराजक तत्त्वों के मध्य की गयी है तथा परद्रव्यापहरण में चतुर वेश्याओं को राजा द्वारा दण्डित किए जाने की व्यवस्था भी की गयी है। यद्यपि नारी का वध करना महापाप माना गया है किन्तु स्मृतिकारों की दृष्टि से ऐसी नारी के जीवन का कोई मूल्य नहीं है। मनु[5] के मतानुसार ऐसी व्याभिचारिणी स्त्री का वध करने पर वर्णक्रमानुसार चर्मपुट, धनुष, बकरा व भेड़ का दान तथा यही शूद्रहत्या प्रायश्चित्त की शुद्ध के लिए भी पर्याप्त है।

गौतम[6] ने नाम मात्र के लिए ब्राह्मणी, व्यभिचारिणी स्त्री का वध करने पर नीलवृष का दान पर्याप्त समझा है किन्तु वेश्या का वध करने पर तो किसी भी प्रकार के प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं समझी है। मनु[7] के

---

1. मनुस्मृति 7/211, गौतम अ0 17
2. मनुस्मृति 4/84
3. मनुस्मृति 4/85
4. मनुस्मृति 9/259, 262
5. मनुस्मृति 11/138
6. गौतम, अ0 23, "ब्रह्मवध्वां चलनायां नीलः वैशिके न किंचित्।।"
7. मनुस्मृति 5/90

मतानुसार इन स्त्रियों का श्राद्धादि कर्म करने की भी आवश्यकता नहीं हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि समाज में वेश्याओं और रखैलों को स्वीकार किया जाता था। यद्यपि यह एक निन्दित कार्य था, किन्तु फिर भी लोग इन स्त्रियों से सम्बन्ध स्थापित करते ही थे। सम्पूर्ण दोषारोपण सिर्फ और सिर्फ स्त्रियों (व्यभिचारिणी) पर होता था। पुरुष इन कृत्यों को करने पर भी समाज में सम्माननीय था।

स्मृतियों में नारी का एक और रूप जो वर्णित हुआ है, वह दासी का है। दासी के रूप में नारी किसी भी प्रकार के सम्मान की अधिकारिणी नहीं है, अपितु पुरुषों की एक सम्पत्ति के रूप में सामने आती है। वह किसी भी प्रकार के सामान्य मानवोचित न्याय को पाने की अधिकारिणी नहीं रह गयी है। सेवानिवृत्त करने वाली निम्न वर्ण की दासी एक चल सम्पत्ति है। दासी को खरीदा बेंचा तथा गिरवी रखा जा सकता है और उत्तराधिकार में प्राप्त भी किया जा सकता है।

*गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः।*

*अशनादिभृतस्तद्वदाधतः स्वामिना च यः।।*[1]

मनु[2] के समय में भी यह दास प्रथा व्याप्त थी और ये दास स्त्री तथा पुरुष दोनों ही होते थे। मनु[3] ने शूद्र का मुख्य कर्तव्य उच्च वर्णों की सेवा

---

1. नारद अभ्युपेत्या 24
2. मनुस्मृति 1/91, 8/413-414
3. धर्म0 शा0 का इति0 अनु0 अ0 चौ0 काश्यप भाग-1, खण्ड 2, पृ0 173

करना माना है किन्तु इससे स्पष्ट नहीं हो पाता कि शूद्र दास हैं।

यांज्ञवल्क्य तथा नारद[1] के मतानुसार ब्राह्मण को छोड़कर तीनों वर्ण दास हो सकते हैं, किन्तु अनुलोमक्रम से, प्रतिलोम क्रम से कभी नहीं। अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ब्राह्मण के दास हो सकते हैं किन्तु क्षत्रिय वैश्य या शूद्र का तथा वैश्य शूद्र का दास कभी नहीं हो सकता।

मनु तथा नारद[2] का कहना है कि दास सदा निर्धन ही होते हैं, ये जो कुछ उपार्जित करते हैं वह उसी का होता है जिसके कि ये दास होते हैं। मेधातिथि ने इसका अर्थ यह लिया है कि दास को अपनी इच्छानुसार धन व्यय करने का अधिकार नहीं है। यदि स्वामी निर्धन हो तब वह अपने दास का धन जब्त कर लेने पर दोषी नहीं होता।

गौतम[4] के अनुसार—दासियों का विनिमय भी किया जा सकता था। दास

---

1. कात्यायन अपरार्क पृ0 786 पर उद्धृत अन्तिम पंक्ति याज्ञ0 2/183 में भी मिलती हैं—

   स्वतन्त्रस्यात्मनो दानाद् दासत्त्वं दासवद् भृगुः
   त्रिषु वर्गेषु विज्ञेयं दास्यं विप्रस्य न क्वाचित्।
   वर्णनामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः
   वर्णानां प्रतिलोम्येन दासत्वं न विधीयते। (नारद अभ्यु0 37)

2. मनुस्मृति 8/416, नारद ऋण0, 12
3. मनुस्मृति 8/416 पर मेधातिथि,
   "यस्ते समधिगच्छन्ति यस्तते तस्य तद्धनम्।।"
4. गौतम अ0 7, पुरुषवशाकुमारीहेतवश्च नित्यम् तथा 'नियमस्तु'

दासियों को लेकर लोगों में आपसी झगड़े भी हुआ करते थे, इसलिए गौतम[2] ने दासी विषयक विवादों के लिए न्यायालय से शीघ्र निर्णय की माङ्ग की है। इसके[3] अतिरिक्त गिरवी रखी हुई दासी को वह व्यक्ति भोग सकता था, जिसके पास वह गिरवी रखी हुई हो। प्रस्तुत वक्तव्य के स्पष्टीकरण में गौतम के टीकाकार हरदत्त[4] ने कहा है कि अपने घर में यदि कोई उपयोगी वस्तु रखी हो तो उसे प्रतिदिन देखते हुए कोई कब तक संयम रख सकता है।

*कथमनन्तरगृहे दृश्यमानां गां स्वयं तक्रादि क्रीत्वोपयुजान उपेक्षेत।*
*कथं वा बहुफलमारामं, कथं वा दासी यौवनस्थामन्वहं परिचारिकाम्।।*

याज्ञवल्क्य एवं नारद[5] ने किसी के घर या बाहर रहने वाली दासी के साथ गमन करने को अपराध माना है और याज्ञवल्क्य ने ऐसा करने पर पचास पणों का दण्ड निर्धारित किया है।

किन्तु दण्ड के सम्बन्ध में मनु[6] ने दासों पर अत्यन्त करुणा बरसायी है। उन्होंने पुत्र तथा दास को एक ही श्रेणी में रखा है तथा रस्सी या पतली बांस की खपच्ची से पीठ पर तीन वार करने का अधिकार दिया है। साथ

---

1. गौतम अ0 13, "धेन्वनडुत्स्त्री प्रजनन संयुक्ते च शीघ्रम।।"
2. गौतम अ0 12, "पशुभूमिस्त्रीणामनतिभोगः"
3. डा0 उमेश चन्द्र पाण्डेय गौतम धर्मसूत्राणि 1966 पृ0 संख्या 43 पर उद्धृत "कथमनन्तरगृहे दृश्यमानां......
4. याज्ञ0 2/290, नारद 15/79
5. मनुस्मृति 8/299-300

ही यह भी कह दिया है कि नियम का अतिक्रमण करने वाला व्यक्ति चोर के समान पाप का भागी होता है। मेधातिथि[1] ने मनु के इस वक्तव्य का स्पष्टीकरण और भी नम्रता से किया है। उसके अनुसार यह दण्ड व्यक्ति को सही मार्ग पर लाने के लिए और ऐसा डांट, फटकार भी किया जा सकता है, वास्तव में मारना ही ध्येय नहीं है। उपर्युक्त बातों से पता चलता है कि दासों को अपराध करने पर थोड़ा बहुत शारीरिक दण्ड भी मिलता था।

किन्तु यदि दासी से स्वामी का पुत्र पैदा हो जाय, तो वह पुत्र स्वामी का नहीं होता था। इससे स्पष्ट होता है कि मनु[2] दासी पुत्र को पिता के वर्णानुसार पवित्र नहीं मानते। किन्तु कौटिल्य एवं कात्यायन[3] के अनुसार दासी के पुत्र पैदा हो जाने पर दासी तथा उसका पुत्र दोनों दासत्त्व से युक्त हो जाते हैं।

मनुस्मृति[4] के अनुसार सम्पत्ति का विभाजन करते समय दासियों का विभाजन नहीं किया जाता था। गवाहों के अभाव में मनु[5] ने दास को गवाह बनाने की छूट दे दी है।

---

1. मनुस्मृति 8/299-300 पर मेधातिथि की टीका।
2. मनुस्मृति 9/48
3. कौटिल्य 3/13 कात्यायन 723।
4. मनुस्मृति 9/219
5. मनुस्मृति 8/70
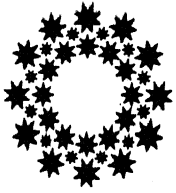
## चतुर्थ अध्याय

# नारी के विविध आयाम
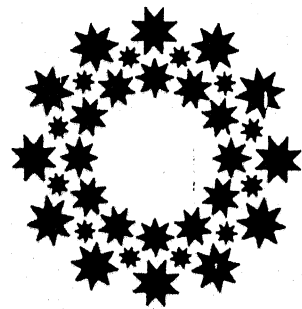
# स्मृतियों में शिक्षा

निश्चय ही शिक्षा मानवीय विचारों एवं व्यवहारों का सृजनात्मक संस्कार है और यदि यह संस्कार व्यापक स्तर पर मानव समाज को परिमार्जित नहीं करता तो समाज एवं देश के नागरिकों अर्थात् स्त्री-पुरुषों की विशाल संख्या मानवता के उच्चतर गुणों से वञ्चित रहेगी। ऐसी स्थिति में मानव समाज हीनतर समाज होगा। बहुत कुछ आदिम युग की बर्बरता से ग्रस्त, पूरी तरह अव्यवस्थित और विखण्डित। शिक्षा के अभाव में विकसित राष्ट्र देश के स्थायित्व एवं प्रगति की आशा कैसे की जा सकती है?

हमारे पूर्वज शिक्षा के प्रति जागरूक थे और अत्यन्त अल्प साधनों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार के अनेक लोकप्रिय उपाय करके अपने समकालीन समाज में चेतना के प्राण फूंकते रहे। प्राचीन गुरुकुल एवं ऋषियों के आश्रम के माध्यम से बालकों का उपनयन संस्कार करके बालकों की शिक्षा की सुनियोजित व्यवस्था थी। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या बालिकाओं की शिक्षा के प्रति भी समाज में इतनी ही जागरुकता थी?

ऋग्वैदिक काल में कन्याओं को पुत्रों जैसा ही शैक्षणिक अधिकार, तप करने का अधिकार एवं उपनयन संस्कार का अधिकार प्राप्त था। पिता विदुषी एवं योग्य कन्या प्राप्ति के लिए धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करते थे। कन्या ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करती थी। छात्राओं के दो वर्ग थे—

'ब्रह्मवादिनी' तथा 'सद्योद्वाहा'। ब्रह्मवादिनी आजीवन धर्म तथा दर्शन की अध्येता थी तथा द्वितीय सद्योद्वाहा अपने विवाह के समय तक ही अध्ययन करती थी।

ऋग्वेद[1] में अनेक ऐसी नारियों के नाम मिलते हैं जो विदुषी तथा दार्शनिक थीं और उन्होंने कई ऋचाओं की रचना भी की थी। विश्वारा को ब्रह्मवादिनी तथा मन्त्रद्रष्ट्री कहा गया है, जिसने ऋग्वेद में एक सूक्त की रचना की थी। घोषा, लोपामुद्रा, शाश्वती, अपाला, इद्राणी, सिकता आदि विदुषी स्त्रियों के नाम हैं। वैदिक युग में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नारियों का महान् योगदान था। ऋग्वेद के अनुसार वह पति के साथ मिलकर गृह के याज्ञिक कार्य सम्पन्न करती थी।

संहिता काल में कन्या की शिक्षा-दीक्षा पर उतना ही ध्यान दिया जाता था, जितना पुत्रों पर। शिक्षा का आरम्भ उपनयन संस्कार से होता था। इस संस्कार के बाद ही बालक या बालिका को वैदिक संहिताओं के अध्ययन का अधिकारी माना जाता था। गुरुओं के आश्रम में रहकर बालकों की भाँति ही कन्याएं भी ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई यज्ञोपवीत, मौञ्जी, मेखला और वल्कल धारण करती थीं। अथर्वसंहिता[2] में कहा गया है कि

---

1. ऋग्वेद 1/72/5
2. (क) अथर्व0 11/5/3,यजुर्वेद 8/1
   "पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते"
   अध्यापनं च वेदनां सावित्रीवचनं तथा।।"
   (ख) अथर्व 11/9/16
   "ब्रह्मचर्येण कन्या युवांन विन्दते पतिम्।"

ब्रह्मचर्य व्रत पालन कर शिक्षा समाप्त करने वाली कन्याएं योग्य पतियों को प्राप्त करती हैं। ऋग्वेद[1] में अपाला का उल्लेख है, जो अपने पिता का कृषि-कार्य में सहयोग देती थी। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर गाय दुहती तथा दही मक्खन तैयार करती हुई कन्याओं का वर्णन मिलता है। पुत्री का 'दुहिता' नाम दूध दूहने के कारण ही पड़ा है। इसके अतिरिक्त वे कूपों से जल लाती थीं और कताई, बुनाई तथा सिलाई का कार्य करती थीं। गृहकार्यों[2] के अतिरिक्त कन्याओं को ललितकलाओं एवं नृत्य की भी शिक्षा दी जाती थी। वे अस्त्र-शस्त्र[3] चलाना भी सीखती थीं और युद्ध में अपने पति के साथ जाती थीं। दौत्य कर्म[4] में भी स्त्रियाँ निपुण होती थीं। इन्द्र की ओर से दूत बनकर सरमापणि असुर के पास गयी थी। ऋग्वेद[5] में शिक्षित स्त्री-पुरुष के विवाह को उपयुक्त कहा गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में पुत्री की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्त्व दिया गया है। ऐतरेयब्राह्मण[6] में पुत्र को ज्योति परन्तु पुत्री को कृपण कहा गया है। इसका भाष्य करते हुए सायण ने लिखा है कि कन्या जन्म के समय अपने सम्बन्धियों को कष्ट देती है, विवाह के समय भी सम्बन्धियों को

---

1. ऋग्वेद 8/91, 5-6
2. ऋग्वेद 2/32/4
3. ऋग्वेद 1/92/4
4. ऋग्वेद 10/102/2-11
5. ऋग्वेद 3/55/16
6. ऐतरेय ब्राह्मण 7/3/13 "कृपणं ह दुहिता, ज्योतिर्द्ध पुत्रः परमेव्योमन्।।

कष्ट देती है एवं यौवन में अनेक दोषों के कारण कुल को कलङ्कित कर सकती है।

शतपथब्राह्मण[1] के अन्य कई स्थलों पर ब्रह्मचारी के जीवन का और उपनयन संस्कार का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार के उद्धरण तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में भी उपलब्ध होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि कन्याएँ भी धार्मिक शिक्षा में रुचि रखती थीं। तैत्तिरीयब्राह्मण[3] में सीता, सावित्री, और सोम राजा का उपाख्यान मिलता है, उसके अनुसार सीता, सावित्री तभी सोम की पत्नी बन जाने को तैयार हैं जब वह उसे तीनों वेद देते हैं—*"ते पाणौ मुष्टिमध्ये गोप्यं वस्तु वर्तत एतद् (देहि) ततः सोमोऽपि प्रीत्यतिशयेन तस्यै तीन्वेदान्प्रददौ।"* शतपथब्राह्मण[4] में मिलता है कि स्त्रियाँ सामगान में प्रवीण होती थीं, तथा उनमें मन्त्रों के शुद्ध पाठ तथा स्वरों के उचित आरोह-अवरोह की क्षमता भी होती थी। वस्तुतः प्राचीन काल में स्त्रियाँ उद्गाताओं का कार्य सम्पन्न करती थी। शतपथ ब्राह्मण[5] में इसका भी उल्लेख है कि स्त्रियाँ वाक् की तरह नृत्य करती और गीत गाती है (नृत्तं गीतम्) और उस व्यक्ति को पसन्द करती हैं जो नाचता और गाता

---

1. शत0 ब्रा0 11/5/4, 1-6, 11/3/3/7, 3/6/2/15
2. तैत्तिरीय ब्रा0 3/7/6/3, 3/10/11/3
3. तैत्तिरीय ब्राह्मण 2/3/10
4. शत0 ब्रा0 14/3/1/35
5. शतपथ ब्राह्मण 3/2/4/6

है (नृत्यति यो गायति)। अतः कन्याओं को सङ्गीत और नृत्य का भी प्रशिक्षण दिया जाता था। कौषीतकि ब्राह्मण[1] में एक कुमारी गन्धर्वगृहीत अग्निहोत्र में पाङ्क्त बतायी गयी है।

यज्ञ में पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य थी। शतपथ ब्राह्मण[2] में स्त्री को यज्ञ का जघनार्ध कहा गया है। पत्नी रहित पुरुष यज्ञ करने में असमर्थ था। अतः तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं शतपथ ब्राह्मण[3] में उसे "अयज्ञिय" घोषित किया गया था।

इस प्रकार जहाँ एक ओर ब्राह्मण साहित्य में पत्नी के यज्ञाधिकार के सुस्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, वही दूसरी ओर उस अधिकार के अवनति के लक्षण भी विद्यमान हैं। शतपथ ब्राह्मण[4] के प्रथम अध्याय में ही इसका उल्लेख किया है कि पहले यजमान की जाया हविष्कृत् का कार्य करती थी, किन्तु अब कोई अन्य वह क्रिया सम्पन्न करता है। (पुरा जायैव हविष्कृदुपोत्तिष्ठति ददिदमत्येतर्हि य एव कश्चोपोतिष्ठति)। शतपथ ब्राह्मण[5] के अन्तिम काण्ड में कहा गया है कि दूध उद्गाताओं को दिया जाता

---

1. कौ० ब्रा० 2/9/1
2. शतपथ ब्रा० 2/2/1/8 (जघनार्धो वा एष यज्ञस्य यत्पत्नी)
3. तै० ब्रा० 11/2/2/6 श० ब्रा० 5/1/6/10 (अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः)
4. शतपथ ब्राह्मण 1/9/2/14
5. शतपथ ब्राह्मण 14/3/2/35
   (पत्नी कर्मेव वा एतेऽत्र कुर्वन्ति)

है, क्योंकि वे यज्ञ में पत्नी का कार्य करते हैं—(पत्नी कर्म्मेव वा एतेऽत्र कुर्वन्ति) इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो कार्य पहले पत्नियाँ करती थीं, वह बाद में उद्गाताओं को सौंप दिया गया है। वास्तव में परवर्ती साहित्य में शूद्रों में स्त्रियों की जो गिनती हुई,उसका प्रारम्भ शतपथ ब्राह्मण[1] में देखा जा सकता है, क्योंकि उससे स्त्री, शूद्र कुत्ता और काला पक्षी (कृष्णः शकुनिः) चारों को असत्य (अनृत) घोषित किया गया है और यज्ञ के समय उनकी ओर देखने का निषेध भी (स्त्री शूद्रः श्वा कृष्णः शकुनिः)। शाङ्खायन ब्राह्मण[2] में कहा गया है कि पत्नी का स्थान यज्ञ की वेदी के बाहर बनाना चाहिए—"अयज्ञियों वै पत्नयो बहिर्वेदिहिताः।"

उपनिषद् काल में पुत्री का महत्त्व पुत्र से अपेक्षाकृत कम है, फिर भी बृहदारण्यकोपनिषद् में विदुषी पुत्री के जन्म की कामना की चर्चा है। साथ ही विदुषी पुत्री के लिए माता-पिता को यह परामर्श दिया जाता था—

*अथ च इच्छेद् दुहिता में पण्डिता जायेत।*
*सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा*
*सर्पिष्मत्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै।।* (वृह0 6/4/17)

अर्थात् जो चाहता हो कि मेरी पुत्री विदुषी हो और पूरे सौ वर्षों की आयु तक जीवित रहे, वह और उसकी पत्नी तिल और चावल की

1. शतपथ ब्राह्मण 14/1/1/31
2. शंखायन ब्रा0 27/4

खिचड़ी पकाकर उसमें घी मिलाकर खायें। इससे वे उक्त योग्यतावाली कन्या को जन्म देने में समर्थ होते हैं।'' उपनिषदो में विदुषी स्त्रियों के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्[1] में गन्धर्वगृहीता कुमारियों तथा स्त्रियों की चर्चा है। शङ्कराचार्य के अनुसार गन्धर्व गृहीता का अर्थ है—गन्धर्व (विशेष ज्ञान सम्पन्न) से आविष्ट होना। (बृहदारण्यकोपनिषद् पृ0 692)। वास्तव में बृहदारण्यकोपनिषद् में जो उद्धरण प्राप्त होते हैं वे शङ्कराचार्य की इस व्याख्या के अनुरूप हैं।

वृहदारण्यकोपनिषद में कपि गोत्रोत्पन्न पतञ्जलि की पुत्री (2/3/1, तस्यासीद् दुहिता गन्धर्वगृहीता) और उसकी भार्या (3/7/1, तस्यासीद् भार्या गन्धर्वगृहीता) दोनों गन्धर्व गृहीता थी, और उसके माध्यम से गूढ़ प्रश्नों का उत्तर मिला था।

बृहदारण्यकोपनिषद् में उल्लेख है कि ऋषि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थी—मैत्रेयी और कात्यायनी। इनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी और उच्चकोटि की विदुषी थी, उसने याज्ञवल्क्य से आत्मतत्त्व से सम्बद्ध गूढ़ प्रश्न किए इसी उपनिषद् में उल्लेख है कि विदेहराज जनक की राजसभा में कई विदुषी स्त्रियाँ थी। जिनमें गार्गी, वाचक्नवी अनुपम प्रतिभा वाली स्त्री थी। उसने प्रश्नोत्तर में याज्ञवल्क्य के दाँत खट्टे कर दिए थे। उसके प्रश्नों का उत्तर देने में याज्ञवल्क्य भी चकरा जाते थे।[1]

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 6/4/17
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/1

उपनिषद्काल में शिक्षा का स्तर ऊँचा होते हुए सभी स्त्रियाँ विदुषी नहीं थीं, कुछ मैत्रेयी की तरह विदुषी और कुछ कात्यायनी की तरह सिर्फ 'स्त्रीप्रज्ञा' थी।[2] इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि उपनिषदों के समय में स्त्री शिक्षा का पर्याप्त प्रचलन था। स्त्रियाँ भी उच्चकोटि की विदुषी, ब्रह्मवादिनी और शास्त्रार्थ महारथी होती थी। छान्दोग्योपनिषद्[3] में कहा गया है कि राजा अश्वपति के राज्य में कोई भी (इसलिए कोई भी स्त्री) अशिक्षित नहीं था।

<u>स्मृतिकालीन शिक्षा</u>—मानवशास्त्र के प्रथम व्याख्याता (रचयिता/प्रणेता) मनु और उन के पश्चात् याज्ञवल्क्य आदि के द्वारा मानव जीवन के विभिन्न पक्षों की व्याख्या करने वाले ग्रन्थधर्मशास्त्रों (स्मृतियों) की रचना हुई है। मनु कन्या के प्रति सर्वाधिक उदारचेता है, उन्होंने कन्या के लिए समाज में सर्वोत्तम सामान्य स्थान विनिश्चित किया है। यद्यपि मनुस्मृति में कन्या साम्पत्तिक उत्तराधिकारियों की तालिका के अन्तर्गत नामित नहीं है, तथापि उसकी स्थिति अत्यन्त सम्माननीय है। अन्य किसी भी हिन्दू धर्मशास्त्र में कन्या की वैधानिक स्थिति इतनी संवेदनशीलता के साथ नहीं पारिभाषित

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 3/6/8
2. बृह0 4/5/1
   "तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव।
   स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायनी।।"
3. छान्दोग्योपनिषद् 5/11/5

की गयी है जितनी यहाँ। मनु कन्या के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय के विवेचन में इतना भावुक नहीं हैं, क्षणभर के लिए कदाचित् वह विस्मृत कर बैठते हैं और उनका यह मत सर्वथा क्षम्य है। कन्या के प्रति अत्यधिक उदार विचार रखने वाले होकर भी शिक्षा के विषय में वह अपेक्षाकृत अनुदार प्रतीत होते हैं। इस विषय में मनु ने भी उन्हें वेद आदि के अध्ययनार्थ अधिकृत नहीं किया, न तो उनको मन्त्रोच्चारण का ही अधिकार रहा है। किन्तु यह भी नहीं कि कन्याएं पूर्णतः अशिक्षित रखी जाय। उनके लिए शिक्षा की व्यवस्था सामान्यतः घर में हुआ करती थी। घर से दूर शास्त्रीय उच्च शिक्षा के निमित्त जाने की स्वतन्त्रता स्मृतिकाल में भी नहीं प्राप्त थी। उनके लिए केवल इतनी शिक्षा अनिवार्य थी कि विवाह के पश्चात् पति के यज्ञादि कार्यो में सहभागिनी[1] बन सके, दैनन्दिन अग्निहोत्र सम्पन्न कर सकें, अतिथियों के लिए सत्कार व्यवस्था करने की क्षमता हो। वह पति के शिष्यों की आदरणीया होती थी, शिष्य भी उनकी आज्ञा का पालन करते थे इससे प्रतीत होता है कि वह पूर्णतः शिक्षित तो होती थी।

मनुस्मृति से इतना तो स्पष्ट होता है कि कन्याएँ गृहकार्य सम्बन्धी सभी कार्यों में दक्षता प्राप्त करती थीं। ग्राहस्थ्य जीवन का समग्र दायित्त्व

---

1. गुरुवत्प्रतिपूज्या; स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।
   असवर्णास्तु सम्पूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः।। मनुस्मृति 2/210।।
   विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्।
   गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन्।। मनुस्मृति 2/217।।

(विवाह के पश्चात्) उनको ही वहन करना पड़ता था। कन्याओं को घर में रहकर जीविकोपार्जन के लिए लघु गृह उद्योगों में भी पूर्णतः शिक्षित प्रशिक्षित किया जाता था। वह सिलाई-बुनाई आदि की कलाओं में भली-भाँति प्रशिक्षण ग्रहण करती थीं। मनु[1] ने स्पष्टरूप से कहा है—पति के प्रवासी होने पर, जीविका का प्रबन्ध करती हुई नियमों का पालन कर, जीवन यापन करें। यदि पति ने जीविका के लिए सारी व्यवस्थाएं प्रवास पर प्रस्थान से पूर्व नहीं किया है तो स्त्री का कर्तव्य है कि वह अनिन्दित शिल्पादि का सहारा लेकर जीविका चलाये। मनुस्मृति के व्याख्याकार मेधातिथि[2] का कथन है—अपने कर्तव्य निर्वाह के लिए उन्हें अत्यधिक शिक्षित होना आवश्यक न था। पति की शिक्षा एवं उसका ज्ञान, उन्हें कर्तव्य निर्वहन में सहायक बनने के लिए पर्याप्त था। पति की शिक्षा एवं उसका ज्ञान उन्हें (स्त्रियों) कर्तव्य निर्वहन में सहायक बनने के लिए पर्याप्त था। क्योंकि पति .का सान्निध्य उन्हें उपलब्ध रहता था। इसी का समर्थन "द पोजीशन आफ वोमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन"[3] किया गया है।

---

1. विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता।
   प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः।। मनुस्मृति 9/75।।
2. मेधातिथि की (मनुस्मृति 2/16) पर व्याख्या।
3. द पोजीशन आफ वोमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ0 345
   "For the performance of their duties,they do not stand in need of much education, their husband's education and earning was enough to help them in it, which in his company was alway's available to them."

यह मनु[1] हैं जिन्होंने सर्वप्रथम अविवाहित कन्या (पुत्री) का उल्लेख किया तथा कहा कि अविवाहित पुत्रियाँ ब्राह्मणों से भी अपेक्षाकृत विशेष सम्मान्या होती है। सच तो यह है कि मनु ने अन्यों की अपेक्षा आगे बढ़कर पुत्री के लिए विशेष संवेदना तथा स्नेहार्हा होने का उद्घोष किया है।[2] उनके अनुसार श्राद्ध के अवसर पर तो पुत्रियों को विशेष रूप से आमन्त्रित तथा बहुमूल्य वस्तुओं द्वारा सन्तुष्ट करना चाहिए।[3] मनु कन्या के विनिमय में धन लेना उपपातकों की कोटि में परिगणित करते हैं।[4] उनका कहना है ऐसे किसी पिता को जो किञ्चिदपि नियमादि से अवगत है अर्थलिप्सावशात् अपनी कन्या के लिए आनुतोषिक रूप धन नहीं स्वीकारना चाहिए। ऐसा करना कन्या विक्रय है।[5] उन्होंने यहाँ तक व्यवस्था दी है कि, यहाँ तक कि एक शूद्र भी यदि किसी प्रकार वैवाहिक शुल्क ग्रहण करें तो प्रकारान्तर से वह कन्या विक्रय दोष का भागी है।[6]

---

1. सुवासिनी कुमारीश्च रोगिणी गर्भिणीः
   अतिथिभ्योऽग्र स्वैतान्योज्ये विचारयन् (मनुस्मृति 3/114)
2. मेघातिथि की टिप्पणी (मनुस्मृति 3/114)
3. मातामहं मातुलं च स्वास्त्रीयं श्वसुरं गूरुम्।
   दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत्।। (मनुस्मृति 3/148)
4. मनुस्मृति 9/98
5. मनुस्मृति 3/52 न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
   गृह्णीञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी।।
6. आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहिंतरं ददत्।
   **शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम्।। मनुस्मृति 9/98।।**

**शिक्षा में पक्षपात**—स्त्री और पुरुष परस्पर सम्पूरक है इस धारणा की भी कदाचित् अवहेलना हुई। स्त्री समाज की प्रतिष्ठा पर आघात के अवसर आये। उसे एक मात्र गार्हस्थ्य जीवन की निर्वाहिका सीमित करने का प्रयास किया गया। वह सफल गृहिणी हो सके, इस हेतु तो नृत्य गान, सिलाई, कृषि एवं गौ दोहन आदि कार्यो में होने के अवसर दिये जाते थे, परन्तु वेदादि के अध्ययन से प्रायः उन्हें वञ्चित रखा जाता था। यद्यपि मंत्रद्रष्ट्री तथा ब्रह्मज्ञान पण्डिता कुछ नारियाँ अवश्य प्रख्यात हुईं, तथापि उन्हें कृषियों, ब्रह्मज्ञानियों की कोटि में स्वीकृति नहीं दी गयी। विदुषी नारियों में गार्गी, वाचक्नवी, मैत्रेयी आदि का नामोल्लेख है। महाविदुषी गार्गी एवं महर्षि याज्ञवल्क्य का शास्त्रीय विवाद इस तथ्य का द्योतक है कि गार्गी ने ब्रह्मविद्या का पूर्णतः मनन किया था।[1]

**संस्कार**—संस्कारों का धार्मिक महत्त्व प्राचीन काल से रहा है। ये एक प्रकार से बालक-बालिका के शरीर, मस्तिष्क तथा बुद्धि-विवेक को संयत और शुद्धि के निमित्त होते रहे हैं। इस कारण मनु[2] ने जातकर्म, चूडाकर्म एवं मौञ्जीबन्धन आदि संस्कार आवश्यक निर्दिष्ट करते हुए व्यवस्था दी—समस्त धार्मिक संस्कार, उचित समय पर कन्याओं के लिए भी उसकी शारीरिक शुद्धि की दृष्टि से सम्पादित किये जाने चाहिए, परन्तु पवित्र मन्त्रों का (वैदिकमन्त्रों का) उच्चारण कन्याओं के संस्कार सम्पादन में) नहीं किया

---

1. वृहदारण्यकोपनिषद् (3-6-1)
2. मनु स्मृति (2/27) गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीबन्धनैः।
   बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते।।2/27।।

जाना चाहिए। वैदिक मन्त्रों के उच्चारण पर प्रतिबन्ध करने का कारण सम्भवतः उनके उच्चारणादि विषयक त्रुटियों की सम्भावना को ध्यान में रखकर किया गया हो, क्योंकि कन्याओं को ऐसे मन्त्रों का शुद्ध-शुद्ध उच्चारण अभ्यास करने के लिए समुचित समय नहीं मिल पाता था। साथ ही कन्याओं का शारीरिक वैशिष्ट्य तथा बौद्धिक विकास का स्तर भी एतदर्थ बाधक रहा है।[1] मनु सामाजिक संस्कृति में कन्याओं के मान-प्रतिष्ठा में कथमपि आघात नहीं होने देना चाहते, इसलिए सभी संस्कारों की अनिवार्यता कन्याओं के लिए प्रतिपादित थी। याज्ञवल्क्य (1/16 एवं 133) तथा अन्य स्मृतियों में यज्ञोपवीत को 'ब्रह्मसूत्र' कहा है।

क्या स्त्रियों का उपनयन होता था? क्या वे यज्ञोपवीत धारण करती थी? इस विषय में स्मृति चन्द्रिका[2] में उद्धृत हारीतधर्मसूत्र तथा अन्य निबन्धों में निम्न बातें कही गयी हैं—स्त्रियों के दो प्रकार थे, (1) ब्रह्मवादिनी (ज्ञानिनी) (2) सद्योवधू (जो सीधे विवाह कर लेती है)। इनमें ब्रह्मवादिनी को उपनयन करना, अग्निसेवा करना, वेदाध्ययन करना, अपने गृह में ही भिक्षाटन करना पड़ता था। किन्तु सद्योवधुओं का विवाह के समय केवल

1. "दी पोजीशन आफ वुमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन" पेज नं0 345
2. स्मृतिचन्द्रिका (भाग 1 पृ0 24 में उद्धृत) एवं संस्कारमयूख पृ0 402।।
   यंतु हारीतेनोक्तं द्विविधः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च।
   तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भिक्षाचर्येति।
   सद्योवधूनां तु उपस्थिते विवाहे कथंचिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः।

उपनयन कर दिया जाता था। गोभिलगृह्यसूत्र[1] में लड़कियों को उपनयन के प्रतीक के रूप में यज्ञोपवीत धारण करना पड़ता था। (क) आश्वलायन गृह्यसूत्र[2] में एवं हारीत ने व्यवस्था दी है कि मासिक धर्म चालू होने के पूर्व ही स्त्रियों का समावर्तन हो जाना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि ब्रह्मवादिनी नारियों का उपनयन गर्भाधान के आठवें वर्ष होता था, वे वेदाध्ययन करती थीं और उनका छात्रा जीवन रजस्वला होने के (युवा हो जाने के) पूर्व समाप्त हो जाता था।

यम[3] ने लिखा है कि—प्राचीन काल में मूञ्ज की मेखला बान्धना (उपनयन) नारियों के लिए भी एक नियम था, उन्हें वेद पढ़ाया जाता था, वे सावित्री (गायत्री) का उच्चारण करती थीं, उन्हें उनके पिता, चाचा या भाई पढ़ा सकते थे, अन्य कोई बाहरी पुरुष नहीं पढ़ा सकता था वे गृह में ही भिक्षा माङ्ग सकती थी, उन्हें मृगचर्म, वल्कल वसन नहीं पहनना पड़ता था और न वे जटाएं रखती थी। धर्मसूत्र प्रणेताओं के सदृश

---

1. गोभिल गृह्यसूत्र 2/1/19
2. (क) आश्वलायन गृह्यसूत्र 3/8

   (ख) प्राग्रजसः समावर्तनम् इति हारीतोक्त्या। संस्कार प्रकाश पृ0 404
3. स्मृति चन्द्रिका (भाग 1 पृ0 24 उद्धृत। यमोपि। पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा।। पिता पितृव्यो भ्राता वा नैमनामध्यापयेत्परः स्वगृहे चैव कन्याया भैक्षचर्या विधीयते। वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणेव च।

   (संस्कार प्रकाश पृ0 402-403)

मनु ने भी करना उचित स्वीकार किया है, इसके विवाह[1] संस्कार द्वारा उस संस्कार (उपनयन की) की सम्पूर्ति हो जाने को धर्म विहित कहा है— स्त्रियों के लिए वैवाहिक संस्कार ही वैदिक संस्कार अर्थात् उपनयन हैं, पति-सेवा ही गुरुकुल निवास (वेदादि का अध्ययन) तथा गृहकार्य सम्पादन (गार्हस्थ्य धर्म का निर्वहन) ही अग्निहोत्र कर्म है। मनुस्मृति के अध्याय 2/67 पर टिप्पणी करते हुए व्याख्याकार मेघातिथि ने और अधिक स्पष्टतः पुष्टि की है—कन्याओं के लिए उपनयन के विकल्प स्वरूप वैवाहिक संस्कार विनिश्चित है, इस स्थिति में उपनयन उनके लिए अनिवार्य नहीं है, यह प्रयोजन विवाह संस्कार के सम्पादन द्वारा पूर्ण हो जाता है। जब स्त्री पति सेवारत हो जाती हैं तो गुरुकुल में गुरु साविध्यवास का उसका प्रयोजन पूर्ण वह जो गार्हस्थ्य धर्म का निर्वाह करती है, उस माध्यम द्वारा प्रकारान्तर से वह अग्नि पूजन क्रिया भी सम्पादित करती ही है। कुल्लूक भट्ट[2] का अभिमत इस श्लोक की टिप्पणी में इसी प्रकार का अर्थबोध हमें कराता है—इस कारण विवाह से पूर्व अनिवार्यता, उसके स्थान पर विवाह का विधान हो जाने पर उससे निवृत्ति मिल जाती है। मेधातिथि ने इस विषय को आगे पुनः प्रतिपादित किया—उपनयन के स्थानापन्न स्वरूप विवाह संस्कार की मान्यता (वैधता) से कन्या (स्त्री) की शुद्धिकरण

---

1. वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
   पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्नि परिक्रिया।। मनुस्मृति 2/36।।
2. तस्माद् विवाहादेः उपनयनस्थाने विधानादुपनयनादेः निवृत्तिः।। कुल्लूक भट्ट।

के पश्चात् सभी प्रयोजन पूर्ण हो जाते हैं। जैसे उपनयन संस्कार के बाद बालक (पुरुष) के लिए श्रुति स्मृति के समस्त नियमों सभी धार्मिक परम्पराओं का बन्धन अनिवार्य हो जाता है, जिससे वह उस संस्कार से पूर्व सर्वथा स्वच्छन्द रहता था एवं धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पादनार्थ अनधिकृत, तथैव कन्याएं (स्त्रियाँ) भी विवाह से पूर्व धर्मक्रिया सम्पादनार्थ अनधिकृत और पूर्ण स्वतन्त्र रहती है, परन्तु विवाहित हो जाने पर श्रुति-स्मृति के समस्त नियमों से प्रतिबन्धित हो जाती हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कन्याओं के लिए विवाह संस्कार की वही अनिवार्यता तथा उपदायेता प्रतीत होती है जो बालक के लिए उपनयन संस्कार की थी।

# स्मृतियों में विवाह

किसी भी सभ्यता की आत्मा को समझने तथा उपलब्धियों की श्रेष्ठता का मूल्याङ्कन का सर्वोत्तम आधार उसमें नारियों की दशा का अध्ययन करना है, अर्थात् स्त्री की दशा किसी भी संस्कृति का मानदण्ड मानी जाती है। भारतीय सभ्यता एवं समाज या सामाजिक व्यवस्था में नारियों को आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था। ऋग्वैदिक काल में नारियों की स्थिति अच्छी थी। उन्हें विवाह, शिक्षा, सम्पत्ति आदि में अधिकार प्राप्त थे। कन्या के रूप में, पत्नी के रूप में, माँ के रूप में हिन्दू परिवार एवं समाज में स्वाभाविक श्रद्धा एवं निष्ठा रही है। पिता विदुषी एवं योग्य कन्या प्राप्ति के लिए धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करते थे। कन्याओं को पुत्रों जैसा ही शैक्षणिक अधिकार, तप करने का अधिकार एवं उपनयन संस्कार का अधिकार प्राप्त था। कन्या ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करती थी। छात्राओं के दो वर्ग थे—'ब्रह्मवादिनी' तथा 'सद्योद्वाहा'। ब्रह्मवादिनी आजीवन धर्म तथा दर्शन की अध्येता थी तथा द्वितीय (सधोद्वाहा) अपने विवाह के समय तक ही अध्ययन करती थी।

ऋग्वेद[1] में अनेक ऐसी नारियों के नाम मिलते हैं जो विदुषी तथा दार्शनिक थीं और उन्होंने कई ऋचाओं की रचना भी की थी। विश्वारा को 'ब्रह्मवादिनी' तथा 'मन्त्रद्रष्ट्री' कहा गया है, जिसने ऋग्वेद के एक

---

1. ऋग्वेद 1/72/5

सूक्त की रचना की थी। घोषा, लोपामुद्रा, शाश्वती, अपाला, इन्द्राणी सिकता आदि विदुषी स्त्रियों के नाम हैं। वैदिक युग में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नारियों का महान् योगदान था। ऋग्वेद के अनुसार वह पति के साथ मिलकर गृह के याज्ञिक कार्य सम्पन्न करती थी। तैत्तिरीयब्राह्मण[1] के अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों यज्ञ रूपी रथ में जुड़े दो बैल थे।

शतपथ ब्राह्मण[2] में कहा गया है कि यज्ञ में उसकी उपस्थिति की अनिवार्यता उसकी "पत्नी" संज्ञा से चरितार्थ होती है एवं वैदिक युग में स्त्री स्वतन्त्र एवं सभी दृष्टियों से पुरुषों के समान थी किन्तु परवर्ती कालों में उसकी स्वतन्त्रता का धीरे-धीरे ह्रास होने लगा।

स्मृतिकाल तक या द्वितीय शताब्दी तक स्त्री स्वतन्त्रता का अधिकार समाप्त हो गया। वैदिक यज्ञ एवं कर्मकाण्डों में नारियों की उसके पति के साथ उपस्थिति भी औपचारिक ही रह गयी। उपनयन पूर्णतया बन्द कर दिया गया, विवाह को ही उपनयन का विकल्प मान लिया गया।

*वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिको मतः।*

*पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोग्निपरिक्रिया।।*[3] मनुस्मृति 67

पारिवारिक जीवन के विकास एवं स्थायित्त्व के लिए प्रत्येक समाज में विवाह एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। परिवार एवं वंश वृद्धि व्यक्तिगत एवं

1. तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/75
2. शतपथ ब्राह्मण 1/19/2/14
3. मनुस्मृति 2/67

सामाजिक विकास, धार्मिक एवं आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना के लिए विवाह अनिवार्य संस्कार माना गया है। हिन्दू समाज में कोई भी धार्मिक कार्य (यज्ञ, होम, मंत्रपाठ, वैवाहिक क्रिया, देवताओं का आवाहन) बिना पत्नी के नहीं सम्पन्न होता, इसलिए वह धर्मपत्नी अथवा 'सहधर्मिणी' भी कही जाती है। मनु[1] के अनुसार—पुरुष अपने आप में ही पूर्ण नहीं है, स्त्री स्वदेह और सन्तान, ये तीनों मिलकर ही पुरुष पूर्ण होता है। गृह की शोभा एवं सम्पन्नता स्त्री से मानी गयी है।

विवाह शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'वह्' धातु से निष्पन्न है जिसका शाब्दिक अर्थ "वधू को वर के घर ले जाना" विवाह सम्बन्धी बहुत से शब्द विवाह संस्कार के भिन्न-भिन्न अर्थों को व्यक्त करते हैं। यथा—उद्वाह (कन्या को उसके पितृ गृह से उच्चता के साथ ले जाना) 'विवाह' (विशिष्ट ढङ्ग से कन्या को ले जाना) 'परिणय' (अग्नि की प्रदक्षिणा करना) 'उपयम'—(सन्निकट ले जाना या अपना बना लेना) 'पाणिग्रहण' (कन्या का हाथ पकड़ना)। ऋग्वेद[2] के मतानुसार विवाह का उद्देश्य गृहस्थ होकर देवों के लिए यज्ञ करना या सन्तानोत्पत्ति करना था। शतपथब्राह्मण[3] में पत्नी पति की अर्धाङ्गिनी है। जब तक व्यक्ति विवाह नहीं करता एवं

---

1. मंनुस्मृति 9/26
2. ऋग्वेद 10/84/36,. 5/3/2, 5/28/3
3. शतपथ ब्राह्मण 5/2/1/10

सन्तानोत्पत्ति नहीं करता तब तक वह पूर्ण नहीं है। आपस्तम्बधर्मसूत्र[1] के मतानुसार—प्रथम पत्नी के गर्भवती होने के कारण दूसरी पत्नी ग्रहण करने तथा धार्मिक कार्य नहीं करना चाहिए।

याज्ञवल्क्य एवं मनु[2] ने कहा है कि—वंश की अविच्छिन्नता एवं स्वर्ग की प्राप्ति ये दोनों कार्य स्त्रियों से सिद्ध होते हैं। मनु[3] ने कहा है कि कुल एवं आचरण में श्रेष्ठ, सुन्दर और योग्य वर मिल जाय तो कन्या की अवस्था विवाह योग्य न होने पर भी उसका विवाह कर देना चाहिए।

कन्या के विषय में आश्वलायनगृह्यसूत्र[4] में कहा गया है कि जो बुद्धिमती हो, सुन्दर हो, सच्चरित्र हो, शुभ लक्षणों वाली स्वस्थ कन्या को विवाह योग्य माना है। कन्या के चुनाव के विषय में मनुस्मृति एवं विष्णु धर्म सूत्र[5] में कहा गया कि पिङ्गल बालो वाली, अतिरिक्त अङ्गों वाली (यथा छः अंगुलियाँ), टूटे-फूटे अङ्गों वाली, बातूनी, पीली आँखों वाली कन्याओं से विवाह नहीं करना चाहिए। निर्दोष अङ्गों वाली, हंस या गज की भाँति चलने वाली, जिनके शरीर के (सिर या अन्य अङ्गों के) बाल छोटे हों, जिनके दाँत छोटे हो, जिनका शरीर कोमल हो उनसे विवाह करना चाहिए। विष्णु पुराण[6] का कहना है कि कन्या के अधर

---

1. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/5/11/12
2. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/78, मनुस्मृति 9/28
3. मनुस्मृति 9/88
4. आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/5/3
5. मनुस्मृति 3/8, 10, विष्णुधर्मसूत्र 24/12-16
6. विष्णु पुराण (3/10/18-22)

या चिबुक पर बाल नहीं होने चाहिए हँसने पर उसके गाल पर गड्ढे नहीं पड़ने चाहिए, उसका कद न तो छोटा हो न बहुत लम्बा। भारद्वाज गृह्यसूत्र[1] के अनुसार कन्या से विवाह करते समय चार बातें देखनी चाहिए —धन, सौन्दर्य, बुद्धि एवं कुल। यदि चारों गुण न मिले तो धन की चिन्ता नहीं करनी चाहिए और उसके पश्चात् सौन्दर्य की भी। किन्तु बुद्धि एवं कुल में किसको महत्ता दी जाय इस विषय में विवाद है कुछ लोग बुद्धि एवं किसी ने कुल को महत्तर माना है।

मनुस्मृति एवं आपस्तम्ब गृह्यसूत्र[2] का कहना है कि विवाहित होने वाली कन्या का नाम रेवती, आर्द्रा (चन्द्र नक्षत्र वाला), वृक्षों या नदियों के नाम वाला नहीं होना चाहिए। उनका म्लेच्छ नाम पर्वत, पक्षी, सर्प, दासी आदि नाम नहीं होना चाहिए। कामसूत्र[3] में कहा गया है कि जिसके नाम के अन्त में र या ल हो यथा—गौरी, कमला, विवाह नहीं करना चाहिए।

गौतम, वसिष्ठ, मानवगृह्यसूत्र एवं याज्ञवल्क्य एवं अन्य धर्मशास्त्रकारों[4] ने कहा है कि विवाह योग्य अवस्था कन्या वर से अवस्था में यवीयसी (छोटी) होनी चाहिए। कामसूत्र में कहा गया है कि कन्या वर से कम तीन वर्ष छोटी हो।

---

1. भारद्वाज गृह्यसूत्र 1/11
2. मनुस्मृति (3/9), आपस्तम्ब गृह्यसूत्र 3/13
3. कामसूत्र 3/1/13
4. गौतम 4/1, वसिष्ठ 8/1, मानव गृह्यसूत्र 1/7/8, याज्ञवल्क्य 1/42

मानवगृह्यसूत्र मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति[1] में भ्रातृहीन कन्या से विवाह वर्जित बताया गया है, क्योंकि कन्या से उत्पन्न पुत्र अपने पिता को पिण्डदान नहीं करता न तो अपने पिता के कुल को चलाने वाला होता है। उससे उत्पन्न पुत्र (लड़की के पिता) नाना का हो जायेगा और अपने नाना को ही पिण्डदान देगा। स्मृतियों में इसे 'पुत्रिकापुत्र' की संज्ञा दी गयी है। मध्य काल में यह प्रतिबन्ध उठ सा गया और आज परिवर्तित स्थिति है—वर्तमान समान में भ्रातृहीन कन्या वरदान रूप में मानी जाती रही है, विशेषतः जब उसका पिता बहुत धनी हो। पश्चात्कालीन[2] साहित्त्य में ऐसा माना जाने लगा कि बिना विवाह कोई स्त्री स्वर्ग नहीं जा सकती। मनुस्मृति[3] में कहा गया है कि जिस कन्या के भाई न हों और जिस कन्या के माता-पिता का ज्ञान न हो उस कन्या के साथ 'पुत्रिका धर्म' की शङ्का से विवाह नहीं करना चाहिए।

<u>विवाह की अवस्था</u> : के विषय में ऋग्वेद[4] में कहा गया है कि जब कन्या सुन्दर है और आभूषित है तो वह स्वयं पुरुषों के झुण्ड में से अपना पति या मित्र ढूँढ़ लेती है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक काल में कन्याएँ इतनी प्रौढ़ होने पर विवाह करती थी वे स्वयं अपना

---

1. मानव गृह्यसूत्र 1/7/8, मनुस्मृति 3/11, याज्ञवल्क्य स्मृति 1/43
2. महाभारत शल्य पर्व, अध्याय 52
3. मनुस्मृति 3/11 यस्यास्तु न भवेत् भ्राता न विज्ञायते पिता।
   नोपयच्छेत् तां प्राज्ञः पुत्रिका धर्मशङ्कया।।
4. ऋग्वेद 10/27/12

पति चुन सकें। जबकि स्मृतिकाल में बाल विवाह का उल्लेख मिलता है। मनु[1] के मतानुसार तीस वर्ष की अवस्था वाला पुरुष बारह वर्ष की कन्या से एवं चौबीस वर्ष की अवस्था वाला पुरुष आठ वर्ष की कन्या के साथ विवाह करे। इसी आधार पर विष्णु पुराण[2] ने कन्या एवं वर की विवाह अवस्था का 1/3 रखा है।

*"वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेत् त्रिगुणः स्वयम्"* —(विष्णुपुराण)

महाभारत के अनुशासन पर्व[3] में वर एवं कन्या की विवाह अवस्थाएँ क्रम से 30 तथा 10, 21 तथा 7 वर्ष है। गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कन्याएं या लड़कियाँ युवावस्था के बिल्कुल पास पहुँच जाने या उसके प्रारम्भ होते ही विवाहित हो जाती थी। हिरण्यकेशि[4] एवं मानव गृह्यसूत्रों[5] में कन्या को "नग्निका" कहा गया है। 'नग्निका' ऐसी कन्याएं थीं जिनका मासिक धर्म सन्निकट है अर्थात् जो सम्भोग के योग्य हो। मानवगृह्यसूत्र के टीकाकार अष्टावक्र ने व्याख्यायित किया है कि 'नग्निका' वह कन्या है जिसने अभी जवानी की भावनाओं को अनुभूत नहीं किया। इसका एक अर्थ यह लगाया गया कि जो बिना

---

1. मनुस्मृति 9/94
2. विष्णुपुराण 3/10/16
3. अनुशासन पर्व 44/14
4. हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र 1/19/2
5. मानव गृह्यसूत्र 1/7/8

परिधान के भी सुन्दर लगे। गृह्यसंग्रह में नग्निका अयुवा कन्या की बोधक माना है वसिष्ठ धर्मसूत्र[1] में नग्निका शब्द अयुवा का द्योतक है।

नारियों की विवाह की अवस्था के विषय में यह कहा जा सकता है सभी कालों और विभिन्न प्रान्तों में विवाह अवस्था पृथक्-पृथक् मानी गयी। पुरुषों के लिए कोई निश्चित अवधि या समय सीमा नहीं थी। पुरुष यदि चाहे तो जीवन भर विवाह कर सकता था। या अविवाहित रह सकता, था किन्तु मध्य काल में लड़कियों के लिए विवाह अनिवार्य हो गया। वेदाध्ययन के पश्चात् पुरुष विवाह कर सकता था यद्यपि वेदाध्ययन की परिसमाप्ति की अवधि में विभिन्नताएं रही हैं। यथा—12, 24, 36, 48 या उतने वर्ष जिनमें एक वेद या उसका कोई अंश पढ़ लिया जाय।

गौतम धर्मसूत्र[2] में कहा गया है कि युवती होने से पूर्व कन्या का विवाह कर देना चाहिए। ऐसा न करने पर पाप लगता है। विवाह के योग्य लड़की यदि पिता द्वारा न विवाहित की जा सके तो वह तीन मास की अवधि पार करके अपने मन के अनुकूल कलङ्कहीन पति का वरण कर सकती है और अपने पिता द्वारा दिए गए आभूषण लौटा सकती है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि गौतम के पूर्व (लगभग 600 ई० पू०) भी कुछ लोग छोटी अवस्था में कन्याओं का विवाह कर देते थे। गौतम ने इस व्यवहार को अच्छा नहीं माना और युवावस्था में ही विवाह को अच्छा

---

1. वशिष्ठ धर्म० सूत्र 17/70
2. गौतम धर्मसूत्र 8/20-23

माना है। युवती होने के विवाह होने पर पति या पत्नी पर कोई पाप नही लगता है।

मनुस्मृति[1] में कहा गया है कि युवती भले ही जीवन भर अपने पिता के घर में अविवाहित रह जाय, किन्तु पिता को चाहिए कि वह सद्गुणविहीन व्यक्ति से विवाह न करे। लड़की युवावस्था के उपरान्त तीन वर्ष बाट जोहकर अपने अनुरूप वर का वरण कर सकती है। इसी का समर्थन—अनुशासन पर्व बौधायन धर्मसूत्र[2] एवं करते है।

जबकि बौधायन, वसिष्ठ धर्मसूत्र, याज्ञवल्क्य एवं नारदस्मृति[3] में कहा गया है कि अविवाहित कन्या रहने पर पिता या अभिभावक कन्या के प्रत्येक मासिक धर्म पर गर्भ गिराने के पाप के भागी होता है। इसी कराण कालान्तर में यह नियम बन गया कि कन्या का विवाह शीघ्र हो जाना चाहिए भले ही वर गुणहीन क्यों न हों। इस प्रकार यदि कन्याओं का पठन पाठन बहुत कम हो, ऐसी स्थिति में अविवाहित कन्याओं का अकारण या निरर्थक रूप से घर में रहने देना समाज को मान्य नहीं था। इस प्रकार एक धारणा बन गयी कि कन्याओं के अङ्गों मे किसी प्रकार का परिवर्तन होने से पूर्व ही उसका विवाह कर देना श्रेयस्कर है। इसका

---

1. मनुस्मृति 9/89-90

   काम मामरणत्तिष्ठेत् गृहे कन्यर्तुमत्यपि

   *न त्वेवैनां प्रयच्छेतु गुणहीनाय कर्हिचित्।।*

2. अनुशासन पर्व (44/16) बौधायन धर्मसूत्र (4/1/14)
3. बौधायन 4/1/12, वशिष्ठ 17/70-71, याज्ञवल्क्य 1/64, नारद (26-27)

विशिष्ट कारण यह था कि अब कन्याओं के लिए विवाह ही उपनयन संस्कार माना जाने लगा था, क्योंकि उपनयन के लिए आठ वर्ष की अवस्था निर्धारित थी। अतः यही अवस्था कन्या के विवाह के लिए उपयुक्त मानी जाने लगी। नारदस्मृति के अनुसार यह भी एक विश्वास हो गया कि अविवाहित रूप से मर जाने पर स्त्री को स्वर्ग प्राप्ति नहीं हो सकती थी।

पराशर एवं याज्ञवल्क्य[1] के मत में कन्या का ब्रह्मचर्य 10वें या 12वें वर्ष तक रहता है। 8 वर्ष की लड़की गौरी, 9 वर्ष की रोहिणी, 10 वर्ष की कन्या तथा इसके ऊपर रजस्वला कही जाती है।

*माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।*
*त्रस्यते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्।।*
*यस्तां समुद्वहेत्कन्यां ब्राह्मणोऽज्ञानमोहितः।*
*असंभाष्यो ह्यपांक्तेयः स विप्रो वृषलीपतिः।।*[2]

ज्ञात होता है कि ब्राह्मण कन्याओं का विवाह 8 और 10 वर्ष के बीच हो जाना चाहिए, इस प्रकार के जो नियम बनें वे छठी एवं सातवीं शताब्दियों से लेकर आधुनिक काल तक विद्यमान रहे हैं, किन्तु आज बहुत से कारणों से, जिनमें सामाजिक, आर्थिक आदि कारण मुख्य हैं, विवाह योग्य अवस्था बहुत बढ़ गयी है, यहाँ तक कि आजकल दहेज आदि कुप्रथाओं के कारण ब्राह्मणों की कन्याएं 16 या कभी-कभी 20

---

1. पराशर 7/6/9
2. पराशर 7/8-9

वर्ष के पश्चात् विवाहित हो पाती हैं। आजकल कुछ कन्याएँ अध्ययनाध्यापन में लीन रहने के कारण देर में विवाह करने लगी हैं। अब तो बाल विवाह अवैधानिक मान लिए गए हैं और कानूनन 18 वर्ष के पहले कन्या विवाह अपराध माना जाने लगा।

ऐसा ज्ञात होता है कि विवाह अवस्था सम्बन्धी नियम केवल ब्राह्मणों पर ही लागू होते थे। संस्कृत साहित्य के कवि एवं नाटककारों ने अपनी कथाओं की नायिकाओं को पर्याप्त प्रौढ़ रूप में चित्रित किया है। भवभूति के नाटक मालतीमाधव की नायिका प्रथम दृष्ट्या प्रेम के आकर्षण में पड़ जाने वाली कन्या थी। हर्षचरित के अनुसार राजश्री (राज्यश्री) विवाह के समय पर्याप्त युवती थी। संस्कार प्रकाश ने स्पष्ट लिखा है कि क्षत्रियों तथा अन्य लोगों की कन्या के लिए युवती हो जाने पर विवाह करना अमान्य नहीं है।

धर्मशास्त्रकारों ने एक ही गोत्र, प्रवर और पिण्ड में परस्पर विवाह करना अप्रशस्त माना है। गोत्र, प्रवर और पिण्ड के बाहर तो हिन्दू समाज में अवश्य विवाह किया जाता रहा है, किन्तु अपनी जाति के बाहर जाकर यह विवाह नहीं किया जाता था। अपनी जाति के भीतर ही भिन्न गोत्र, प्रवर में विवाह होता रहा है। प्रत्येक जाति में विभिन्न गोत्र, पिण्ड और प्रवर हैं जिनमें विवाह सम्बन्ध स्थिर होता है। गोत्र का अर्थ साधारणतः पूर्व पुरुष या स्त्री को व्यक्त करता है। मनु[1] के अनुसार जो कन्या माता

---

1. मनुस्मृति 3/5

के या पिता के सपिण्ड (सात पीढ़ी तक) की न हो और पिता के गोत्र की न हो, ऐसी कन्या द्विजातियों के स्त्रीकर्म के लिए श्रेष्ठ होती हैं।

वृहदारण्यकोपनिषद् तथा छान्दोग्योपनिषद्[1] के अनेक स्थलों पर भारद्वाज, गार्ग्य, आश्वलायन, भार्गव, कात्यायन गौतम, काश्यप आदि ऋषियों के नाम पर गोत्रों की चर्चा की गयी है। गोत्र शब्द गोशाला (गायों का समूह) और व्यक्तियों के समूह के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है ऐसा ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में कहा गया है मनुस्मृति—के व्याख्याकार मेधातिथि[2] ने कहा है कि गोत्र उस आदि पुरुष के लिए प्रयुक्त किया गया जिन्हें कुल या वंश की संज्ञा दी गई, पराशर के अनुसार[3]—सगोत्र कन्या से मातृत्व व्यवहार करना चाहिए। अगर कोई व्यक्ति सगोत्र कन्या से विवाह करता था तो उसे अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त व्रत आदि करने पड़ते थे तथा ऐसा व्यक्ति समाज निन्द्य माना जाता था।

अपरार्क तथा आपस्तम्ब[4] के मतानुसार सगोत्र कन्या से विवाह करने पर चान्द्रायण व्रत करने की व्यवस्था की गई है तथा समान गोत्र प्रवर कन्या से विवाह करने वाले ब्राह्मण को चाण्डाल उत्पन्न करने वाला कहा गया है। मनु[5] के अनुसार बुआ की, मौसी की, और मामा की पुत्री को

---

1. छान्दोग्य उपनिषद् 5/14/1, 5/16/1, वृहदारण्यकोपनिषद् 2/2/4
2. ऋग्वेद 2/23/18/6/65/5, अथर्ववेद 5/21/3, मेधातिथि मनुस्मृति 3/5
3. पराशर स्मृति 2/2
4. अपरार्क पृष्ठ 80, आपस्तम्ब धर्मसूत्र पृष्ठ 116
5. मनुस्मृति 11/171-172

विद्वान् पुरुष को भार्या के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि बान्धव होने से विवाह के अयोग्य उनके साथ विवाह करता हुआ मनुष्य नरक को जाता है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दू समाज में सगोत्र विवाह समाज में निन्द्य माना जाता रहा है। इसके साथ ही सपिण्ड विवाह भी वर्जित था। सपिण्ड का तात्पर्य समान रक्त कणों से अथवा एक ही पिण्ड से अथवा एक से शरीर से है। व्यक्तियों में सपिण्डता का सम्बन्ध इसी तथ्य से है कि दोनों एक ही शरीर के अंश हैं। पुत्र का माता के साथ सपिण्ड सम्बन्ध इसलिए है कि उसमें माता के शरीर का अंश विद्यमान है। मिताक्षरा के अनुसार सपिण्ड का अर्थ समान रक्त कण से है। जिसमें अपने पूर्वज का रक्त है, वह सपिण्ड है। एक ही पिण्ड के लोगों का एक ही पिण्ड में विवाह वर्जित है। पिता से सात पीढ़ी और माता से पाँच पीढ़ी के भीतर के लोग सपिण्ड कहे जाते हैं। विवाह निश्चित करते समय इसका ध्यान रखना अनिवार्य था कि पिता के घर से सात पीढ़ी और माता या कन्या से पाँच पीढ़ी का अन्तर अपेक्षित होना चाहिए। इस नियम से चचेरे, ममेरे, फुफेरे और मौसेरे भाई बहन के बीच विवाह पर प्रतिबन्ध लगाया गया, किन्तु वैदिक काल में सपिण्डता पर कोई विचार नहीं किया गया है। याज्ञवल्क्य[1] के अनुसार भी माता कुल से पाँच पीढ़ी एवं पिता के कुल से सात पीढ़ी से ऊपर ही विवाह होना चाहिए। गौतमगृह्यसूत्र[2] एवं

---

1. याज्ञवल्क्य 1/53

   अरोगिणीं भ्रातृमतीम समानार्ष गोत्रजाम्।

   पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा।।

2. गौतम गृह्यसूत्र 3/4/5, आपतम्ब धर्मसूत्र 2/5/11/16

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में सपिण्ड विवाह का निषेध किया गया है। गौतम[1] के अनुसार ही सपिण्डता का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति जाति भ्रष्ट एवं पतित हो जाता है। नारदस्मृति एवं विष्णु[2] के अनुसार पिता की सात पीढ़ी और माता की पाँच पीढ़ी तक का विवाह निषेध है। मनु के व्याख्याकार मेधातिथि तथा याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार विश्वरूप ने भी सपिण्डता का प्रबल प्रतिषेध किया है तथा ऐसे विवाह करने वालों को घोर निःकृष्ट बताया है।[3]

कन्या का विवाह कौन तय करता हैं और उसका कन्यादान कौन करता है? इस विषय पर विष्णु धर्मसूत्र[4] में कहा गया है कि क्रम से पिता, पितामह, भाई, कुटुम्बी, नाना, नानी कन्यादान दे सकते हैं। याज्ञवल्क्य[5] के मतानुसार पिता, पितामह, भाई कुल के और कोई पुरुष को कन्यादान करना चाहिए, किन्तु इनमें क्रम से पहले वाले के अभाव में आगे कन्यादान नहीं करता तो कन्या के प्रत्येक ऋतुकाल में उसे भ्रूण हत्या का पाप लगता है। यदि कन्यादान देने वाला कोई भी न हो तो कन्या को योग्य वर का वरण स्वयं कर लेना चाहिए। मनुस्मृति[6] के

---

1. गौतम धर्मसूत्र 1/4/3, 3/2/1
2. नारदस्मृति 12/37-75, विष्णु 36/4-7
3. मेधातिथि मनुस्मृति 9/116, विश्वरूप याज्ञवल्क्य 1/53
4. विष्णु धर्मसूत्र 24/38-39
5. याज्ञवल्क्य 1/63-64
6. मनुस्मृति 9/90-91

अनुसार कन्या ऋतुमती होने पर तीन वर्ष तक पिता आदि के द्वारा योग्यतर पति के लिए दान करने की प्रतीक्षा करें। इसके बाद समान योग्यता वाले पति का वरण स्वयं कर ले। स्वयं पति वरण कर लेने वाली कन्या तथा पति थोड़ा भी दोष के भागी नहीं होते हैं। विष्णु धर्मसूत्र[1] में कहा गया है कि युवावस्था प्राप्त कर लेने पर तीन बार मासिक धर्म हो लेने के पश्चात् कन्या को अपना विवाह कर लेने का पूर्ण अधिकार है। किसी भी स्मृति में माता के लिए कन्यादान की व्यवस्था नहीं की गई सिर्फ याज्ञवल्क्य स्मृति को छोड़कर बच्चों पर किसका अधिकार होता है इस विषय पर वसिष्ठ[2] धर्मसूत्र तथा मनु[2] ने कहा है कि माता-पिता दोनों का। वशिष्ठ धर्मसूत्र[3] में कहा है कि बच्चों पर माता-पिता का सम्पूर्ण अधिकार है वे उन्हें दे सकते हैं, बेच सकते हैं, या छोड़ सकते हैं। क्योंकि उन्हीं के शुक-शोणित से बच्चों की उत्पत्ति होती है। मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति[4] के अनुसार स्त्री, पुत्र और दास निर्धन होते हैं ये जो कुछ उपार्जन करते हैं, वह उसके स्वामी या उसका होता है जिसके वे होते हैं। मनु[5] के अनुसार माता, पिता, स्त्री और पुत्र त्याग के योग्य नहीं हैं।

क्या मामा और बुआ (पितृस्वसा) की लड़की से विशेष परिस्थिति

---

1. विष्णु धर्मसूत्र 24/40
2. वसिष्ठ धर्मसूत्र 17/36-27 मनुस्मृति 9/171
3. वसिष्ठ धर्मसूत्र 15/1-3
4. मनुस्मृति 8/416 एवं याज्ञवल्क्य स्मृति 2/175
5. मनुस्मृति 8/389

में विवाह संभव है? इस बात पर प्राचीन काल से गहरा मतभेद रहा है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (1/7/21/8) के अनुसार समानोदर सम्बन्धियों से सम्भोग पातकीय क्रियाओं या महापापों में गिना गया है। मामा और बुआ की लड़की से भी विवाह करना पाप है। बौधायन धर्मसूत्र (1/19/26) के अनुसार दक्षिण में पाँच प्रकार की विलक्षण रीतियाँ पायी जाती है—

(1) बिना उपनयन किये हुए लोगों के साथ बैठकर खाना

(2) अपनी पत्नी के साथ बैठकर खाना

(3) उच्छिष्ट भोजन करना

(4) मातुल कन्या और

(5) बुआ की लड़की से विवाह करना

इससे ज्ञात होता है कि बहुत पहले से दक्षिण में (सम्भवतः नर्मदा के दक्षिण भाग में) मामा (मातुलकन्या) और पिता की बहिन की कन्या (पितृष्त्रसृदुहिता) से विवाह होता था जिसे धर्मशास्त्रकार गौतम एवं बौधायन ने निन्द्य माना है।

मनुस्मृति आपस्तम्ब धर्म सूत्र एवं याज्ञवल्क्य स्मृति[1] में मातुलकन्या, मौसी की लड़की, पितृष्वसृदुहिता से सम्भोग सम्बन्ध पर चान्द्रायण व्रत

---

1. मनु (11/171-172), आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/5/11/6, याज्ञवल्क्य आचाराध्याय 1/254
   पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरेव च
   मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत्।।171।। मनुस्मृति।
   एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेतु बुद्धिमान्।
   ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः।। 11/172।। मनुस्मृति।
   ये सामाना इति द्वाभ्यां शेषं पूर्ववदाचरेत्
   एतत्सपिण्डीकरणमेकोदिष्टं स्त्रिया अपि।। (1/254 याज्ञवल्क्यस्मृति)

और प्रायश्चित्त की बात कही गयी क्योंकि ये कन्याएं सपिण्ड कही जाती हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याकार विश्वरूप ने मातुलकन्या से सम्भोग कर लेने पर 'पराक' प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है। मनुस्मृति (2/16) की व्याख्या में मेधातिथि ने कुछ प्रदेशों में इस प्रथा की चर्चा की है।

मध्यकाल के कुछ लेखकों ने मातुलकन्या से विवाह सम्बन्ध की भर्त्सना की और कुछ ने इसे स्वीकार किया। पराशर माधवीय एवं स्मृतिचन्द्रिका[1] आदि ने मातुलकन्या से विवाह सम्बन्ध वैध माना है, जबकि मनुस्मृति, शातातप आदि ने इस विवाह सम्बन्ध की भर्त्सना की तथापि वेद के कुछ वाक्यों, कुछ स्मृतियों तथा कुछ शिष्टों ने इसे मान्यता दी है और ऐसे विवाह सम्बन्ध को सदाचार के अन्तर्गत माना है। स्मृतिचन्द्रिका, पराशरमाधवीय तथा अन्य ग्रन्थों में खिल सूक्त उद्धरण है कि "आओ हे इन्द्र, अच्छे मार्गों से हमारे यज्ञ में आओ और अपना अंश लो। तुम्हारे पुजारियों से घृत से बना मांस तुम्हें उसी प्रकार दिया है जैसे कि मातुलकन्या एवं बुआ की कन्या विवाह में लोगों के भाग्य में पड़ती है।"

वैद्यनाथकृत स्मृतिमुक्ताफल का कहना है कि "आन्ध्रों में शिष्ट लोग वेदपाठी होते हैं और मातुलकन्या या मातुलसुता परिणय को मान्यता देते हैं। द्रविणों में शिष्ट लोग समान पूर्वज से चौथी पीढ़ी में विवाह सम्बन्ध वैध मानते हैं। दक्षिण में (मद्रास प्रान्त आदि में) कुछ जातियाँ यथा ब्राह्मण मातुलकन्या से विवाह करना अच्छा समझती हैं। संस्कार कौस्तुभ (पृष्ठ

---

1. पराशर माधवीय (1/2 पृ0 63-68) एवं स्मृतिचन्द्रिका (भाग-1 पृ0 70-74)।

616/620) एवं धर्मसिन्धु मातुलसुता-परिणयन को वैध मानते हैं।

<u>गृहस्थाश्रम</u> : सामाजिक संस्कृति की अक्षुण्ण गतिशीलता के लिए मनुष्य त्रिवर्ग साधन हेतु सतत् यत्नशील रहता है। त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम की साधना का एक मात्र आश्रय है—गृहस्थाश्रम। यद्यपि धर्मशास्त्रों में विनिश्चित आश्रमों में यह दूसरा है, अन्य तीन है—ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थ एवं संन्यासाश्रम। मनुस्मृति[1] के अनुसार सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है। यही मत बौधायन धर्मसूत्र में भी प्राप्त होता है। बौधायन[2] का कहना है कि—प्रहलाद के पुत्र कपिल असुर ने देवताओं के प्रति ईर्ष्या भावना रखने के कारण चार आश्रमों का विभाजन किया। क्योंकि वानप्रस्थाश्रम में मनुष्य यज्ञादि क्रियाओं का सम्पादन नहीं कर सकता, इस प्रकार देवगण अपना यज्ञ भाग नहीं प्राप्त कर सकते। मनुस्मृति[3] के अनुसार तथ्य यह है कि सभी आश्रमों के लिए संस्थिति भूमि एकमात्र गृहस्थाश्रम ही है, ठीक उसी प्रकार जैसी छोटी बड़ी नदियों के लिए अन्तिम संस्थिति स्थल सागर है। मनुष्य के त्रिवर्गसाधन की स्थली गृहस्थाश्रम है। गृहस्थाश्रम

---

1. मनुस्मृति 6/89 सर्वेषांमपि चैतेषां वेदस्मृति विधानतः।
   गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः सत्रीनेतान् विभर्ति हि।।
2. प्राह्लादि वै कपिलो नामासुर आसीत् स एतान् भेदान्।
   चकार देवैः स्पर्द्धमानः तान् मनीषी नादियते।। (बौधायन धर्मसूत्र 0/2-6, 29-31)
3. यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्
   तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्ते यान्ति संस्थितिम्।। मनुस्मृति 6/90
   यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
   तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।। (मनुस्मृति 3/77)

के सभी कृत्य पति-पत्नी के सहयोग से सम्पादित होते हैं। इस प्रकार विवाह के सम्बन्ध में मनु एवं याज्ञवल्क्य का मत है कि पत्नी पर पुत्रोत्पति धार्मिक कृत्य, सेवा परमानन्द, अपने तथा अपने[1] पूर्वजो के लिए स्वर्ग की प्राप्ति निर्भर रहती है। मनु[2] की दृष्टि में विवाह संस्कार न केवल व्यक्तिगत अपितु सामाजिक तथा धार्मिक रूप से अनिवार्य है। वह विवाह को शरीर संस्कार की संज्ञा से अभिहित करते हैं, उनका कथन है कि इस संस्कार द्वारा प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री समुचित आयु एवं काल का यापन कर सकते हैं— गुरु[3] से अनुमत होकर (ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रम मे प्रवेश होता है) गृहोक्त विधि से स्नात होकर, शुभ लक्षणों से युक्त समान वर्ण कन्या से विवाह करना चाहिए। मेधातिथि[4] ने मनु की इस धारणा को (मनुस्मृति 3/4) पर टिप्पणी करते हुए) और स्पष्ट किया है— विवाह एक सुसंस्कृत विधि से सम्पन्न धार्मिक संस्कार है जो भार्या से संश्लिष्टात्मक सम्बन्ध स्थापित करने से संकेतित होता है।

---

1. मनुस्मृति 9/28, याज्ञवल्क्य 1/78
   अपत्यं धर्म कार्याणि सुश्रूषा रतिरुत्तमा।
   दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्यह।। (मनुस्मृति 9/28)
   लोकानन्त्यं दिवः प्राप्ति पुत्रपौत्रपौत्रकैः
   यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सैव्याः कर्तव्याश्च सुरक्षिताः।। (याज्ञवल्क्य 1/78)
2. मनुस्मृति 9/27
3. गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधिः
   उद्वहेत् द्विजो भार्या सवर्णा लक्षणान्विताम्।। (मनुस्मृति 3/4)
4. विवाह विधिः संस्कारकर्म भार्यामिति द्वितीया निर्देशात्।।
   (मेघातिथि की टिप्पणी मनुस्मृति 3/4)

## विवाह के प्रकार

विवाह तथा विवाह के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हुये पहले हम विवाह के रूपों पर प्रथमतः विचार कर लें, जो किसी न किसी रूप में समाज में प्रचलित विवाह अष्टधा[1] स्वीकार किया गया है— ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। इसमें भी प्रत्येक वर्ण के कुछ धर्म युक्त विवाह हैं। यथा—ब्राह्मण के लिए छह प्रकार का विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य आसुर और गान्धर्व) क्षत्रिय के लिए चार प्रकार के (आसुर, गान्धर्व, राक्षस, पैशाच) वैश्य और शूद्र के लिए राक्षस रहित तीन प्रकार के विवाह (आसुर, गन्धर्व, पैशाच) का विधान है। इसके साथ ही मनु ने यह भी कहा है कि ब्राह्मण के लिए प्रथम चार विवाह (ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य) क्षत्रिय के लिए राक्षस और वैश्य शूद्र के लिए आसुर विवाह को विद्वानों ने प्रशस्त बताया है। विष्णु स्मृति, और आश्वलायन गृह्यसूत्र[2] में भी विवाह के आठों प्रकारों का यही क्रम प्राप्त होता है।

इन विवाहों में धर्म युक्त तथा अधर्म युक्त विवाहों के विषय में मनु[3] ने कहा है कि अन्त वाले पाँच प्रकार के विवाह (प्राजापत्य, आसुर गान्धर्व, राक्षस, पैशाच) में से तीन प्रकार के विवाह (प्राजापत्य, गन्धर्व

---

1. मनुस्मृति 3/21-23, 24
2. विष्णुस्मृति 24/17-18, आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/6
3. मनुस्मृति 3/25

और राक्षस) धर्म युक्त हैं और दो (आसुर और पिशाच) अधर्म युक्त हैं। अतः आसुर और पैशाच विवाहों को कभी भी नहीं करना चाहिए ये निन्दनीय हैं।

## ब्राह्म विवाह

विवाह का यह सर्वोत्तम प्रकार है, यह ब्राह्मणों के योग्य था तथा इस विवाह का उद्देश्य शारीरिक और मानसिक कर्तव्यों के पालन द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करना था। मनु[1] के अनुसार जिस विवाह में बहुमूल्य अलङ्करणों एवं परिधानों से सुसज्जित रत्नों से मण्डित कन्या सुचरित्र एवं वेदज्ञ वर को निमन्त्रित करके प्रदान की जाती है उसे ब्राह्म विवाह कहते हैं। सभी विवाह के प्रकारों में यह सर्वाधिक सम्मानित रूप था, क्योंकि इसमें धनलिप्सा, कामुकता, शारीरिक बल प्रयोग आदि अनैतिक कार्यों की आवश्यकता नहीं थी। पति-पत्नी का सम्बन्ध परलोक तक चलता था, क्योंकि दोनों का उद्देश्य ब्रह्म या मोक्ष की प्राप्ति होती थी। याज्ञवल्क्य स्मृति[2] में कहा गया है कि ब्राह्म विवाह से उत्पन्न पुत्र दोनों ओर की इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करते हैं। इक्कीस पीढ़ी से तात्पर्य दश पिता आदि (पूर्व की पीढ़िया) तथा पुत्रादि दस पीढ़ियाँ अपने को लेकर इक्कीस पीढ़ी हुई (दश पूर्वान् परान् वंश्यानात्मानं चैकविशंतिम्) वीरमित्रोदय में भी ब्राह्म विवाह की (निरूपाधिक कन्यादान पूर्वकः सवर्णापरिणयो ब्राह्मो

1. मनुस्मृति 3/27-34
2. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/58

विवाहः) प्रशंसा की गयी है।

## दैव विवाह

इस विवाह के अन्तर्गत कन्या का पिता एक यज्ञ का आयोजन कराता था जिसमें बहुत से ऋत्विक् को आमन्त्रित किया जाता था। जो ऋत्विक् यज्ञ का अनुष्ठान विधिपूर्वक करा लेता था उसी के साथ कन्या का पिता कन्या को वस्त्राभूषण से अलङ्कृत कर दे देता था। यह विवाह देवताओं के लिए यज्ञ किए जाते समय ही सम्पन्न होता था, अतः दैव की संज्ञा प्रदान की गयी। मनु और याज्ञवल्क्य[1] ने यही विचार प्रकट किया था। वैदिक युग में ब्राह्मण यज्ञ किया करते थे इसीलिए कन्या पक्ष के ब्राह्मण, ऐसे यज्ञीय ब्राह्मण की अपेक्षा करते थे तथा कन्या दक्षिणा के रूप में प्रदान किया करते थे। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार दैव विवाह से उत्पन्न सन्तान सात पूर्व और सात उत्तर की पीढ़ियों को पवित्र करती है।

## आर्ष

मनुस्मृति[2] तथा याज्ञवल्क्य[3] के मतानुसार इस विवाह में कन्या का पिता वर को कन्या प्रदान करने के बदले में एक जोड़ी गाय या बैल प्राप्त करता था जिससे याज्ञिक क्रियाएं विधिपूर्वक सम्पन्न कर सकें। इस

---

1. मनुस्मृति 3/28 याज्ञवल्क्य 1/59
2. मनुस्मृति 3/29
3. याज्ञवल्क्य 1/59

प्रकार का विवाह ऋषि परम्परा के पुरोहितों अथवा ब्राह्मणों में अधिक प्रचलित था। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट का विचार है कि यह उपहार धर्मतः स्वीकार किया जाता था, न कि इसके पीछे कन्या की बिक्री का कोई इरादा था (न तु शुल्क बुद्धया) इस विवाह से उत्पन्न पुत्र छह पीढ़ियों को पवित्र करता था।

## प्राजापत्य विवाह

मनु[1] के अनुसार इस विवाह में कन्या का पिता वर से कहता था कि "तुम दोनों साथ-साथ धर्माचरण करो।" तथा विवाह के प्रार्थी वर से वचन प्राप्त कर वस्त्र अलंकार से रहित उनका पूजन कर कन्या प्रदान करता था। याज्ञवल्क्य स्मृति[2] में भी कहा है कि कन्या का पिता जब साथ रहकर धर्म का आचरण करो, ऐसा कहकर विवाहेच्छु पुरुष को कन्या प्रदान करता है, तब उसे प्राजापत्य विवाह (काय विवाह) कहा जाता है। प्रजापति के नाम से भी यही अर्थ प्राप्त होता है कि प्रजापति के प्रति अपना ऋण चुकाने अर्थात् सन्तानोत्पत्ति के लिए वर एवं कन्या का सम्बन्ध हो। इसका एक अन्य नाम 'पर्जन्य' भी है।

## आसुर विवाह

मनु[3] ने इस विवाह के बारे में कहा है कि कन्या के पिता तथा उसके

---

1. मनुस्मृति 3/30
2. याज्ञवल्क्य 1/60
3. मनुस्मृति 3/31

सम्बन्धियों को यथाशक्ति धन देकर स्वेच्छापूर्वक वर कन्या को स्वीकार करता है। इस विवाह में मुख्य विचार धन का ही किया जाता था। याज्ञवल्क्य स्मृति[1] के मतानुसार आसुर विवाह अधिक धन लेकर कन्या प्रदान करना है। इसलिए इस विवाह को निन्दित माना गया है। मनु[2] के अनुसार कन्या के विद्वान् पिता को थोड़ा भी धनादि स्वीकार नहीं करना चाहिए। लोभवश शुल्क ग्रहण करने वाला पुरुष सन्तान को बेचने वाला होता है। बौधायन[3] गृह्यसूत्र में क्रय द्वारा बनायी गयी पत्नी को अवैध माना है। यह विवाह समाज में अधिक उन्नत नहीं माना जाता था।

## गान्धर्व

गौतम धर्मसूत्र और बौधायन धर्म सूत्र[4] के अनुसार जब कन्या और पुरुष परस्पर प्रेमवश काम के वशीभूत होकर अपने माता-पिता की इच्छा के बिना विवाह कर लेता था, तब यह प्रथा गान्धर्व विवाह कहलाती थी। मनु[5] के अनुसार—कन्या और पुरुष के इच्छानुसार परस्पर स्नेह से संयोग वा मैथुन होना गन्धर्व विवाह कहा गया है। याज्ञवल्क्य[6] ने भी

---

1. याज्ञवल्क्य 1/61
2. मनुस्मृति 3/51,
3. बौधायन गृह्यसूत्र 1/1/1/20-21
4. गौतम बौधायन धर्म सूत्र, 1/4/8, 1/11/6
5. मनुस्मृति 3/32
6. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/61

इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है। वस्तुतः यह प्रेम विवाह या प्रणय विवाह का सूचक है, क्योंकि वैदिक साहित्य में भी इसका विवरण प्राप्त होता है।

## राक्षस विवाह

शक्ति या बल के प्रयोग द्वारा युद्ध और संघर्ष के माध्यम से किसी कन्या का अपहरण करके विवाह करना राक्षस विवाह था। इसमें क्रूरता के साथ कपट और बलपूर्वक कन्या का अपहरण किया जाता था। मनु[1] के अनुसार कन्या पक्ष वालों को मारकर या उसको घायल करके गृह या द्वारादि को तोड़कर चिल्लाती तथा रोती हुई कन्या का बलात् हरण करके लाना राक्षस विवाह है। याज्ञवल्क्य[2] के मतानुसार युद्ध में हरी गयी कन्या से विवाह राक्षस विवाह है।यह विवाह क्रूरता और निर्दयता पर आधारित था।

मनु के अनुसार—

*हत्त्वा छित्त्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रूदतीं गृहात्।*

*प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते।।*

## पैशाच विवाह

हिन्दू समाज में यह विवाह अत्यन्त निन्दनीय और गर्हित माना जाता

1. मनुस्मृति 3/33
2. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/61

रहा है। मनु[1] ने कहा है कि सोती हुई, मदहोश, उन्मत्त, कन्या के साथ विवाह करना अत्यन्त निन्दित पैशाच विवाह कहा जाता है। याज्ञवल्क्य[2] ने भी इसे छल एवं कपट पर आधारित बताया है। महाभारत[3] में भी इस विवाह को जघन्य अग्रस्त अधर्म, निन्दित और अधम बताया गया है। माता पिता को समाज में उचित स्थान दिलाने की इच्छा से ही सम्भवतः धर्मशास्त्रकारों ने इसे विवाह का एक प्रकार माना है।

विवाह के केवल प्रथम चार प्रकार ही (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य) प्राचीन धर्मशास्त्रकारों[4] द्वारा प्रशंसनीय बताये गये हैं। आश्वलायन गृह्यसूत्र में कहा गया है कि इनसे दोनों पक्षों में क्रमशः बारह, दस, आठ, सात पूर्वज पवित्र होते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[5] सबसे अधिक प्रशस्त विवाह ब्राह्म विवाह कहा गया है जिसमें कन्या के माता-पिता अथवा सम्बन्धी वर को विधिपूर्वक पूजा करके उपहारों के साथ उसे (वर को) कन्या प्रदान करते थे। विवाह के पूर्व दोनों पक्षों के गुण दोषों पर विचार किया जाता था। मनु[6] के अनुसार वर के लिए प्रथम योग्यता यह थी कि उसने ब्रह्मचर्य

---

1. मनु 3/34
2. याज्ञवल्क्य 1/61
3. महाभारत 13/44
4. गौतम 4/12, आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/4/12/3 मनु 3/24, (स्त्रीपुंस नारद 44)
5. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/4/12/2 बौधाययन धर्म सू0 1/11/1
6. मनुस्मृति 3/2

   वेदानधीत्य वेदौ वा वेद वापि यथाक्रमम्।

   अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रमभावसेत्।।  मनुस्मृति 3/2

आश्रम के नियमों का पालन करते हुए (अविप्लुत ब्रह्मचर्य) तीन, दो अथवा कम से कम एक वेद का अध्ययन किया हो। श्रुतवान् व्यक्ति ही विवाह का अधिकारी होता है। कन्या के लिए अविवाहित होना (अनन्यपूर्वा) तथा क्वाँरी होना अनिवार्य योग्यताएं थी। ऐसी कन्या के साथ प्रेम को निन्दनीय कहा गया है जो किसी अन्य द्वारा अपनायी जा चुकी हैं (पर परिगृहीता) विवाह की आयु के सम्बन्ध में सभी धर्मशास्त्रकार एकमत नहीं है पर सभी इस मत से सहमत हैं कि कन्या वर की अपेक्षा यवीयसी होनी चाहिए।

मनु, बौधायन धर्म सूत्र[1] ने वैश्यों और शूद्रों के लिए आसुर एवं पैशाच विवाह की व्यवस्था की है और बहुत ही मनोहर कारण दिया है, "क्योंकि वैश्य और शूद्र अपनी स्त्रियों को नियन्त्रण में नहीं रख पाते और स्वयं खेती बारी एवं सेवा के कार्य में लगे रहते हैं।

प्राचीन काल में ऋषियों द्वारा विवाह एक संस्कार माना जाता था इसके मुख्य उद्देश्य थे—धार्मिक कृत्यों द्वारा सद्गुणों की प्राप्ति एवं सन्तानोत्पत्ति। गान्धर्व विवाह में पिता द्वारा दान की कोई बात नहीं प्रत्युत उस काल तक के लिए कन्या पिता को उसके अधिकार से वंचित कर देती है। तैत्तिरीय संहिता[2] में गान्धर्व विवाह में केवल काम पिपासा की शान्ति की बात प्रमुख है अतः यह प्रथम चार प्रकारों की तुलना में निकृष्ट है और अस्वीकृत माना जाता है। इसका नाम गान्धर्व इसलिए है कि

---

1. मनु 3/26 एवं बौ० धर्म सूत्र—1/11/13-14-16
2. तैत्तिरीय संहिता 6/1/6/5—(स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः)

गान्धर्व कामातुर कहे गये है। जैसाकि—'स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः' तथा ऐतरेय ब्राह्मण[1] का कथन है कि इस प्रकार के विवाह में कन्या की सम्मति ले ली गयी रहती है। राजकुलों में गान्धर्व विवाह बहुत प्रचलित रहा है। कालिदास ने शाकुन्तलम के तीसरे अङ्क में इसके बहु विवाह का उल्लेख किया—"गान्धर्वेण विवाहेन विह्वयो राजर्षिकन्यकाः। श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः।" महाभारत के (आदिपर्व 229/22) में कृष्ण कहते हैं कि जब अर्जुन सुभद्रा के प्रेम में पड़ चुके थे।

स्वयंवर को धर्मशास्त्रों ने व्यावहारिक रूप में गान्धर्व के समान माना है। स्वयंवर का कई प्रकार माना गया है। वसिष्ठ धर्म सूत्र[2] के अनुसार युवावस्था प्राप्त कर लेने के पश्चात् कन्या तीन वर्ष प्रतीक्षाकार स्वयं वर का वरण कर सकती है। याज्ञवल्क्य[3] के अनुसार पितृहीन तथा अभिभावकहीन कन्या स्वयं योग्य वर का वरण कर सकती है। गौतम एवं मनु[4] के अनुसार स्वयंवर करने पर लड़की को अपने सारे गहने उतारकर माता-पिता या भाई को दे देने पड़ते थे और उसके पति को कोई शुल्क नहीं देना पड़ता था, क्योंकि समय में विवाह न करने पर माता पिता या भाई अपने

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण—5/1
2. वसिष्ठ धर्म सूत्र 17/67-68, बौधायन धर्मसूत्र 4/1/13, गौतम, विष्णु धर्मसूत्र 24/40-41
3. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/64
4. गौतम 18/10 एवं मनुस्मृति 9/12

अधिकारों से वञ्चित हो जाते थे। इस प्रकार का सरल स्वयंवर सभीजातियों की लड़कियों के लिए सम्भव था, किन्तु महाकाव्यों में वर्णित स्वयंवर बड़े विशाल पैमाने पर होते थे और वे केवल राजकुलों के लिए सम्भव थे। 'नैषधीयचरितम्' में दमयन्ती का स्वयंवर उसके मन का था, यद्यपि उसने विशाल रूप में सज्जित एवं एकत्र राजवरों के बीच में नल को चुना। कालिदास ने 'रघुवंशम्' महाकाव्य में इन्दुमती के स्वयंवर का बड़ा मनोरम चित्रण किया। सीता एवं द्रौपदी का स्वयंवर उनकी इच्छाओं पर निर्भर नहीं था, प्रत्युत वे उन्हें को ब्याह दी गयीं, जिन्होंने पूर्व निर्धारित योग्यता या दक्षता प्रदर्शित की। महाभारत के आदिपर्व (189/1) के अनुसार स्वयंवर ब्राह्मणों के लिए अनुपयुक्त थे।

राक्षस विवाह में कन्यादान की बात ही नहीं उठती, बल्कि कन्यादान के विरोध की बात उठ सकती है। बलवश कन्या को उठा ले जाना राक्षस विवाह के मूल में पाया जाता है। राक्षस लोग अपने क्रूर एवं शक्तिशाली कार्यो के लिए प्रसिद्ध माने गये हैं अतः इस प्रकार के विवाह को राक्षस विवाह की संज्ञा मिली है। एपिग्रैफिया इण्डिया जिल्द के अनुसार[1] पृथ्वी राज चौहान ने जयचन्द्र की कन्या को (राक्षस विवाह) राक्षस ढंग से प्राप्त किया था। इस विवाह में कन्नौज के राजा जयचन्द की कन्या की भी सम्मति थी अतः यह विवाह[2] गान्धर्व एवं राक्षस विवाह का मिश्रण कहा

---

1. एपिग्रैफिया इण्डिया जिल्द (18 पृ0 235)
2. मनुस्मृति 3/26

जा सकता है। महाभारत के आदिपर्व[1] में आया है कि क्षत्रिय लोग स्वयंवर करते थे लेकिन कन्याओं के सम्बन्धियों को हराकर उनका अपहरण करके विवाह करना अच्छा समझते थे। भीष्म ने काशिराज की तीन कन्याओं का अपहरण करके दो (अम्बिका, अम्बालिका) का विवाह अपने रक्षा (आश्रित) विचित्रवीर्य से कर दिया। धर्मशास्त्रों ने पैशाच विवाह की बहुत भर्त्सना की है। आपस्तम्ब एवं वसिष्ठ ने पैशाच एवं प्राजापत्य के नाम नहीं लिए हैं, इससे ज्ञात होता है कि इस काल तक इस विवाह के प्रकारों का अन्त हो चुका था। पश्चात्कालिक लेखकों ने केवल नाम गिनाने के लिए सभी प्रचलित एवं अप्रचलित विवाहों के नाम दे दिये हैं। वसिष्ठ[2] के मतानुसार अपहृत कन्या यदि मन्त्रों से अभिषिक्त होकर विवाहित न हो सकी हो, तो उसका पुनर्विवाह किया जा सकता है।

स्मृतियों[3] में कन्या के भविष्य और कल्याण के लिए अपहरणकर्त्ता एवं बलात्कार करने वाले को होम एवं सप्तपदी करने को कहा गया है, जिससे कन्या को विवाहित होने की वैधता प्राप्त हो जाय। यदि अपहरणकर्ता तथा बलात्कारकर्ता ऐसा करने को तैयार न हों तो कन्या किसी दूसरे को दी जा सकती थी और अपहरणकर्ता एवं बलात्कारकर्ता

---

1. आदिपर्व 102/16
2. वशिष्ठ (17/73)
3. मनुस्मृति 8/366, याज्ञवल्क्य 2/287-88

को भीषण दण्ड भुगतना पड़ता था। मनु[1] के मतानुसार यदि कोई व्यक्ति अपनी जाति की किसी कन्या से उसकी सम्मति से सम्भोग करें तो उसे कन्या के पिता को (यदि पिता चाहे तो) शुल्क देना पड़ता था। मेधातिथि के अनुसार यदि पिता धन नहीं चाहता तो प्रेमी को चाहिए कि वह राजा को धन दण्ड दे, कन्या उसे दे दी जा सकती है, किन्तु यदि उसका (कन्या का) प्रेम न रह गया हो तो वह दूसरे से विवाहित हो सकती है किन्तु यदि प्रेमी स्वयं उसे ग्रहण करना स्वीकार न करे तो उसके साथ बल प्रयोग करके उसे स्वीकृत कराया जाय। नारद[2] ने भी कहा है कि यदि कन्या की सम्मति से सम्भोग किया गया है तो कोई अपराध नही हैं, किन्तु कन्या को आभूषण परिधान आदि से अलङ्कृत एवं समादृत करके विवाह अवश्य करना चाहिए।

स्मृतिचन्द्रिका तथा देवल एवं गृह्यपरिशिष्ट आदि में यह लिखा है कि गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच विवाह में होम एवं सप्तपदी आवश्यक है। महाभारत के आदिपर्व[3] में स्पष्ट उल्लेख है कि स्वयंवर के पश्चात् भी धार्मिक कृत्य किया जाना चाहिए। कालिदास ने (रघुवंश 7वें सर्ग में) वर्णन किया है कि इन्दुमती के स्वयंवर के पश्चात् मधुपर्क, होम, अग्निप्रदक्षिणा, पाणिग्रहण आदि धार्मिक कृत्य किए गये। आश्वलायन

---

1. मनुस्मृति 8/366
2. नारद स्त्रीपुंस श्लोक 72
3. महाभारत आदिपर्व 194/7

गृह्यसूत्र में सर्वप्रथम आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन मिलता है और पुनः होम एवं सप्तपदी की व्यवस्था दी है। अतः स्पष्ट है कि सभी विवाह प्रकारों में होम एवं सप्तपदी के कृत्य आवश्यक माने जाते हैं।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र[1] में कहा गया है कि जैसा विवाह होगा, उसी प्रकार पति-पत्नी की सन्तानें होगी, अर्थात् यदि विवाह अत्युत्तम ढङ्ग का (यथा ब्राह्म) होगा तो सन्तानें भी सच्चरित्र होगी, यदि विवाह निन्दित ढङ्ग से होगा तो सन्तानें की निन्दित चरित्र की होगी। मनु[2] ने कहा है कि विवाह ब्राह्म तथा अन्य तीन प्रकार के हुए हैं तो उनसे उत्पन्न बच्चे आध्यात्मिक श्रेष्ठता के होगें, और सुन्दर, यशस्वी, गुणी, धनी, दीर्घायु। अन्तिम चार प्रकार (गान्धर्व आसुर, राक्षस, पैशाच) विवाहों से उत्पन्न सन्तानें क्रूर, झूठी, वेदद्रोही, और धर्मद्रोही होगी। आजकल ब्राह्म एवं आसुर विवाह प्रचलित हैं। ब्राह्म विवाह में कन्यादान होता है किन्तु आसुर में लड़की के पिता या अभिभावकों को उनके लाभ के लिए शुल्क देना पड़ता है। गान्धर्व विवाह लगभग समाप्तप्राप्य है। लेकिन नवयुवक एवं नवयुवतियाँ गान्धर्व विवाह की ओर उन्मुख हो रहे हैं। यदि कोई विधवा स्वयं विवाह करे तो वह गान्धर्व के रूप में ग्रहण किया जा सकता हैं क्योंकि इस विवाह में कन्यादान नहीं होता।

---

1. आपस्तम्ब धर्मसूत्र (2/4/12/4)
2. मनुस्मृति (3/42-49)

## अन्तर्विवाह या सवर्ण विवाह

अपने ही वर्ण, जाति, समूह, प्रजाति और धर्म में विवाह करना अन्तर्विवाह कहलाता है। ऐसा माना जाता था कि अपने कुल और रक्त की रक्षा के लिए सवर्ण विवाह करना चाहिए। धीरे-धीरे यह भावना भी प्रबल होती गई कि अपने ही वर्ण अथवा जाति में विवाह करना चाहिए। अनेकानेक जातियों एवं उपजातियों के हो जाने पर सवर्ण विवाह का स्वरूप भी विस्तृत हो गया तथा सभी लोग अपनी जातियों और उपजातियों में विवाह करने लगे। वैदिक युग में इसका प्रचलन नहीं था। इस युग में असवर्ण विवाह होते थे। स्मृतियों और धर्मसूत्रों में इस विवाह पर अधिक बल दिया जाने लगा। गौतमधर्मसूत्र[1] के अनुसार असवर्ण विवाह निम्न था। मनु[2] के मतानुसार द्विजातियों के लिए प्रथम विवाह के लिए सवर्णा (अपने वर्ण की) स्त्री श्रेष्ठ मानी जाती थी। काम के वशीभूत होकर (दूसरे विवाह के लिए) प्रवृत्त पुरुषों की ये स्त्रियाँ श्रेष्ठ (अनुलोम क्रम से) मानी जाती हैं। याज्ञवल्क्य और नारद ने भी सवर्ण स्त्री से विवाह करने पर श्रेष्ठता की बात कही है।[3] अपनी जाति से बाहर विवाह करने वाला व्यक्ति निन्दनीय माना जाने लगा स्वजाति में विवाह करना सामाजिक प्रतिष्ठा और कुल गौरव की बात कही गई। याज्ञवल्क्यस्मृति[4] के मतानुसार सवर्णा से

---

1. गौतम धर्म सूत्र 4/1
2. मनुस्मृति 3/12
3. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/55 नारदस्त्रीपुंस
4. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/62

विवाह के समय उसका पाणि (हाथ) पकड़ना चाहिए। यदि ब्राह्मण क्षत्रिया से विवाह करे तो क्षत्रिया (वर के हाथ में स्थित) बाण को पकड़े और वैश्या से यदि विवाह करे तो वैश्या वर के हाथ में स्थित प्रतोद (चाबुक) पकड़े। यथा—

*पाणिर्ग्राह्यः सवर्णासु गृह्णीयात्क्षत्रिया शरम्।*

*वैस्या प्रतोदमादद्याद्वेदने त्वग्रजन्मनः।।62।।*

याज्ञवल्क्य को द्विजाति का शूद्रा से विवाह मान्य नहीं था और उसका उन्होंने स्पष्टतः निषेध कर दिया है। अतः उन्होंने शूद्रा का उल्लेख नहीं किया। किन्तु मनु आदि ने किसी प्रकार उसे भी स्वीकार किया था, एतदर्थ मनु ने शूद्रा विवाह में शूद्रा के द्वारा वस्त्र का किनारा पकड़ने का उल्लेख किया है—***"वस्त्रस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने"***

## अन्तर्जातीय विवाह

प्राचीन काल से ही अन्तर्वर्णीय या अन्तर्जातीय विवाह होते रहे हैं। यह अनुलोम एवं प्रतिलोम दो रूपों में विभक्त था। जब एक उच्च वर्ण या जाति का व्यक्ति अपने से निम्न जाति की स्त्री से विवाह करता है तो इसे अनुलोम विवाह कहा जाता है। तथा जब किसी उच्च जाति की स्त्री का विवाह किसी निम्न जाति या वर्ण के पुरुष से होता है तो इसे प्रतिलोम विवाह कहा जाता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[1] ने अनुलोम विवाह

---

1. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/6/13/1, 3-4

को भी अस्वीकृत किया है। इन्होंने अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह की चर्चा तक नहीं की है। किन्तु गौतम, वसिष्ठ, मनु एवं याज्ञवल्क्य[1] ने स्वजाति विवाह के साथ ही साथ अनुलोम विवाह को वर्जित नहीं किया है।

याज्ञवल्क्य[3] के मतानुसार मूर्धावसिक्त, अम्बष्ठ, निषाद, माहिष्य, उग्र एवं करण ये छह अनुलोम जातियां हैं। मनु[4] ने कहा है कि अनुलोम जातियाँ द्विजों के सारे क्रिया संस्कारो को कर सकती हैं किन्तु प्रतिलोम जातियाँ शूद्र के समान हैं, वे द्विजों के संस्कार आदि नहीं कर सकतीं। चाहे वे ब्राह्मण स्त्री एवं क्षत्रिय पति या वैश्य पति से क्यों न उत्पन्न हुई हों ? गौतम धर्मसूत्र[4] आश्वलयन गृह्यसूत्र ने प्रतिलोम विवाह को धर्महीन कहा है। याज्ञवल्क्य[5] के व्याख्याकार विज्ञानेश्वर ने कहा है कि प्रतिलोम लोग उपनयन आदि संस्कार नहीं कर सकते, हाँ वे व्रत प्रायश्चित्त आदि कर सकते हैं।

अनुलोम विवाह के परिणाम स्वरूप हिन्दू समाज में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुईं, उच्च वर्गों और जातियों का महत्त्व समाज में बहुत अधिक

---

1. गौतम धर्मसूत्र 4/1, वसिष्ठ 1/24
   मनुस्मृति 3/12-13, याज्ञवल्क्य 1/55-57
2. याज्ञवल्क्य 1/91-92
3. मंनु 10/41
4. गौतम धर्मसूत्र 4/20
5. याज्ञवल्क्य 1/110

बढ़ गया तथा उनकी सन्तानें विशिष्ट स्थान ग्रहण करने लगीं सभी लोग ऊँचे वर्ण अथवा जाति के लड़कों से अपनी लड़कियों का विवाह करने के इच्छुक हुए। इससे बहुपत्नी प्रथा का प्रारम्भ हुआ क्योंकि उच्च जातियों और वर्णों में लड़को की माङ्ग बढ़ गई तथा सभी लोग ऊँची जाति के लड़कों के साथ अपनी कन्या का विवाह करना चाहते थे। इस प्रकार नैतिक स्तर का ह्रास होने लगा अनुलोम विवाह के फलस्वरूप बेमेल विवाह का भी प्रारम्भ हुआ।

ऊँची जाति में विवाह करने की लालसा ने लोगों को यहाँ तक बाध्य किया कि लोग ऊँची जाति के वृद्ध व्यक्ति से भी अपनी कन्या का विवाह करने लगे। जिससे समाज में बाल विवाह जैसी नयी समस्या का प्रारम्भ हो गया। हिन्दू समाज में अन्तर्जातीय विवाह प्रणाली अल्परूप में स्वीकार की गई थी। प्रायः लोग अपने ही वर्ण और जाति में विवाह करते थे। अन्तर्जातीय विवाह पर कठोर नियन्त्रण था।

## सवर्ण-असवर्ण विवाह

**औचित्य-अनौचित्य**—स्मृतिकारों[1] ने असवर्ण विवाह को प्रतिबन्धित किया है। मनु[2] के मत में सवर्ण तथा शुभ लक्षणों से युक्त कन्या से

---

1. "उद्वहेत द्विजो आर्या सवर्णां लक्षणान्वितम्" (मनुस्मृति 3/4)
2. सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि
   कामस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः।। (मनु 3/12)

विवाह करें। उन्होंने ब्राह्मणों के एक से अधिक विवाह करने की अनुमति नहीं दी। उनका कहना है कि यदि कोई व्यक्ति अत्यन्त कामुक है और वह स्वयं को नियन्त्रित करने में असमर्थ हो तो उस स्थिति में अन्य विवाह चाहे तो कर सकता है। मनु के अनुसार वह पत्नी असवर्ण कुल की हो सकती है।[1] इस प्रावधान में कामतः (काम पिपासा की शान्ति के लिए) प्रयोग इस अर्थ का सङ्केत करता है कि वह पत्नी कथमपि धार्मिक कृत्यों की सहयोगिनी अथवा सहभागिनी नहीं हो सकती। मनु[2] ने अनुकल्प व्यवस्था प्रतिपादित करते हुए जहाँ ब्राह्मणों को सभी वर्ण की कन्या क्षत्रिय की अपने और वैश्य वर्ण की कन्या, वैश्य को निज तथा शूद्र कुल की कन्या एवं शूद्र को मात्र अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह करने का अधिकार दिया है। वही[3] यह भी कहा है कि ब्राह्मण यदि अपने से हीन वर्ण की कन्या से विवाह करता है तो वह कुल तथा सन्तति को

---

1. शूद्रैव आर्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते
   तै च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः। (मनुस्मृति 3/13)
2. न ब्राह्मणं क्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः।
   कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिशयते।। (मनुस्मृति 3/14)
3. मनुस्मृति 3/15-16
   हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
   कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम्।।
   शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च।
   शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः।।

शूद्र की स्थिति में पहुँचा देता है। जो ब्राह्मण शूद्र पत्नी से समागम (शूद्रा पत्नी अपनी शय्या पर अवस्थित करता है) करता है, वह अधोगति को प्राप्त होता है तथा उसपत्नी से पुत्रोत्पत्ति कर लेने पर ब्राह्मणत्व से च्युत हो जाता है। मेधातिथि[1] की इस सम्बन्ध में टिप्पणी है कि सुतम् से स्पष्ट है कि शूद्रा पत्नी से समागम पुत्रोत्पत्ति के वर्जित है, यदि पुत्रियाँ उत्पन्न हो तो अधिक अनुचित नही हैं। वस्तुतः मनु[2] ने असर्वण विवाह को सर्वथा हीन तथा अनुचित कहा है एवं असवर्णा पत्नी अनादरणीया गुरु की सवर्ण पत्नियों के समान पूजनीया है, किन्तु असवर्ण पत्नी मात्र अभिवादन प्राप्त करने की अधिकारिणी है। प्रकारान्तर से स्मृतिकार एकाधिक विवाह को अनुमत किये हैं। मनु[3] ने असवर्ण विवाह के कुप्रभावों, अवगुणों आदि का भी विस्तार से वर्णन किया है। ब्राह्मण द्वारा बाद वाले वर्ण की स्त्री से उत्पन्न हुए माता के दोषों से निन्दित पुत्रों को पिता की जाति वाला कहा गया है। ब्राह्मण से वैश्या में उत्पन्न अम्बष्ठ, शूद्रा से उत्पन्न निषाद, नामान्तर से पारासव नामक पुत्र होता है। उन्होंने (मनु[4] ने) यह मत प्रतिपादित किया है कि ब्राह्मण के मात्र छह पुत्र (सवर्ण पत्नी एवं द्वितीय

---

1. मेधातिथि द्वारा (मनुस्मृति 3/15-16) पर टिप्पणी।
2. गुरुवत्प्रतिपूज्या स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।
   असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः।। मनुस्मृति 2/210
3. मनुस्मृति 10/6-8
4. मनुस्मृति 10/41 सजातिजानन्तरजाः षट्सुता द्विजधर्मिणः।
   शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजा स्मृताः।।

वर्ण की पत्नी से उत्पन्न) केवल ब्राह्मण जातीय कार्यकलाप के अधिकारी हैं, उससे इतर शूद्रकर्मा। इतना ही नहीं मनु[1] ने असवर्ण कन्या के विवाह को धार्मिक रीति से सम्पन्न करना भी वर्जित किया है। उसके लिए भी स्पष्टतः उन्होंने अन्य विधियाँ निर्दिष्ट की हैं। ऐसा ही मत याज्ञवल्क्य[2] ने भी व्यक्त किया है—निज वर्ण की कन्या से विवाह करते समय उसका हाथ पकड़ना चाहिए, क्षत्रिय कन्या से विवाह के समय बाण, वैश्य कन्या से विवाह ब्राह्मण करे तो वह अंकुश (चाबुक) पकड़े। मनु[3] ने असर्वण विवाह को सर्वथा शास्त्र-प्रतिकूल सामाजिक एवं संस्कृति को दूषित करने वाला माना है। ब्राह्मण से (निम्न तीन वर्णों) क्षत्रिय वैश्य और शूद्र पत्नी से उत्पन्न पुत्र क्षत्रिय से (निम्न दो वर्णों) वैश्य एवं शूद्र स्त्री से पैदा होने वाले पुत्र, वैश्य से शूद्र वर्ण की पत्नी से उत्पन्न होने वाला पुत्र जारज की कोटि में आते है। असवर्ण पत्नी को धार्मिक कृत्यों में सहभागिनी होने का अधिकार भी मनु[4] नहीं स्वीकार करते—यदि किसी धर्म क्रिया विषयक आयोजन के अवसर पर किसी असवर्ण स्त्री द्वारा, उस धर्म क्रिया के सहभागियों एवं आगत जनों के सत्कार भोजनादि की

---

1. मनुस्मृति 3/44
2. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/62
3. मनुस्मृति 10/10

   विप्रस्य त्रिषुवर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः
   वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्षडेतेऽपसदाः स्मृताः।। मनुस्मृति 10/10
4. मनुस्मृति 3/18

व्यवस्था व्यक्ति करता है, तो अतिथिगण वह सत्कार न ग्रहण करेंगे एवं अनुष्ठान करने वाला स्वर्ग का अधिकारी नहीं हो सकता। याज्ञवल्क्य[1] ने भी धार्मिक क्रियाओं में सहभागत्व का अधिकार सवर्णा स्त्री को ही देना प्रतिपादित किया है। असवर्ण अन्तर्जातीय विवाह को इस रूप में संकेत मिलता है कि स्मृतिकारों ने मान्यता नहीं प्रदान की। सवर्णा[2] पत्नी से उत्पन्न पुत्र ही माता-पिता के शुद्ध वंश का होता है और उसी से कुल एवं धर्म की अभिवृद्धि होती है। महाभाष्य[3] में दासी तथा वृषली का उल्लेख अनेकशः एक कामुकता की पात्री स्वरूप प्राप्त होता है। ब्रह्मण से शूद्रा से उत्पन्न सन्तान को वृषल कहा जाता था। इससे परिलक्षित है कि पतञ्जलि के समय असवर्ण विवाह होते रहे।

## बहुपत्नी प्रथा

स्मृतिकारों एवं हिन्दू जीवन पद्धति में सामान्यतः एक विवाह ही आदर्श रहा है, जिसमें स्त्री के लिए एक ही पति और पुरुष के लिए एक पत्नी का विधान किया गया है। आदर्श पुरुष और स्त्री वही कही जा सकता/सकती थी, जिसके सम्बन्धों में स्थायित्त्व हो और जिसका एक ही विवाह

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/88 "सवर्णासु विधौ धर्मे"
2. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/90

   सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः।

   अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्धनाः।।
3. महाभाष्य 2-3-69 तथा 6-2-48

होता था। आपस्तम्ब[1] के अनुसार धर्म तथा प्रजा से सम्पन्न पत्नी के रहते हुए पुरुष को अपना दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। नारद[2] का मत है कि अनुकूल, मृदुभाषिणी, गृहकार्यदक्ष, पतिव्रता एवं सन्तानवाली पत्नी को छोड़कर दूसरी पत्नी से विवाह करने वाले पुरुष को राजा कठोर दण्ड से उचित मार्ग पर रखें, किन्तु इस विधान के बावजूद समाज में बहुविवाह का प्रचलन था। बहुविवाह का अभिप्राय है पति एवं पत्नी द्वारा अपने जीवनकाल में ही एक से अधिक पत्नी या पति को जीवन साथी के रूप में रखना। इसके दो रूप हैं। (1) बहुपत्नी विवाह, (2) बहुपति विवाह।

हिन्दू समाज में प्राचीन काल से ही बहुपत्नीत्व एवं बहुभर्तृकता की प्रथा रही है। धर्मसूत्रों में भी कहा गया है कि पुरुष एक से अधिक पत्नियाँ रख सकता है, किन्तु एक से अधिक पत्नी रखने की अनुमति व्यक्ति को विशेष परिस्थितियों में ही थी।

वैदिक काल में ही बहुपत्नीकता के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद[3] से ज्ञात होता है कि पत्नी द्वारा सौत के प्रति प्रेम घटाने के लिए मंत्रों का उच्चारण किया गया है। ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि इन्द्र की कई रानियाँ थीं क्योंकि उसकी रानी शची ने अपनी बहुत सी सौतों को हरा दिया था या मार डाला था और इन्द्र एवं अन्य पुरुषों

---

1. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/5/12
2. नारद (स्त्रीपुंस0) 95
3. ऋग्वेद 10/145, 159

पर अपना एकाधिपत्त्य स्थापित कर लिया था। तैत्तिरीयसंहिता[1] में कहा गया है कि एक यूप में दो रशनाएं बाँधी जा सकती हैं अतः एक पुरुष दो पत्नियाँ रख सकता। एक रशना दो यूपों से नहीं बाँधी जा सकतीं, इसलिए एक पत्नी दो पति नहीं रख सकती। तैत्तिरीयब्राह्मण[2] में पत्नियाँ सम्पत्ति के समान बतायी गयी।

यह (बहुपत्नीत्व प्रथा) राजाओं और धनिक वर्णो में अधिक थी। शतपथ ब्राह्मण[3] में आया है कि राजाओं की साधारणतः चार प्रकार की पत्नियाँ सेवा करती थी—महिषी (अभिषिक्त रानी) वावाता (व्यक्तिगत रूप से प्रिय) परिवृक्ता (त्यागी हुई) एवं पालागली (सबसे निम्न व्यक्ति की कन्या)। तैत्तिरीयसंहिता[4] में भी परिवृक्ता एवं महिषी पत्नियों का विवरण प्राप्त होता है।

वाजसनेयीसंहिता[5] में भी ब्रह्मा के लिए महिषी, उद्गाता के लिए वावाता एवं होता के लिए परिवृक्ता सम्बोधनार्थ प्रयुक्त किया गया है। मैत्रायणीसंहिता एवं वृहदारण्योकपनिषद्[6] से ज्ञात होता है कि मनु की दस

---

1. तैत्तिरीय संहिता 6/6/4/3
2. तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/8/4
3. शतपथ ब्राह्मण 13/4/1/9
4. तैत्तिरीय संहिता 1/8/9
5. वाजसनेयी संहिता 23/24. 26, 28
6. मैत्रायणी संहिता 1/58, बृहदारण्यकोपनिषद् 4/5/1-2

पत्नियाँ थी और याज्ञवल्क्य की मैत्रेयी और कात्यायनी नामक दो पत्नियाँ थीं।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र[1] के अनुसार धर्म एवं सन्तान से युक्त अगर पत्नी हो तो पुरुष को दूसरी शादी नहीं करना चाहिए, किन्तु धर्म एवं सन्तान में एक के अभाव में उसकी पूर्ति के लिए श्रौतकर्म के पूर्व दूसरी स्त्री से विवाह कर लेना चाहिए, यदि कोई अपनी निर्दोष पत्नी का त्याग करता है तो उसे गधे की खाल ओढ़कर छह महीनों तक सात घरों से भिक्षा माँगनी चाहिए। मनु[2] के मतानुसार यदि पत्नी मद्यपान करने वाली, पति के प्रतिकूल रहने वाली, रोगवाली, मारने या फटकारने वाली और अधिक धन व्यय करने वाली, दुराचार वाली हो, तो उसके जीवित रहने पर भी पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है। पारस्कर गृह्यसूत्र[3] के अनुसार ब्राह्मण तीन पत्नियाँ, क्षत्रिय दो पत्नी, वैश्व एक पत्नी रख सकता है। याज्ञवल्क्य[4] ने भी कहा है कि सुरापायी, दीर्घ रोगी, धूर्त, बाँझ, धन नाशिनी, कटु वचन वाली, पुत्रियों को जन्म देने वाली और पति का अहित करने वाली पत्नी के रहते हुए भी दूसरा विवाह कर लेना चाहिए।

मनु[5] के अनुसार सन्तान हीन आठवें वर्ष में मृत सन्तान स्त्री की

1. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/5/11/12-13, 1/10/28/19
2. मनुस्मृति 9/80
3. पारस्कर गृह्यसूत्र 1/4/8-11
4. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/73
5. मनुस्मृति 9/81

दसवें वर्ष में कन्या के उत्पन्न करने वाली स्त्री को ग्यारहवें वर्ष में और अप्रिय वचन बोलने वाली स्त्री की तत्काल उपेक्षा करके उसके जीवित रहने पर भी पति दूसरा विवाह कर सकता है। कौटिल्य[1] ने भी कहा है कि पति को प्रथम सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् यदि सन्तान न हो तो आठ वर्ष इन्तजार करके पुनर्विवाह करना चाहिए। नारद[2] ने भी कहा है कि यदि पत्नी अनुकूल मधुरभाषी, दक्ष, साध्वी एवं पुत्र वाली हो और उसका पति यदि त्याग दे तो राजा को ऐसे दुष्ट पति को दण्डित करना चाहिए।

बहुपत्नीत्व प्रथा के अनेक सामाजिक कारण थे—पुत्रों की अत्यधिक महत्ता, बाल विवाह, स्त्रियों की अशिक्षा, स्त्रियों को अपवित्र मानने की प्रथा का क्रमशः विकास, स्त्रियों को शूद्रों के समान मानना, स्त्रियों की पुरुषों पर पूर्ण आश्रितता। समाज में रहने वाले कुछ लोग अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान को एक से अधिक पत्नी रखने पर मानते थे, जिस व्यक्ति की आर्थिक स्थिति जितनी सुदृढ़ और अच्छी होती थी वह अपनी इच्छानुसार जितनी चाहे पत्नियाँ रख सकता था।

बहुभर्तृकता : बहुभर्तृकता विवाह में एक स्त्री एक से अधिक पति के साथ विवाह करती है। स्मृतिकालिक समाज में बहुभर्तृकता का प्रचलन नहीं था, जितना बहुपत्नीत्व का था। अनेक पतियों वाली स्त्री समाज में बहुत अधिक आदर की पात्र नहीं मानी जाती थी। प्रायः स्त्रियों की कमी

---

1. अर्थशास्त्र 3/2
2. नारद (स्त्रीपुंस) 95

के कारण भी एक स्त्री के कई पति हुआ करते थे, अथर्ववेद[1] में कहा गया है कि पञ्चौदन के माध्यम से पत्नी और उसके द्वितीय पति के बीच अविच्छेद्यता की आशा की गई थी। अथर्ववेद[2] में अन्यत्र कहा गया है कि स्त्री के ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य पतियों में ब्राह्मण पति को अत्यन्त माननीय है। महाभारत[3] के अनुसार गौतमी के सात ऋषि पति थे। वार्क्षी से प्रचेता नाम से दस भाइयों ने विवाह किया था। विष्णु पुराण[4] के अनुसार मारिषा के दस पति थे।

धर्मशास्त्रों में ऐसे विवाह का उल्लेख कम किया गया है धर्म, लोकाचार, सच्चरित्रता और नैतिकता का हिन्दू समाज में इतना अधिक प्रभाव रहा है कि इसका कोई स्थान नहीं हो सका। विवाहिता स्त्री के लिए एक पति के अतिरिक्त दूसरे को मन में सोचना घोर पाप और धर्म विरुद्ध समझा जाता रहा है। हिन्दू स्त्री के जीवन का आदर्श और गौरव उसके एक पातित्व में निहित था।

---

1. अथर्ववेद 14/2/1-9/5/27-29
2. अथर्ववेद 5/17/8-9
3. महाभारत 1/198/21-30
4. विष्णुपुराण 1/15/68

## विधवा पुनर्विवाह

विवाह शब्द में पुनर् (अव्यय) लगाने 'पुनर्विवाह' शब्द बनता है पुनर् (पुन् + अर + उत्वम्) शब्द का अर्थ फिर, एक बार फिर या नये सिरे से होता है[1] अर्थात् जब किसी विवाहिता स्त्री का वैधव्य, पति द्वारा परित्याग, पति की नपुंसकता आदि कारणों से अन्य पुरुष के द्वारा पत्नी के रूप में चयन किया जाता है तो उसे पुनर्विवाह कहते हैं।

सङ्क्षेप में विवाह उस कन्या का किया जाता है, जिसका वैदिक मंत्रों से पाणिग्रहण न हुआ हो या अक्षत योनि हो और पुनर्विवाह उस स्त्री का किया जाता है जिसका एक बार विवाह हो चुका हो चाहे वह क्षत योनि हो या अक्षत योनि।

धर्मशास्त्रों में इस तरह का विवाह करने वाली स्त्री को पुनर्भू,[2] पुनरुपोढ़ा पुनर्भार्या[3] और दिधिषू[4] एवं इस प्रकार की स्त्रियों से विवाह करने वाले पुरुष को दिधिषुपति[5] तथा इस दम्पत्ति से उत्पन्न सन्तान को

---

1. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश पृष्ठ 62।
2. विष्णु धर्म सूत्र 15/8-9, अक्षा भूयः संस्कृता पुनर्भूः। भूयस्तु असंस्कृतापि परपूर्वा अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः। (याज्ञवल्क्य 1/67)
   (नारद स्मृति 12/45)
3. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोष 621, 622
4. हलायुध कोश 2/485 'पुनर्भूर्दिधिषुः प्रोक्ता वृषस्यन्ती रतार्थिनीः।'
5. मनुस्मृति 3/173
   भ्रातुर्मतस्य भार्यायां योऽनुरंजयेत् कामतः
   धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषुपतिः।।

दिधिषु पुत्र या पौनर्भव[1] की संज्ञा प्रदान की गयी है। विधवा पुनर्विवाह का लक्ष्य क्या था या इसकी आवश्यकता क्या थी? विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में एक ऐसी स्थिति अवश्य मिलती है, जिसमें 'विवाह' संस्कार का सूत्रपात नहीं हुआ था और उन्मुक्त यौनाचार प्रचलित था।[2] कुछ मानवीय आवश्यकताओं ने इस प्रथा के नियमित होने में सहयोग प्रदान किया। प्रायः धर्मशास्त्रों में रति, धर्म, सन्तानोत्पादन (संतान प्राप्ति) तीन विवाह के लक्ष्य बताये गये है, किन्तु विविध दृष्टि से विचार करने पर विवाह का लक्ष्य इतना सीमित नहीं है—

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। एकाकी जीवन बिताने में स्वयं को असमर्थ पाने पर कदाचित् परिवार में रहने का प्रयास किया होगाा और पति पत्नी के रूप में एक दूसरे का सहयोगी बनकर जीवनयापन का निश्चय कर, विवाह बन्धन में बधे होंगे। रामायण[3] में पति पत्नी को रथ के दो पहिये की तरह बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण एवं ऐतरेय ब्राह्मण[4]

---

1. (i) वसिष्ठ धर्मसूत्र 17/1920
   (ii) बौधायन धर्मसूत्र— 2/2/31 (क्लीवं त्यक्त्वा पतितं वा मान्यं पतिं विन्देत्तस्यां पुनर्भ्वा यो जातः स पौनर्भवः।।
   (iii) कात्यायन स्मृति पृष्ठ 104, श्लोक सङ्ख्या 807
   (iv) संस्कार प्रकाश पृष्ठ 740-41
   (v) कौटिल्य का अर्थशास्त्र 3/63/4 "पुनर्भूतायाः पौनर्भवः इति"
2. महाभारत 1/22/4-7 अथर्ववेद 10/128/2, 8/6/7।
3. वाल्मीकि रामायण 2/39/29
4. (क) शतपथ ब्राह्मण 5/2/1/10 (ख) ऐतरेय ब्राह्मण 33/1

में दोनों को एक दूसरे के बिना अपूर्ण बताया गया है।

विवाह का दूसरा लक्ष्य आर्थिक सहयोग प्राप्त करना हो सकता है, क्योंकि गर्भावस्था और प्रसव काल में एकाकी स्त्री द्वारा जीविकोपार्जन करना कठिन प्रतीत हुआ होगा इसलिए मिलकर सहयोग से अर्थोपार्जन एवं जीवन निर्वाह के लिए विवाह को स्वीकार किया होगा। पत्नी[1] का भरण पोषण करने के कारण पति को भर्ता और पालन एवं रक्षण करने के कारण पति (पातयते इति पतिः) कहा गया है।

प्रायः विवाह का मुख्य लक्ष्य धर्म सम्पादन स्वीकार किया गया है। वेदों में कर्मकाण्ड को बहुत महत्त्व दिया गया है तथा यज्ञ वैदिक जनों की धार्मिक भावना का उत्कृष्ट प्रदर्शन था। ऋग्वेद[2] में गृहस्थ होकर देवों के लिए यज्ञ करना विवाह का मुख्य लक्ष्य बताया गया है। पाणिनि[3] ने पत्नी शब्द का अर्थ ही यज्ञ में सहयोग देने वाली स्त्री किया है। जैमिनी ने[4] यज्ञों के संपादन में पत्नी को अनिवार्य बताया है। इसीलिए अभिज्ञान शाकुन्तलम् एवं कुमारसंभवम्[5] पत्नी के लिए सहधर्मचारी धर्मपत्नी और

---

1. महाभारत का आदिपर्व 104/30 भार्यायाः भरणाद् भर्त्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः।।
2. ऋग्वेद 10/85/36, 5/3/2, 5/28/3, 3/53/4
3. अष्टाध्यायी 4/1/13 "पत्युर्नो यज्ञ संयोगे"
4. जैमिनी 6/1/17
5. अभिज्ञानशाङ्कुतलम् 6/24, कुमारसंभवम् 8/29. 8/5।

सहधर्मचारिणी शब्दों का प्रयोग मिलता है। तैत्तिरीयब्राह्मण[1] एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में अपत्नीक व्यक्ति को प्रायः धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के लिए अयोग्य बताया गया है। ब्रह्मपुराण[2] में पत्नी के बिना यज्ञ को अपूर्ण बताया गया है।

वसिष्ठ धर्मसूत्र[3] मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति और गौतम धर्मसूत्र में गृह्यस्थाश्रम का प्रारम्भ ही विवाह संस्कार के पश्चात् बताया गया है। इसी आश्रम को सभी आश्रमों में श्रेष्ठ और मानव मात्र के लिए आवश्यक बताया गया है। विना गृहस्थ धर्म का पालन किए स्वर्ग की कामना को निरर्थक बताया गया है। महाभारत शल्यपर्व[4] में कुणिगर्ग की कन्याओं को वृद्धावस्था में भी स्वार्जित पुण्य का अर्धभाग देकर एक ऋषि से विवाह करना था। इसी आदर्श के अनुरुप जाबालोपनिषद् में विना गृहस्थ धर्म का पालन किए संन्यास ग्रहण की निन्दा की गयी है। गृहस्थाश्रम में पति पत्नी संयुक्त रूप से पञ्च महायज्ञों का सम्पादन करते थे और ऋणत्रय

---

1. (क) तैत्तिरीय ब्राह्मण 2/2/6 3/3/3/1
   "अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः"
   
   (ख) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/86 जहां यज्ञ कार्य को अक्षुण्य रखने के लिए दूसरे विवाह को उचित बताया गया है।
2. ब्रह्मपुराण अध्याय 161
3. वसिष्ठ धर्मसूत्र 8/16, 7/13, 10/31, मनुस्मृति 3/77-80 बौधायन धर्मसूत्र 2/6/29, 42-43, याज्ञवल्क्य स्मृति 3/56-57 गौतम धर्मसूत्र 3/1/35
4. महाभारत शल्यपर्व 52/12, वैखानस स्मार्तसूत्र 5/9
5. जावालोपनिषद् में कहा गया—"ब्रह्मचर्या समाप्य गृही भवेत् गृहीभूत्वा वनी भवेत् वनीभूत्वा प्रवजेत्।"

से मुक्त होते थे। इन ऋणों का यजुर्वेद[1] में वर्णन मिलता है। तैत्तिरीयसंहिता[2] में ब्राह्मणों के लिए ऋणों की संख्या मात्र तीन बतायी गयी है और ब्रह्मचर्य, यज्ञ तथा पूजा द्वारा उन्हें ऋषि, देव और पितृऋणों से मुक्त होने का उपाय मार्ग भी बताया गया है। शङ्खस्मृति[3] एवं मनुस्मृति में पुत्र उत्पन्न करने से पितृऋण से मुक्ति बतायी गयी है। इस विषय में जैमिनी[4] का यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि इन ऋणों से मुक्त होना अनिवार्य माना जाता था। मनु[5] की ही ऐसी मान्यता थी कि जो व्यक्ति इनसे उऋण हुए बिना संन्यास ग्रहण करता है वह नरकगामी होता है।

विवाह का मुख्य लक्ष्य सन्तानोत्पादन—मानवजाति जिसके समक्ष मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की एक चुनौती सदैव वर्तमान रही, वह मृत्यु को टाल तो नहीं पायी किन्तु मृत्यु के विनाशकारी परिणाम की सृष्टि को बचाये रखने का एक उत्तम मार्ग आवश्य ढूँढ निकाला और वह था विवाह। परस्पर विपरीत लिङ्गियों में विवाह और सन्तानोत्पादन संकल्प ने इस सृष्टि को एक अजस्र प्रवाह प्रदान किया। स्त्री का स्त्रीत्व सन्तानवती

---

1. यजुर्वेद 19/11
2. तैत्तिरीय संहिता 6/3/10/5
3. शङ्ख स्मृति 161, मनुस्मृति 9/106
4. जैमिनी 6/2/31
5. मनुस्मृति 6/35

   ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत्
   
   अनापाकृत्त्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः।

होने पर ही सफल माना जाता था। वाल्मीकि रामायण[1] के एक प्रसंग में राम ने भरत से पूछा है कि "कच्चित्ते सफला दारा" उत्तर मिला— दाराणां सफलत्वं धर्मरतिप्रजाभिः।। ऋग्वेद[2] और अथर्ववेद[3] में विवाह का अभिप्राय सन्तानोत्पादन बताया गया है तथा विवाह सम्पन्न होने पर पुरोहित द्वारा वर वधू को अनेक पुत्र पैदा करने का आशीर्वाद दिया गया है। सन्तानोत्पादन में पुत्र को ही अधिक महत्त्व क्यों दिया गया? इसके अनेकानेक कारण इस तरह से है।

(1) प्रथम तो वैदिक आर्यों की राजनैतिक सामरिक आवश्यकता पूर्ति।

(2) ऋग्वैदिक समाज में अर्थव्यवस्था का आधार कृषि थी।

(3) पितरों हेतु पिण्डदान तर्पण और श्राद्धादिक और्ध्वाहिक क्रिया करने का अधिकार भी पुत्र को प्रदान किया गया था। (पुत्री को प्रायः इस अधिकार से वञ्चित किया गया है)।

(4) कन्या विवाह के पश्चात् पतिगृह चली जाती थी अतः कन्या पितृपक्ष की वंश परम्परा को आगे नहीं बढ़ाती थी।

(5) वाल्मीकि रामायण, गोपथ ब्राह्मण, व्याासस्मृति, बृहस्पति स्मृति,

---

1. वाल्मीकि रामायण 2/100/72
2. ऋग्वेद 10/85/36, 10/85/43
3. अथर्ववेद 14/1/60-62

निरुक्त में 'पुम्' नामक नरक से रक्षा करने के कारण ही पुरुष संतान को पुत्र संज्ञा दी गयी थी।[1]

'पुम्' नामक नरक से रक्षा करने का तात्पर्य क्या हो सकता है? प्रथम तो विभिन्न नरकों में पुम् नामक नरक जैसा कल्पित कोई नरक स्थल हो। दूसरा पुम् का अर्थ होता है कष्ट पीड़ा या प्रताड़ना। तीसरा पुम् का अर्थ हो सकता है—नपुंसकता। पुत्र पैदा करके मनुष्य मनोवैज्ञानिक संतोष प्राप्त करता है। उसे अपने पुरुषत्त्व को प्रमाणित करने का अवसर मिल जाता है और वह सन्तुष्ट हो जाता है किन्तु जो व्यक्ति क्लीव होते हैं और सन्तानोत्पादन नहीं कर पाते वे सतत् चिन्तन एवं ग्लानि का अनुभव करते हैं। इसी कष्ट को शायद पुम् नरक बताया गया है। व्यासस्मृति[2] में कहा गया है—

*पुदिति नरकस्याख्या दुखं न नरकं विदुः*

*पुदिति त्राणात् ततः पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च*

*तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुः इतिः।* (व्यास स्मृति)

भारतीय समाज में पुत्र के महत्त्व वृद्धि का एक कारण पितृसत्तात्मक समाज और कन्या उपेक्षा का कारण विवाह के पश्चात् कन्या का पितृकुल

---

1. वा रा0 2/107/12, गोपथ ब्राह्मण 111/12

   व्यासस्मृति 4/43, वृहस्पति स्मृति 26/81

   निरुक्त 2/11

   पुन्नाम्नो नरर्कात्पुत्रः पितरं त्रायते यतः।

   मुखसंदर्शनेनापि तदुत्पत्तौ यतेतं सः।।

2. व्यास स्मृति 4/43

से पतिकुल जाना भी था। मनु[1] ने पुत्र से पिता को स्वर्ग, पौत्र से उत्तम लोकों में चिरकाल तक वास और प्रपौत्र से सूर्य लोक की प्राप्ति का अधिकारी बताया है। महाभारत एवं तैत्तिरीयसंहिता[2] में पुत्रहीन की निन्दा और पुत्रवान् की प्रशंसा की गयी है। ऋग्वेद[3] में तो कहा गया है कि पुत्रहीन होना बड़े अभाग्य की बात थी, शत्रुओं के लिए अपुत्रवान् होने की कामना की जाती थी। महाभारत[4] में अपुत्रक के जन्म को व्यर्थ माना जाता था। वृहस्पति स्मृति[5] तो पिण्डदान तर्पण और नाम चलाने के लिए जिस किसी भी ढंग से हो सके पुत्र प्राप्ति का निर्देश देती है। महाभारत, वाल्मीकि रामायण, अभिज्ञान शाकुन्तलम् एवं रघुवंशम्[6] में पिण्डदान और तर्पण के लिए पुत्र की कामना की गयी है। जरत्कारु ने अपने पितरों की दुर्दशा देखकर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का परित्यागकर नागराज वासुकि की बहन से विवाह किया था।

---

1. मनुस्मृति 9/137, याज्ञवल्क्य स्मृति 1/78 (ब्रह्मपुराण 104/7/14)—में पुत्रोत्पादन से पिता को दस अश्वमेघयज्ञों के फल का अधिकारी बताया गया है।
2. (क) महाभारत 1/120/16, 29-30, सभापर्व 38-27

   व्रतोपवासैर्वदुभिः कृतं भवति भीष्म यत्।
   सर्व तदनपत्यस्य मोधं भवति निश्चयात्।।

   (ख) तैत्तिरीय सं० 6/3/10-15
3. ऋगवेद 1/21/5, वाल्मीकि रामायण 2/75/36
4. महाभारत 3/200/4
5. वृहस्पति स्मृति 26/81
6. महाभारत — 3/1/16, 3/1/45, 1/46/47,/1/13/24-26, वाल्मीकि रामायण 2/107/13 अभिज्ञानशाकुन्तलम् 6/25, रघुवंशम् 1/67

जहाँ तक स्त्रियों का प्रश्न है कतिपय उदाहरण ऐसे उपलब्ध हैं जहाँ स्त्रियों ने विना विवाह किए आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया, किन्तु बहुधा इनके वैवाहिक जीवन को ही प्रोत्साहित किया गया। मनु[1] ने तो स्त्रियों का प्रधान प्रयोजन सन्तानोत्पादन बताया है। उनके[2] लिए केवल विवाह ही वैदिक मंत्रों के साथ किया जाने वाला संस्कार था। जिसे उपनयन के बराबर माना जाता था और इसी से स्त्री अपने व्यक्तित्व का उत्कर्ष करे। स्मृतिकाल में कन्या को पवित्र और द्विज बनाने के लिए भी विवाह आवश्यक था। इन्हीं दृष्टियों के कारण रजोदर्शन के पश्चात् कन्या का विवाह न करने वाले माता-पिता को ब्रह्मघाती और स्मृतियों[3] (वसिष्ठ स्मृति बौधायनस्मृति, नारदस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, पराशरस्मृति, विष्णुस्मृति, मनुस्मृति स्मृति) में भ्रूण हत्या का पापभागी बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि सन्तानोत्पादन हेतु विवाह आवश्यक था।

<u>रतिप्राप्ति—(विवाह का लक्ष्य)</u> रति या कामसुख प्रत्येक प्राणी की नैसर्गिक आवश्यकता है। प्राचीन आचार्यों ने इसे नकारा नहीं, अपितु चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में इसे स्थान दिया। विवाह का धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक या व्यक्तिगत प्रयोजन कुछ भी हो, किन्तु विभिन्न

---

1. मनुस्मृति 9/28, 2/67 याज्ञवल्क्य स्मृति 1/13
2. महाभारत 13/24/9
3. वसिष्ठ स्मृति 17/71, बौधायन स्मृति 4/1/12, नारदस्मृति 12/25-27 याज्ञवल्क्य स्मृति 1/64, पराशर स्मृति 7/5-7, विष्णु स्मृति 24/41 मनुस्मृति 9/93

प्रयोजनों की सफलता का केन्द्र बिन्दु पति पत्नी का समागम ही है। जब तक इनका परस्पर साम्प्रयोगिक सम्बन्ध नहीं होता, तब तक चाहे धार्मिक वैधानिक दृष्टि से विवाह हुआ हो अथवा सामाजिक या व्यक्तिगत आधार पर वह सफल नहीं हो सकता है। इसलिए वर[1] कन्या के गुणों का मिलान किया जाता है। वृहदारण्यकोपनिषद् में रति सुख को ब्रह्मसाक्षात्कार के समान बताया गया है।[2] वाल्मीकि रामायण में भी स्त्री को "रतिपुत्रफलदारा" कहा गया है। किन्तु प्राचीन भारतीय साहित्य की विशिष्टता यह थी कि कहीं भी रति को प्रधानता देकर विवाह को वासना का पर्याय नहीं बनाया गया, न ही उसे वेश्यावृत्ति का एक पर्याय बनने दिया गया। कौटिल्य[3] ने कहा है कि धर्म और अर्थ से विरोध न रखने वाले काम का सेवन करना चाहिए। मनु[4] ने तो धर्म से विरुद्ध काम को त्यागने की सलाह दी है। कुछ धर्मशास्त्रकारों ने तो विवाह के दो ही लक्ष्य बताये हैं— धर्मपालन और सन्तानोत्पादन। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है कि इनके प्राप्त हो जाने पर दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। याज्ञवल्क्यस्मृति[5] में विवाह का लक्ष्य पुत्रपौत्रादि द्वारा वंश का विस्तार एवं अग्निहोत्रादि यज्ञों द्वारा स्वर्ग प्राप्ति बताया गया है। रति को विज्ञानेश्वर लौकिक लाभ बताते

---

1. वात्स्यायन कामसूत्र 2/1/4 पर, (देवदत्त शास्त्री की हिन्दी टीका पृ0 190)
2. वृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/21
3. कौटिल्य का अर्थशास्त्र 1/7
4. मनुस्मृति 4/176
5. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/78

हैं,[1] किन्तु इन धर्मसूत्रकारों ने रति को कोई महत्त्व न दिया होगा, ऐसा अर्थ नहीं निकालना चाहिए, क्योंकि अवश्य ही इनका यह मन्तव्य रहा होगा कि सन्तानोत्पादन क्रम में दम्पत्ति की रति इच्छा की पूर्ति एक सीमा तक स्वयं हो जायेगी। इसलिए विवाह को वासना प्रधान होने से बचाने के लिए इन्होंने इसका पृथक् वर्णन नहीं किया है। किन्तु इतना निश्चित है कि विवाह नामक संस्कार ने स्त्री पुरुष की स्वाभाविक रति इच्छा की पूर्ति कर उन्हें एक सुसंस्कृत परिवेश प्रदान किया।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के अन्त्येष्टि[2] सूक्त के एक मंत्र को कतिपय विद्वानों ने विधवा पुनर्विवाह से सम्बन्धित माना है। जिसमें कहा गया है कि—हे नारी जो तुम अपने प्राण हीन पति के पास लेटी हो वह तुम उठो और जीवित संसार में जाओ। विवाह के समय तुम्हारा पति का यह लोकान्तर प्राप्त जन्म ही है। डॉ0 अन्टेकर के अनुसार ऋग्वेद के इस मंत्र में मृतक पति के अन्तिम संस्कार के समय विधवा के लिए पुनर्विवाह का प्रस्ताव किया गया है। यह असंगत प्रतीत होता है। वैदिक काल में

---

1. मनुस्मृति 9/25, कल्याण संस्कृति अंक पृ0 14-15 में श्रीमती विद्या देवी ने अपने लेख 'हिन्दू संस्कृति में विवाह का आदर्श' में लिखा है—विवाह का प्रथम उद्देश्य स्त्रीधारा को पुरुष धारा से मिलाकर युक्ति की अधिकारिणी बनाना तथा दोनों का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, इहलौकिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करना और दोनों के मधुर समन्वय में दोनों में मधुर समन्वय से दोनों की पूर्णता सिद्ध करना एवं सांसारिक सुख शान्ति प्राप्त करना है।
2. अन्त्येष्टि सूक्त 10/18/8

विधवा पुनर्विवाह को डा0 अल्टेकर[1] ने नियोग के समानान्तर एक विरल प्रचलन के रूप में ही स्वीकार किया है। ऋग्वैदिक[2] काल में विधवा विवाह की प्रथा विद्यमान थी। वास्तद में पुनर्विवाह अर्थ लेने या नियोग समझने दोनों के पीछे इस मंत्र विशेष में प्रयुक्त शब्द 'दिधिषोः' प्रधान है।

ऐसा प्रतीत होता है कि किसी पूर्वकाल से चली आयी परम्परा के अनुसार मृत पति की चिता के पार्श्व में विधवा को लिटा दिया जाता था, किन्तु इसे जलाया या दफनाया नहीं जाता था। किसी भी निकट सम्बन्धी विशेषकर देवर द्वारा मृतक की शवयात्रा में आए लोगों के समक्ष हस्तग्रहण कर पति की चिता के साथ लेटी विधवा को जलने से बचाकर पुनः वापस जीवलोक में (संसार की तरफ) लाना एवं उससे पुत्र उत्पन्न

---

1. (क) अ0 स0 अल्टेकर पोजीशन पृ0 150, काणे भी इसे विधवा स्त्री का पुनर्विवाह प्रसंग नहीं मानते।

   (ख) धर्मशास्त्रका इतिहास भाग 1 पृ0 346

2. ऋग्वेद (10/18/7-9)

   ऋग्वेद 10/18/7

   इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराजनेन सर्पिषा सं विशन्तु।
   अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे ।।
   उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
   हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि संबभूथ ।। ऋग्वेद 10/18/8
   धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय ।
   अत्रैव त्वामिह वयं सुवीरा विश्वाः स्पृधो अभिमातीर्जयेम् ।। ऋग्वेद 10/18/9

करने का आश्वासन देना विधवा पुनर्विवाह का समर्थन ही है। ऋग्वेद[1] में प्रयुक्त "इमानारीरविधवाः" इस उत्सव में सम्मिलित होने वाली सधवा स्त्रियों की तरफ सङ्केत है। इससे यही अर्थ निकाला जा सकता है कि आज की तरह कदाचित् ऋग्वैदिक समाज में भी माङ्गलिक अवसरों पर विधवा की उपस्थिति अपेक्षित नहीं थी। 'वुमेन इन ऋग्वेद' के अनुसार ऋग्वैदिक[2] समाज में कुछ ऐसी स्त्रियों का भी अस्तित्व था जो विधवा होकर भी न तो पति के साथ जलकर भस्म हुयी थी न ही पुनर्विवाहित। परवर्ती वैदिक[3] साहित्य में नारी को पुरुष की अपेक्षा हीन दिखाए जाने की विचारधारा रुढ हो गयी थी। पति की मृत्यु के पश्चात् शोक को त्यागकर पुनर्विवाह करके भोगमय जीवन व्यतीत करना, कुछ अटपटा सा लगता है, लेकिन यह आर्यों की भौतिक वादी प्रवृत्ति का सूचक हो सकता है। आर्यों को अनार्यों से निरन्तर संघर्ष करना पड़ता था, जिससे जन क्षति होना स्वाभाविक था। जनसंख्या बढ़ाने अर्थात् पुत्रोत्पादन हेतु अवश्य ही विधवा पुनर्विवाह को मान्यता दी। ऋग्वेद[4] में विधवा स्त्री का देवर के साथ यौन सम्बन्ध एक अन्य मंत्र में भी प्राप्त होता है जिसमें कहा गया है—हे अश्विनद्वय। तुम दोनों रात्रि में कहाँ और दिन के समय कहाँ जाते हो। जैसे विधवा स्त्री शयन स्थान में द्वितीय वर अर्थात् देवर को

---

1. ऋ0 10/18/9 "इमानारीरविधवाः सुपत्नीरोजनेना सर्पिषा शं विशुन्तु ।
2. भगवत् शरण उपाध्याय 'वुमेन इन ऋग्वेद' पृ0 100
3. वुमेन इन ऋग्वेद पृ0 99-100 (भागवत् शरण उपाध्याय)
4. ऋग्वेद 10/40/2

बुलाती है, कामिनी अपने पति का समादर करती है वैसे ही यज्ञ में आदर के साथ तुम्हें कौन बुलाता है ? कतिपय विद्वानों[1] (सायणाचार्य, भगवत् शरण उपाध्याय, अथर्ववेद) ने इस अलङ्कारिक वर्णन को विधवा का देवर के साथ पुनर्विवाह परक साक्ष्य माना है।

ऋग्वेद[2] पर यास्क (निरुक्त) ने कहा है कि जो दूसरा वर है वही देवर है "देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते।" इसी वाक्यांश को विधवा विवाह मीमांसा में देवर से विधवा के सम्बन्ध को स्वीकार किया।

तैत्तिरीयसंहिता[3] में भी विधवा विवाह का समर्थन प्राप्त होता है। अथर्ववेद[5] में ऐसे पुनर्विवाह करने वाले दम्पत्ति के कभी न बिछुड़ने की कामना की गयी है। वाल्मीकि रामायण[5] के अरण्यकाण्ड में मायावी मृग का पीछा करते हुए राम की सहायता के लिए लक्ष्मण को प्रेरित करने के बाद सीता क्रोध में लक्ष्मण पर वाक्प्रहार करती है कि लक्ष्मण तुम चाहते हो कि श्रीराम की मृत्यु हो जाय और तुम मुझे पा सको। वाल्मीकि ने सीता के इस कथन से तात्कालिक समाज में प्रचलित विधवा विवाह

---

1. ऋग्वेद 10/40/2 पर सायणाचार्य, भगवतशरण उपाध्याय पृ0 103 वैदिक इण्डेक्स पृ0 540, अथर्ववेद (14/2/18) के सम्बन्ध में गंगा प्रसाद उपाध्याय 'विधवा विवाह मीमांसा पृ0 61-63।'
2. ऋग्वेद 10/40/2 यास्क द्वारा भाष्य निरुक्त में 3/15 पर उद्धृत।
3. तैत्तिरीय संहिता 2/2/4/4।
4. अथर्ववेद 9/5/27-28।
5. वाल्मीकि रामायण 3/45/6, इच्छसित्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते।।

या विधवा स्त्री के प्रति देवर का अनुराग व्यक्त कर दिया है।

वाल्मीकि रामायण[1] में वर्णित राक्षस जातियों में विधवा विवाह विना किसी अपवाद के प्रचलित दिखायी देता है। लोकाधिपति रावण की बहन सूर्पणखा का राम ने प्रणयनिवेदन। स्वयं रावण[3] की रानियों में अनेक ऐसी विधवाएं थी जिसके पतियों को रावण ने युद्ध में अपने हाथों मारा था। बालि की[3] हत्या के पश्चात् सुग्रीव तारा को अपनी पत्नी बना लेता है।

महाभारत[4] में भी विधवा विवाह के कतिपय दृष्टान्त उपलब्ध हैं। भीष्म पर्व में उल्लेख है कि नागराज की कन्या उलूपी के पति की हत्या सुवर्ण ऐरावत ने कर दी। अपनी कन्या को दुःखी देखकर नागराज ने उसका पुनर्विवाह अर्जुन के साथ कर दिया था और उससे बलवान् पुत्र इरावान् उत्पन्न हुआ था।

*अर्जुनस्याथ दायाद इरावान्नाम वीर्यवान्।*
*सुतायां नागराजस्य जातः पार्थेन धीमता।।*
*ऐरावतेन सा दत्ता अनपत्या महात्मना।*
*पत्यौ हते सुपर्णेन न कृपणा दीन चेतना।।*

---

1. वाल्मीकि रामायण 3/17/24-28।
2. वाल्मीकि रामायण 6/111/64 "यास्त्वया विधवा राजन्यकृता नैकाः कुलस्त्रियाः।" और भी 7/24/2, 7/24/8-20
3. वाल्मीकि रामायण 4/31/22, 4/33/43-58।
4. महाभारत (भीष्मपर्व) 6/86/6-7

महाभारत[1] में विचित्रवीर्य की विधवाओं से पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा से भीष्म के समक्ष उन विधवाओं द्वारा विवाह कर राजग्रहण करने हेतु अनुनय, भीष्म द्वारा अस्वीकार करना वर्णित है। महाभारत[2] के एक स्थल पर भी "पौनर्भव" सन्तान द्वारा देवताओं और पितरों के हव्य प्रदान करने का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि रामायण एवं महाभारत कालिक समाज में आर्येतर राक्षस, वानर, नाग जातियों में विधवा विवाह अनिन्द्य रूप से प्रचलित था, लेकिन सभ्य समाज में इसका प्रचलन अपवाद स्वरुप ही रहा होगा।

बौद्ध और जैनग्रन्थों[3] में विधवा-विवाह का स्पष्ट उल्लेख नहीं के बराबर है। कुछ उद्धरणों के माध्यम से जो सीधे विधवा से सम्बन्धित नहीं हैं, यह अनुमान व्यक्त किया जा सकता है कि अपवाद रूप में विधवा-विवाह का प्रचलन रहा होगा। अंगुतरनिकाय[4] जिसमें नमुक माता की कथा दी है, वह अपने मृतप्राय पति को, जिसकी व्यथा थी कि मरने के बाद कहीं उसकी विधवा दूसरे पुरुष के पास न चली जाएं। महावेसंतर

---

1. महाभारत 1/97/9-11।
2. महाभारत 13/55/7 "पुनर्भूरपि सा कन्या सुपत्रा हव्यकव्यदा।।"
3. आई0 वी0 हार्नर की वुमेन अण्डर प्रिमिटिव बुद्धिज्म पृ0 77 और 'बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन' पृ0 126 (कोमल चन्द्र जैन)
4. अंगुत्तरनिकाय 3/295, 3/17

जातक[1] में दानशील वेसंतर द्वारा शिवि राष्ट्रवर्धन हस्ति के दान देने के कारण नगरवासियों ने उसे देश निकाला कर दिया, तो उसने अपनी पत्नी माद्री से कहा मैं गहन कानन में जा रहा हूँ, जहाँ मेरा जीवित रहना संदिग्ध है। इसलिए तू पुत्रों, सास-ससुर के प्रति मैत्री भाव रखना। मेरे बाद जो भी तेरा स्वामी बनें उसकी भी अच्छी तरह सेवा करना। मेरे जाने पर यदि कोई तेरा 'स्वामी' न बने तो दूसरा खोज लेना। मेरे विना कष्ट मत पाना। यद्यपि इस कथा में न तो माद्री विधवा हुई, न ही उसने पुनर्विवाह किया, किन्तु इससे जातक कालिक समाज में विधवा विवाह का समर्थन प्राप्त होता है।

जैन आगम[2] साहित्य में भारतीय समाज की पिण्डनिर्युक्ति टीका (167) में विधवा स्त्री के उसके देवर के साथ विवाह का वर्णन है। बौद्ध एवं जैन सम्प्रदाय में वैदिक कर्मकाण्डों के विरोध के कारण पुत्र की धार्मिक मान्यता में कमी एवं विधवाओं के भिक्षुणी संघ में प्रवेश की

---

1. (क) जातक संख्या 547 महावेसंतरजातक, (अहं हि वनं गच्छामि घोरं वालमिगायुतं। संसयो जीवितंमय्यहं एक कस्स ब्रहावन (71)

   (ख) महावेसंतरजातक श्लोक संख्या 69-70।।

   पुत्तेसु माद्दीप्यासि सस्सुया सुसुरम्हि च।
   यो च तं भत्ता भज्जेयय स कच्चं तं उपट्ठहे।। (श्लोक संख्या 69)
   नो चे तं भत्ता मंजेय्य भया विप्पवसेन ते।
   अज्जं भत्तारं परियेस या किसित्य मया विना।। (श्लोक संख्या 70)।

2. डा0 जगदीश चन्द्रजैन (जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज) पृ0 सं0 277 पर उद्धृत।

अनुमति के कारण व्यवहार में विधवा विवाह का प्रचलन कम हो गया रहा होगा, किन्तु यह निषिद्ध नहीं था।

कौटिल्य[1] के अनुसार यदि किसी स्त्री का पति संन्यासी हो गया हो या मर गया हो, तो सात मासिक धर्म तक प्रतीक्षा कर, यदि सन्तान हो तो एक वर्ष तक प्रतीक्षा कर, पति के सगे भाई या अन्य सगोत्र के (में भाई लगे) साथ विवाह कर ले। स्त्रीधन के सम्बन्ध में कौटिल्य[2] का मत है कि श्वसुर की इच्छा के विपरीत विवाह करने वाली स्त्री श्वसुर और मृतपति द्वारा प्रदत्त स्त्रीधन नहीं पा सकती, यह कथन पुनर्विवाह की प्रथा के प्रचलन का समर्थन करता है।

स्मृतिकाल[2] तक धीरे-धीरे स्त्रियों की दशा इतनी गिर गयी कि उन्हें शूद्रों की कोटि में रख दिया गया। इससे विधवाओं का और भी उपेक्षित होना स्वाभाविक था। यही कारण था कि मनु जैसे प्रमुख स्मृतिकार विधवा पुनर्विवाह के विषय पर मौन रह गए। वे विधवा द्वारा ब्रह्मचर्य परक जीवन बिताने पर बल देते हैं। मनु का मत है कि पौनर्भव सन्तान विधवा या उसके मृतक पति का कोई उपकार नहीं करती, इससे विधवा का केवल

---

1. अर्थशास्त्र 3/4/2 दीर्घ प्रवासिनः प्रव्रजितस्य प्रेतस्य वा भार्या सप्त तीर्थान्याकांक्षेत् संवत्सरं प्रजाता। ततः पति सोदर्यं गच्छेत्।।
2. अर्थशास्त्र (कौटिल्य) 3/2/29-31 श्वसुर प्रतिलोम्येन वा निविष्टा श्वसुर पति दत्तं जीयेत् ज्ञातिहस्तादभिमृष्टाया ज्ञातयो यथागृहीतं दद्युः। न्यायोपगतायाः प्रतिपत्ता स्त्रीधनं गोपायेत्।
3. वैदिक साहित्य में नारी पृ0 18 पर उद्धृत (प्रशान्त कुमार वेदालंकार द्वारा रचित)

पातिव्रत धर्म नष्ट होता है। मनु[1] के अनुसार जो स्त्री पति द्वारा परित्यक्ता या विधवा होने पर स्वेच्छा पूर्वक अन्य की गृहिणी बन कर पुत्र उत्पन्न करें तो वह उस जन्मदाता का पौनर्भव पुत्र होता है। अक्षतयोनि विधवा अन्य पुरुष के समीप जाकर उससे विवाह कर ले या पति द्वारा परित्यक्ता होने पर उसी के पास लौट आये तो पति उससे पुनर्विवाह कर ले। इस प्रकार की स्त्री को पुनर्भू कहा है। मनु ने इस पंक्तियों में अपने समय के छिटपुट प्रचलन की तरफ सङ्केत किया है और उन्होंने स्वेच्छया शब्द के प्रयोग से स्थिति स्पष्ट कर दी है। मनु को विधवा-विवाह धर्म सम्मत नहीं था। मनु[2] ने जो में पुनर्विवाह की बात कही है वह विधवा के लिए ही नहीं स्वैरिणी स्त्री के लिए भी कही है। इन श्लोकों से मात्र इतना ही अर्थ निकलता है कि मनु कालिक समाज में पौनर्भव और विधवा पुनर्विवाह दोनों का अस्तित्त्व था।

याज्ञवल्क्य[3] ने क्षता और अक्षता पुनर्भू का वर्णन करते हैं, वे न

---

1. मनुस्मृति 3/175-76 (प्रशान्त कुमार वेदांलकार द्वारा टीका)

   या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वेच्छया।
   उत्पादेयत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते।।
   सा चेदक्षत योनि स्याद् गत प्रत्यागतापि वा।
   पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति।।

2. मनुस्मृति 9/176
3. (क) याज्ञवल्क्यस्मृति 1/67

   अक्षता चक्षता चैवपुनर्भू संस्कृता पुनः।
   स्वैरिणी या पतिं हित्त्वा सवर्ण कामतः भवेत्।।

तो मनु की तरह विधवा पुनर्विवाह का विरोध करते हैं। और न उसके समर्थन में ही कुछ कहते हैं। याज्ञवल्क्य[1] ने संस्कृता पुनः कहकर अपना तटस्थ भाव प्रदर्शित किया है। ऋण लौटने के प्रसंग में इतना अवश्य कहते हैं कि विवाह करने वाला पुरुष मृत पति द्वारा लिए गये ऋण को लौटा दे। वसिष्ठस्मृति[2] का मत है कि यदि मात्र पाणिग्रहण संस्कार ही हुआ हो, किन्तु वह अक्षत योनि हो तो उस बालविधवा का पुनर्विवाह किया जा सकता है। इसी का समर्थन बौधायन धर्मसूत्र[3] में भी किया गया है। विज्ञानेश्वर ने विवाह होने पर पुरुष संसर्ग न पाने वाली को अक्षता और संसर्ग प्राप्ता को क्षता कहा है। लघुशातातपस्मृति[4] में तो इस तरह विधवा को (अक्षतयोनि) कन्या ही माना गया है, और उसका पुनर्विवाह प्रशस्त माना गया है। नारदस्मृति[5] में तीन प्रकार की (क्षता अक्षता पुनर्भ) पुनर्भू स्त्रियों की गणना की गयी है। जिससे विधवा पुनर्विवाह का समर्थन मिलता है। नारद और याज्ञवल्क्य में अन्तर यह कि जहाँ याज्ञवल्क्य अक्षता

---

1. (ख) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/51 रिक्थग्राह ऋणं दाप्यो योषिद्ग्राहस्तथैव च।।
2. वसिष्ठ स्मृति 17/66 पाणिग्राहेमृते बाला केवलं मंत्र संस्कृता।

   सा चेदक्षतायोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हति।।
3. बौधायन धर्मसूत्र 4/1/17

   बलाचेत्प्रहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता

   अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा।।
4. लघुशातातपस्मृति 5/44

   उद्वाहिता च या कन्या न संप्राप्ता च मैथुनम्।

   भर्तारं पुनरभ्येति यथा कन्या तथैव च।।
5. नारद स्मृति 12/46-48

और क्षता दोनों के पुनर्संस्कार की अनुमति देते है वही नारद ने मात्र अक्षत योनि विधवा के विवाह की अनुमति देते हैं। नारदस्मृति[1] पाराशरस्मृति एवं अग्निपुराण में एक ही श्लोक आया है कि—

*नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।*

*पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्योविधीयते।।*

अर्थात् कहा गया है कि पञ्च अवस्थाओं में पत्नी दूसरे पति का वरण कर सकती है। पति के नष्ट होने पर एवं मर जाने, संन्यासी होने, नपुंसक होने और जातिच्युत होने पर दूसरा पति विधि सम्मत है।

इसी श्लोक के प्रसंग में पराशरमाधवीय[2] में उल्लेख है कि ये शर्तें किसी अन्य युग से सम्बन्धित हैं, इसका कलियुग में कोई उपयोग नहीं। मनु[3] यह मानते हैं कि मानव शक्ति क्षीणता के आधार पर प्रत्येक युग में अलग-अलग धर्म विहित हैं। इसलिए कलियुग में इसके पूर्व के युगों के धर्म प्रमाण नहीं बन सकते। लेकिन प्रत्येक युग का अलग-अलग धर्म कैसा होगा? इसका मनु याज्ञवल्क्य अत्रि आदि स्मृतिकारों में से किसी ने उल्लेख नहीं किया।

---

1. नारद ने 12/97, पराशरस्मृति 4/39, अग्निपुराण 154/5-6 में पत्यौ के स्थान 'तथा' शब्द का प्रयोग किया है।
2. पराशरमाधवीयस्मृति 1/22
3. मनुस्मृति 1/85

पराशरस्मृति[1] में इसे कुछ सीमा तक बाँटने का प्रयास किया गया है जिसमें कहा गया है कि मनु गौतम, शङ्खलिखित तथा पराशर द्वारा बताये गये धर्म क्रमशः सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग में नियामक होगें। ईश्वरचन्द्र विद्या सागर[2] ने इसी श्लोक को आधार मानकर पराशर स्मृति (4/30) को विधवा-विवाह का प्रमाण मानकर इस प्रथा का सबल समर्थन किया।

काव्यमीमांसा[3क] नाट्यदर्पण[3ख] में उद्धृत देवीन्द्रगुप्तम् के वाक्यांश से ज्ञात होता है कि ध्रुवदेवी अथवा ध्रुवस्वामिनी गुप्त राजा रामगुप्त की पत्नी थी। किसी शकपति द्वारा आक्रमण किये जाने पर रामगुप्त के छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी का वेश धारण कर शकराजा की हत्या की और

---

1. पराशर स्मृति 1/24
   कृते तु मानवा धर्मस्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः।
   द्वापरे शङ्खलिखितः कलौ पराशरः स्मृताः।।
2. ईश्वर चन्द्र विद्यासागर द्वारा लिखित पुस्तक (मैरिज आफ हिन्दू विडोज पृ0 1-89
3. (क) काव्यमीमांसा अङ्क 9 पृ0 148-49 (हरिदास संस्कृत सीरीज संख्या 14)
   दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनी।
   यस्मात् खंडित साहसो निववृत्ते श्री शर्मगुप्तो नृपः।।
   (ख) नाट्यदर्पण में उद्धृत देवीचन्द्र गुप्तम् का वाक्यांश, रामचन्द्र गुणचन्द्र (नाट्यदर्पण पृ0 76)
   रम्यां चारतिकारिणीं च करुणां शोकेन नीता दशां।
   तत्कालोपगतेव राहुशिरसा गुप्तेव चांद्री कला।
   पत्युः क्लीवजनोचितेन चरितानेन पुंसः सतः।
   लज्जा को विषाद भीत्य रतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यति।
   (उदय नारायण राम द्वारा गुप्त राजवंश तथा उनका युग पृ0 176 पर उद्धृत।)

पागल होने का स्वांग रचकर बड़े भाई को मारकर उसकी विधवा के साथ विवाह कर लिया।

इस प्रकार प्राचीन भारत में विधवा स्त्री पुनर्विवाह की समीक्षा से यही निष्कर्ष निकलता है कि विधवा स्त्री का देवर या अन्य किसी व्यक्ति से किए गए विवाहों में वैदिक मंत्रों एवं पूर्ण विवाहोचित कर्मकाण्डों का पालन नहीं किया जाता था। विधवा पुनर्विवाह वास्तविक अर्थों में स्त्री और पुरुष के बीच एक समझौता है, जिसमें एक दूसरे के बीच प्रेम, वंशवर्धन, उत्तरादायित्व और कर्तव्यबोध की भावना होती है। वैदिक मंत्रों को प्रधानता देने पर पुनर्विवाहिता पत्नी की स्थिति एक रखैल स्त्री से अधिक कुछ नहीं थी।

विधवा विवाह का विरोध : प्राचीन भारत में जहाँ विधवा के पुनर्विवाह करने की बात कही गयी थी, वहीं इसका विरोध भी किया गया था। ऋग्वेद में ऐसा कोई मंत्र नहीं प्राप्त होता जो विधवा विवाह का निषेध करता हो या इस तरह के विवाह को अप्रशस्त बताता हो। उत्तर वैदिक कालीन साहित्य अर्थववेद, संहितादि ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में यही क्रम बना रहता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के समय से विधवा-विवाह के प्रतिकूल उक्तियों का उपलब्ध होना प्रारम्भ हो जाता है। एकाएक पुनर्विवाह का निषेध कर दिया गया हो ऐसा नहीं है। धर्मसूत्रकारों ने तो पुर्नभुक्ता स्त्री के सम्भोग पर प्रतिबन्ध लगाना प्रारम्भ किया, जिसमें मनु ने काफी प्रगति दिखायी और विवाह संस्कार के आधार पर ही विधवा का निर्णय कर

कन्या को पुनः विवाह के अधिकार से वञ्चित कर दिया। अन्य स्मृतिकार क्षत और अक्षत योनि विधवा का विचार लेकर मन्तव्य प्रकट करते रहे, किन्तु गुप्तकाल और गुप्तोत्तरकाल से सम्बन्धित स्मृतिकारों ने बाल विधवाओं तक को पुनः विवाह के अधिकार से वञ्चित कर दिया।

महाभारत[1] में अक्षतयोनि कन्या का पुनर्विवाह निन्दित बताया गया है। दो बार कन्या दान करने वाले पिता को पाप रूप में भविष्य में कीट योनि प्राप्ति की दुराशा व्यक्त की गयी है। उच्चवर्ग में विधवा विवाह निन्दित था और विधवा स्त्री का ग्रहण पाप माना जाने लगा था क्योंकि जयद्रथ वध के प्रसंग में अर्जुन उसके वध से विमुख होने पर स्वयं को विधवा स्त्री के ग्रहण के पाप का अधिकारी बताते हैं।[2] दुर्योधन एक बार कहता है कि इस क्षत्रिय विहीन पृथ्वी के भोग का मुझे विधवा स्त्री के भोग की तरह कोई उत्साह नहीं है।[3] पुनर्विवाह की अपेक्षा नियोग को महत्त्व दिया जाने लगा।

मनु[4] ने वागृदत्ता विधवा को नियोग की अनुमति और विधवा

---

1. महाभारत 13/12/73

   पूर्वं दत्त्वा तु यः कन्यां द्वितीये संप्रयच्छति।
   सोऽपि राजन्मृतो जन्तुः कृमियोनौ प्रजायते।।

2. महाभारत 7/51/27 "भुक्तपूर्वां स्त्रियं ये च निन्दतामघशंसिनाम्"।

3. महाभारत 9/30/42

   क्षीणरत्नां च पृथिवीं हतक्षत्रियपुंगवाम्।
   नाभ्युत्सहाम्यहं भोक्तुं विधवामिवयोषितम्।

4. मनुस्मृति 5/162

पुनर्विवाह की तीव्र भर्त्सना की और कहा है कि सदाचारी स्त्रियों के लिए दूसरे पति की कोई व्यवस्था नहीं है। विधवा स्त्री को अपना समस्त जीवन पति की स्मृति को निधि मानकर ब्रह्मचर्य पूर्वक बिताना चाहिए। इसी से स्वर्ग प्राप्ति सम्भव है। मनु[1] ने कहा है कि विधवा स्त्री कन्दमूल फल भक्षण करके अपना जीवन निर्वाह करें और पर पुरुष का नाम तक नहीं लेना चाहिए।

*पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्यवा*

*पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम्।।*

*कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।*

*न तु नामापि गृहणीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु।।* मनु 5/156-7)

पराशरस्मृति में आपदकाल में दूसरे पति की व्यवस्था की है, किन्तु इसे मेधातिथि[3] पुनर्विवाह नहीं मानते। वे पति का अर्थ *"पालनात् पतिमन्याश्रयेत् सैरन्ध्रकर्मादिना आत्मवृत्यर्थं च"* मात्र पालन पोषण कर्ता ही मानते हैं और कहते हैं कि जीविका निर्वाह के लिए दूसरे पति का आश्रय नहीं लेना चाहिए। उसे स्वयं परिश्रम करके भरण पोषण करना चाहिए।

---

1. मनुस्मृति 5/160

   मृते भर्तरिं साध्वी स्त्रीब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।

   स्वंर्गं गच्छत्यपुत्राणि यथा ते ब्रह्मचारिणः।।

2. मनुस्मृति 5/156-57

3. मनुस्मृति 5/157 पर मेधातिथि की टीका।

नारायण[1] पण्डित ने भी इसी विचार का समर्थन किया है। कुल्लूक[2] भट्ट ने यहाँ तक कहा है कि यदि विधवा के पास पति की छोड़ी हुई पर्याप्त सम्पत्ति हो तो भी उससे भोग विलास न करके आधा पेट खाकर ही जीवन व्यतीत करना चाहिए। विज्ञानेश्वर[3] ने विधवा पुनर्विवाह के प्रसङ्ग में पति मर जाने या जीवित रहने दोनों ही स्थितियों में अन्य पुरुष का आश्रय ग्रहण करने वाली स्त्री को 'चापल्याद्' विशेषण का प्रयोग किया है और विष्णु धर्मसूत्र[4] से ज्ञात होता है कि वे क्षतयोनि विधवा विवाह की अनुमति नहीं देते। नारदस्मृति[5] में ही कन्या का एक बार विवाह बताया गया है। नारायण[6] ने कलियुग में पाप की वृद्धि के कारण विधवा स्त्री का विवाह और समुद्र में नौका यात्रा आदि को निषिद्ध बताया है। अङ्गिरा[7] ने विधवा पुनर्विवाह को बहुत बड़ा पाप बताते हुए अनेक प्रायश्चित्तों का

---

1. मनुस्मृति 5/57 पर नारायण पण्डित की टीका।
2. मनुस्मृति 5/157 पर कुल्लूकभट्ट की टीका।
3. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/75 पर विज्ञानेश्वर की टीका
4. विष्णु धर्मसूत्र 15/8-9
4. नारदस्मृति 12/28
5. नारायण स्मृति 7/1-2

    "कलौ तु कानि कर्माणि वर्ज्यानि परिचक्ष्व मे।
    दुर्वासा उवाच-शृणु नारायण ब्रह्मन् सावधानतयाद्य मे।
    कलौ तु पाप बाहुल्यात् वर्जनीयानि मानवैः।।
    विधवापुरुद्वाहो नौयात्रा तु समुद्रतः।

6. अङ्गिरा स्मृति—श्लोक 19 से 218 तक, श्लोक 110 और 114।

उल्लेख किया है यदि कोई व्यक्ति पुनर्भू स्त्री के घर भोजन करता है। तो उसे चान्द्रायण व्रत का प्रायश्चित्त करना चाहिए। कश्यप[1] ने पुनर्भू स्त्रियों की सात कोटियों की गणना की है और उन्हें अग्नि की तरह कुल नाशिनी बताकर पुनर्विवाह की निन्दा की है।

लघुआश्वलायन[2] का कथन है कि विधवा विवाह पहले के युगों में प्रचलित था किन्तु यह इस समय के लिए निन्द्य है। इसके अनुसार यदि कोई द्विज अज्ञानता में विधवा स्त्री से विवाह कर ले और बाद में उसके वैधव्य का ज्ञान हो जाय तो उस स्त्री का परित्याग कर एक वर्ष तक अवकीर्ण व्रत रहे। इस बीच यदि उस विधवा से कोई सन्तान उत्पन्न हो जाती है तो वह 'गोलक संज्ञक' निन्धित होती है।[3] पराशरस्मृति (4/30) पर माधवाचार्य ने टीका करके विधवा पुनर्विवाह को कलिवर्ज्य बताया है।

राजतरङ्गिणी[4] में कलियुग का प्रारम्भ कौरव पाण्डवों के युद्ध से 653 ई0 पू0 माना गया है। कलियुग में क्या धर्म होगा ? यह बताना कठिन है। इस स्थिति में व्यास के पिता पराशर[5] ने कलियुग के धर्मों को बताने का प्रयत्न किया, जिसमें विधवा-विवाह को कलिधर्म बताया कलियुग में

---

1. काश्यप संहिता श्लोक 5-18।
2. "युगान्तरे स धर्मः स्यात्कलौ निन्द्य इति स्मृतः" लघु आश्वलायनस्मृति (21/14)।
3. लघु आश्वालयनस्मृति—लोक निन्द्य प्रकरण श्लोक सं0 11 से 12 तक।
4. राजतरंगिणी 1/51 "शतेषु षट्सु सार्द्धेषु त्रयाधिकेषु च भूतले।।
5. पराशरस्मृति 1/1-24 उढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा। कलौपञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम। (वैद्यनाथ दीक्षित द्वारा स्मृति मु0 भाग-1 पृ0 139 पर उद्धृत।

जिन पाँच-विषयों विवाहिता का पुनर्विवाह ज्येष्ठांश, गोवध, भातृवधू से सन्तानोत्पत्ति और संन्यास को निषिद्ध बताया गया है, इस निषेध से ऐसा प्रतीत होता है कि ये अन्य पूर्ववर्ती युगों में व्यवहृत होते थे। बृहन्नारदीयपुराण[1] में ''दत्तायाश्चैव कन्यायाः पुनर्दानं वास्य च' का अर्थ विधवा पुनर्विवाह लेते है जो उचित नहीं प्रतीत होता है और आदित्यपुराण[2] के ''देवरेण सुतोत्त्पत्ति'' का तात्पर्य नियोग से समझना चाहिए न कि विधवा पुनर्विवाह में देवर द्वारा पुत्र उत्पत्ति।

उत्तरवर्ती काल में धीरे-धीरे विधवा विवाह का विरोध बढ़ता चला गया और देवण भट्ट (1150 ई0) की स्मृतिचन्द्रिका में बालविधवा विवाह भी निषेध हो गया। प्रथमतः 12वीं सदी तक भारत की जनसंख्या इतनी पर्याप्त हो गयी थी कि ऋग्वैदिक[3] स्मृतिकाल के 10 पुत्रों के उत्पन्न करने का आदर्श अब महत्त्वहीन हो गया था। यह भी सम्भव है कि जनसंख्या में स्त्री का अनुपात पुरुष की अपेक्षा अधिक बढ़ गया हो तभी क्षतयोनि और अक्षतयोनि भेदों पर अधिक बल दिया गया, क्योंकि स्त्रियों की

---

1. वृहन्नारदीय पुराण—शब्दकल्पद्रुम पृ0 395

देवरेण सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के पशोर्वधः।
मांसौदनं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा।
दत्तायाश्चैव कन्यायाः पुनर्दानं वरस्य च।
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्योनाहुर्मनीषिणः।।

2. आदित्यपुराण 21/14 दीर्घकालं ब्रह्मचर्य धारणं च कमण्डलोः।
देवरेण सुतोत्पत्तिर्दत्ता कन्या प्रदीयते।।

इसी का निषेध ब्रह्मपुराण में भी है।

3. पी0 वी0 कॉणे ''धर्मशास्त्र का इतिहास'' भाग 1 पृ0 344

जनसंख्या कम होती तो सम्भवतः इस तरह के प्रतिबन्ध (क्षत अक्षतयोनि) प्रतिष्ठित न हो पाते। दूसरे पितृसत्तात्मक समाज का पुरुषवर्ग स्त्री पर इतना प्रभावी हो गया ता कि उसकी इच्छा हीस्त्री के लिए कानून हो गयी थी। स्त्री जाति भी अधीनता में रहने की इतनी अभ्यस्त हो गयी थी कि विधुर द्वारा पुनर्विवाह कर लेने पर भी उसने विरोध नहीं किया। पातिव्रता स्त्री का आदर्श बनाये रखने के लिए विधवा स्त्री ने अनेक प्रकार के कष्ट सहे। कुछ भी हो इन तथाकथित आदर्शों ने एक ऐसी पृष्ठभूमि अवश्य बना दी, जिससे विधवा स्त्री पति के घर की दासी की तरह जीवन बिताने के लिए बाध्य हो गई और वह अपने पति की चिता पर जलने के लिए अग्रसर होती गई।

# विधवा धर्म

आदिकाल से ही मानव इस भौतिक लोक से परे अन्य लोकों एवं अदृश्य शक्तियों में विश्वास करता चला आया है। अपनी शुभ कामनाओं एवं आपूर्ति के इष्ट के लिए वह इसकी आराधना करता रहा है। सात्विक संयमी जीवन व्यतीत करना, व्रत उपवास करना, दया-दान दाक्षिण्य रत होना, इष्टापूर्ति का प्रयास करना, यज्ञ, श्राद्ध, तर्पण, पिण्डदानादि करना धार्मिक जीवन के अङ्ग बन गये थे। भारतीय समाज में पति के जीवित रहते स्त्री को प्रायः उसके साथ प्रत्येक धार्मिक कर्मकाण्ड में भाग लेने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। पति की मृत्यु के बाद उसकी क्या स्थिति रही? विधवा का धार्मिक अधिकार इसलिए भी विवेचनीय है कि प्राचीन काल में धर्म का समाज में महत्वपूर्ण स्थान एवं प्रभाव था। कभी-कभी तो धनी एवं समर्थ व्यक्ति को भी जाति एवं लिङ्ग चरित्र के आधार पर इन अधिकारों से वञ्चित किया गया था।

ऋग्वेद[1] में 'विधवा' शब्द कई बार आया है और यह उल्लेख है कि मरुतों की अतिशीघ्र गतियों से पृथिवी पतिहीन स्त्री की भाँति काँपती है। इससे स्पष्ट होता है कि विधवाएं या तो दुःख के मारे या बलात्कार के डर से काँपती थी। आपस्तम्बगृह्यसूत्र[2] के अनुसार विधवा स्त्री को उसका

1. ऋग्वेद 4/18/12, 10/18/7, 10/40/2, 1/87/3
   प्रैषामज्मेषु विथुरेव रेजते भूमिर्यामेषु यद्ध युज्यते शुभे।
2. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र 4/2/18

देवर मृत का शिष्य अथवा कोई विश्वस्त वृद्ध दास श्मशान से घर लाता था। बौधायन और वसिष्ठ[1] के अनुसार विधवा को साल भर तक मधु, मांस, मदिरा तथा नमक छोड़ देना चाहिए तथा भूमि शयन और इसके पश्चात् यदि वह पुत्रहीन हो तो आचार्य के आदेश से वह अपने देवर से एक पुत्र उत्पन्न कर सकती है।

मनु[2] के मतानुसार पति के मर जाने पर स्त्री, यदि वह चाहे तो केवल कन्दमूल फलों को खाकर अपना शरीर गला दें, किन्तु अन्य पर पुरुष का नाम तक स्मरण न करें। मृत्युपर्यन्त संयम रखना चाहिए, व्रत रखे, सतीत्व की रक्षा करे, और पातिव्रत के सदाचरण एवं गुणों की प्राप्ति की आकांक्षा करें। पति की मृत्यु के पश्चात् यदि साध्वी नारी अविवाहित अपने सतीत्व की रक्षा करती हुई, पुत्रहीन रहने पर स्वर्गारोहण करती है, सन्तान के लोभ से जो स्त्री इन नियमों का उल्लङ्घन करती है वह इस लोक में निन्दा की पात्र और पुत्र द्वारा स्वर्ग को भ्रष्ट करती है।

कात्यायन[3] के अनुसार पुत्रहीन विधवा यदि अपने पति के बिस्तर या

---

1. बौधायन धर्मसूत्र 2/2/66-68, वसिष्ठ धर्मसूत्र 17/55-56
2. मनु 5/157—161
3. कात्यायन (वीरमित्रोदय पृष्ठ 626-627 में उद्धृत) प्रथम श्लोक दायभाग स्मृति चन्द्रिका एवं अन्य ग्रन्थों में उद्धृत है।

    अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती गुरौ स्थिता ।
    भुञ्जीतामरणत्क्षान्ता दायादा उर्ध्वमाप्नुयुः ।।
    व्रतोपवासनिरता ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।
    दमदानरता नित्यमपुत्रापि दिवं व्रजेत् ।।

सेज को विना अपवित्र किए गुरुजनों के साथ रहती हुई अपने को संयमित रखती है, तो उसे मृत्युपर्यन्त पति की सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। इन्द्रियों को संयमित करती हुई दानों, व्रतों, उपवासों से स्वर्ग को प्राप्त होती है।

बृहस्पति[1] का कथन है कि "पत्नी पति की अर्धाङ्गिनी घोषित हो चुकी है वह पति के पापों एवं पुण्यों की भागी होती है, एक सद्गुणी पत्नी, चाहे वह पति की चिता पर भस्म हो जाती है या जीवित रह जाती है। अपने पति के आध्यात्मिक लाभ को अवश्य प्राप्त करती है।

वृद्धहारीत[2] ने विधवा की आमरण दिनचर्या दी है—विधवा को बाल नहीं संवारना चाहिए, पान, गन्ध, पुष्प, आभूषण एवं रङ्गीन परिधान का त्याग कर देना चाहिए, पीतल काँसे के बर्तन में भोजन नहीं करना चाहिए, एक बार भोजन (दिन में) एवं अञ्जन आदि का त्याग कर देना चाहिए, श्वेत्र वस्त्र धारण करना, इन्द्रियों को क्रोध से दबाना चाहिए, धोखा धड़ी

---

1. बृहस्पति (अपरार्क पृष्ठ 111 में उद्धृत)

    शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा।
    अन्वारूढा जीवती च साध्वी भर्तुहिताय सा।।

2. वृद्ध हारीत 11/205-210 (स्मृतिचन्द्रिका-1 पृष्ठ 222 और शुद्धितत्त्व पृ0 325 पर उद्धृत)

    ताम्बूलाभ्यञ्जनं चैव काँस्यपात्रे च भोजनम्।
    यतिश्च ब्रह्मचारी च विधवा च विवर्जयेत्।।

   स्मृतिमुक्ताफल वर्णाश्रम पृ0 161 में उद्धृत—

    ताम्बूलोऽभर्तृकस्त्रीणां यतीनां ब्रह्मचारिणाम्।
    एकैकं मांसतुल्यं स्यान्मिलितं तु सुरासमम्।।

से बचना चाहिए। रात्रि में पृथ्वी पर कुश की चटाई पर शयन करना चाहिए, मनोयोग एवं सत्संगति में लगा रहना चाहिए। बाण ने हर्षचरित[1] (उच्छवास 6 अन्तिम वाक्यांश) में लिखा है कि विधवाएं अपनी आँखों में अञ्जन नहीं लगाती थी न मुख पर पीला लेप ही करती थी, वे अपने बालों को यों ही बाँध लेती थीं।

महाभारत आदिपर्व[2] में कहा गया है कि जिस प्रकार पृथिवी पर पड़े मांस के टुकड़े पर पक्षीगण टूट पड़ते हैं उसी प्रकार पतिहीन स्त्री पर पुरुष टूट पड़ते हैं। शान्तिपर्व[3] में आया है कि "बहुत पुत्रों के रहते हुए भी सभी विधवाएं दुःख में है। निर्णयसिन्धु एवं धर्मसिन्धु में कहा गया है कि अमंगलों में विधवा सबसे अमंगल है। विधवा दर्शन से सिद्धि नहीं प्राप्त होती। विधवा माता को छोड़कर सभी विधवाएं अमंगलसूचक हैं, विधवा की आशीर्वादोक्ति को विज्ञ जन ग्रहण नहीं करते, मानो वह सर्पविष हो। स्कन्दपुराण[4] के काशीखण्ड में आया है कि विधवा के कबरीबन्ध (सिर के केशों को सँवार कर बाँधने) से पति बन्धन में पड़ता

---

1. हर्षचरित 6 उच्छवास
2. महाभारत आदिपर्व— 160/12

   उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः।

   प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियम्।।
3. महाभारत शान्तिपर्व— 148/2 "सर्वापि विधवा नारी बहुपुत्रापि शोचते"
4. स्कन्दपुराण के काशीखण्ड अध्याय 4

हैं अतः विधवा को अपना सिर मुण्डित रखना चाहिए। जो स्त्री पर्यंक पर शयन करती है वह अपने पति को नरक में डालती है।

मनु और याज्ञवल्क्य विधवाधर्म की चर्चा में विधवा के मुण्डन की चर्चा नहीं करते। किसी अन्य स्मृति में भी इसकी चर्चा नहीं हुई है। कुछ धर्मशास्त्रकारों ने विधवा को केश शृङ्गार से दूर रहने की बात कही है जैसे वृद्धहारीत (9/206)। अतः स्पष्ट है कि विधवाएं केश रखती थीं। कम से कम क्षत्रियों की विधवाएं कभी भी मुण्डित सिर नहीं होती थीं जैसा कि महाभारत की विधवाओं के चित्रण से व्यक्त होता है। स्त्रीपर्व[1] में 'प्रकीर्णकेशा' शब्द आया।

भारतीय संस्कृति में मृत्यु के बाद जीव की आत्मा के सूक्ष्मकण के रूप में वर्तमान रहने की धारणा थी। इसी धारणा के फलस्वरुप शव के अग्नि संस्कार के पश्चात् स्नान के पश्चात् तर्पण किया जाता था। गृह्यसूत्रों[2] में (शङ्खायन, गोभिल, पारस्कर, अग्निवेश्य और वैखानस) में कहा जाता था कि हे अमुक नाम वाले तुम्हारे लिए यह जल अर्पित है। उसके साथ वही व्यवहार किया जाता था जैसे किसी जीवित व्यक्ति को उद्दिष्टकर किया जाता हो। वाल्मीकि रामायण[3] में विधवाओं द्वारा मृतपति को जलाञ्जलि देने का विवरण प्राप्त होता है। एक प्रसंग में

1. महाभारत का स्त्रीपर्व 16/18
2. शंख्यायन गृ० सू० 4/1/4, गो० शृ० सू० 4/2/35, पारस्कर गृ० सू० 3/10/21, अग्निवेश्य गृ० सू० 3/4/4,वैखानस गृ० सू० 5/8
3. वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड 14/16-17, 42/6-10

विषण्णहृदय दशरथ ने कैकेयी को अपने पत्नी पद से वारित करने के भाव में कहा था कि तुम मेरे मरने के बाद मेरे लिए जलाञ्जलि तर्पण आदि कार्य नहीं करोगी यह समस्त कार्य राम ही सम्पादित करेंगे। जिससे स्पष्ट है कि पत्नी को अपने मृतपति के जलांजलि एवं और्ध्वाहिक कृत्य के सम्पादन का अधिकार था। आपस्तम्ब[1] स्मृति ने विधवा धर्म में विधवा द्वारा पति को प्रतिदिन जल दान (तर्पण) का उल्लेख किया है।

व्यासस्मृति[2] में कहा गया है कि विधवा स्त्री को प्रतिदिन कुश और तिल मिश्रित जल से तर्पण करना चाहिए। वह अपने पति के पितरों श्वसुर, प्रश्वसुर के लिए भी तर्पण करे।

मत्स्यपुराण[3] के अनुसार मृतक को पिण्डदान मृत्यु के बाद 12 दिनों तक दिया जाता था। इसका उद्देश्य पितर (मृतात्मा) को उसकी यात्रा में भोजन प्रदान करना था। यह धारणा थी कि 12 दिनों तक मृतात्मा अपने आवास, पुत्रों एवं पत्नी के चतुर्दिक भ्रमण करती है। स्मृतियों[4] (शङ्खस्मृति) में पुत्रहीन विधवा स्त्री को मृतपति की पिण्डदात्री बताया गया है।

---

1. आपस्तम्ब स्मृति— "यावज्जीवं प्रेतपत्न्युदकोस्पर्शनमेक भुक्तः"
2. व्यासस्मृति 25/15

   "तर्पणं प्रत्यहं कार्यं भर्तुः कुश तिलोदकैः।
   तत्पितुस्तत्पितुश्चापि नामगोत्राभिपूर्वकम्।।
3. मत्स्यपुराण 18/5-7
4. शङ्खस्मृति— पितु पुत्रेण कर्तव्या पिण्ड दानोदक क्रिया।

   पुत्राभावे तु पत्नी स्यात् पत्यभावे तु सोदरः।।

याज्ञवल्क्य[1] ने पुत्रहीन विधवा को दायादियों के वरीयता क्रम में प्रथम स्थान पर रखा। इसी प्रसंग में उन्होंने (याज्ञवल्क्य) दायादी को ही मृतक के और्ध्वाहिक कृत्य, पिण्डदानादि का अधिकारी बताया है। शङ्खस्मृति[2] में स्पष्ट कहा गया है कि पतिपत्नी एक दूसरे के पिण्डदायी होते हैं और पुत्रहीन श्वसुर के पिण्डोदक कर्मो का सम्पादन विधवा पुत्रवधू को करना चाहिए। वृद्धयाज्ञवल्क्य[3] ने वैधव्य काल में पति की शय्या को शुद्ध बनाये रखने वाली विधवा को उसकी सम्पत्ति एवं पिण्डदानादि का अधिकारी बताया था। बाणभट्ट[4] ने एक स्थल पर विधवा राजश्री को पति की पिण्डदात्री कहा है। स्मृतिसङ्ग्रह में एक प्रसंग में विधवा पत्नी के पति के पिण्डदात्री होने का उल्लेख किया गया है।

गौतम धर्मसूत्र[6] में पुत्र के न होने पर सपिण्ड अर्थात् मृतक के भाई या उसके पुत्र और उसके न होने पर माता के सपिण्ड मामा अथवा उनके पुत्र आदि, इनके भी न होने पर शिष्य, ऋत्विक आचार्य को क्रमशः श्राद्ध

---

1. याज्ञवल्क्य 2/135, 132 (पिण्डदोऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परःपरः।।
2. शङ्ख स्मृति— भार्यापिण्डपतिर्दधात् भर्त्रे भार्या तथैव च।
   श्वश्वादेश्च स्नुषा चैव तद्भावे तु सोदरः।।
3. याज्ञवल्क्य—2/135, 132 (पिण्डदोडंऽशटरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः।।
4. याज्ञवल्क्य 2/135-36 पर विज्ञानेश्वर (द्वाराटीका)
5. हर्षचरितम् छठां उच्छवास पृ0 447
6. गौतम धर्मसूत्र 2/6/13-14
   पुत्राभावे सपिण्डा मातृसपिण्डाः शिष्याश्च दद्युः तदभावे ऋत्विगाचार्यो।।

का अधिकारी बताया गया है। महाभारत[1] (आदिपर्व) के एक स्थल पर विचित्रवीर्य की मृत्यु के बाद उसके श्राद्धकर्म को सत्यवती के परामर्श से भीष्म ने सम्पन्न किया और एक स्थल पर (महाभारत आश्रम)[2] कुन्ती द्वारा कर्ण के श्राद्ध एवं दान का उल्लेख किया गया है। शङ्खस्मृति[3] ने पुत्र के बाद ही मृतक के श्राद्ध एवं तर्पण का अधिकार विधवा पत्नी को प्रदान किया, उसके न होने पर सगा भाई उस कार्य के लिए अधिकृत था।

विधवा स्त्रियों के लिए जिन व्रतों के पालन का विधान था उनमें नवरात्रि एवं एकादशी व्रत महत्वपूर्ण था। नवरात्र व्रत में देवी दुर्गा की उपासना अभीष्ट होती थी इस व्रत की महिमा का विस्तार से वर्णन देवी भागवतपुराण[4] में किया गया है। जो रोगी, दरिद्र, पुत्रहीन बंध्या या विधवा दिखायी दे उसके सम्बन्ध में यह अनुमान लगाना चाहिए कि उसने पूर्वजन्म में नवरात्र व्रत का पालन नहीं किया था। इसके विधान में यह वर्णित है कि विधवा स्त्री रक्त चन्दन और विल्वपत्र से भवानी की पूजा करे।

---

1. महाभारत आदिपर्व 96/59 एवं 97/1।
2. महा0 आश्रम— 17/17
3. शंख स्मृति (स्मृति चन्द्रिका भाग 2 पृ0 संख्या 335)

   पितुः पुत्रेण कर्तव्या पिण्डदानोदक क्रिया।
   
   पुत्राभावे तु पत्नी स्यात् पत्न्यभावे तु सोदरः।।
4. देवीभागवत पुराण— 3/27/5-18, 3/27/19-20, 3/27/21-22।।

स्कन्दपुराण एवं ब्रह्मवैवर्तपुराण में एकादशी व्रत रहने का विशेष महत्व था।[1] विधवाओं को इस व्रत के पालन का निर्देश दिया गया था और अत्यन्त हितकारी बताया गया था। कात्यायनस्मृति[2] में कहा गया है कि विधवा स्त्री को एकादशी काल तक व्रत रहना चाहिए, यदि वह व्रत का पालन नहीं करती और अन्न ग्रहण करती है तो उसके सारे सुकृत नष्ट हो जाते हैं और उसे प्रतिपादित भ्रूण हत्या का पाप लगता था।

विधवाओं के लिए तीर्थयात्रा पैदल विहित रही होगी क्योंकि अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें विधवा को बैलगाड़ी में बैठने से रोका गया था।[3] तीर्थ से पुण्य प्राप्ति के लिए यह आवश्यक था कि वह हाथ-पांव, मन से सुसंयत हो, प्रतिग्रही, अहंकारहीन, संतोषी प्रवञ्चनारहित, निरारम्भी, अल्पाहारी अक्रोधी, सत्यशील एवं जितेन्द्रिय हो, कपटी दुष्ट क्रूर, प्रवञ्चक एवं विषयासक्त होकर तीर्थयात्रा करने वाली को पुण्य प्राप्त नहीं होता।[4]

---

1. स्कन्दपुराण श्रीकृष्णजन्म खण्ड 26/36, ब्रह्मवैवर्तपुराण 4/26/4-21
2. कात्यायनस्मृति (रघुनन्दन द्वारा उद्धृत पृ0 105)
   विधवा या भवेन्नारी भुंजीतैकादशी दिने।
   तस्यास्तु, सुकृतं वश्येत् भ्रूण हत्या दिने-दिने।।
3. पी0 वी0 कॉणे पूर्वोक्त भाग 3 पृ0 1315
4. महाभारत वनपर्व 92/11, 93/20-23, 82/9-12, अनुशासनपर्व 111/3-14, पद्मपुराण आदिखण्ड 11/9-12, उत्तरखण्ड 237/30-32, स्कन्दपुराण काशीखण्ड 6/48-51, वामनपुराण 110/4-5, शंखस्मृति 8/15, ब्रह्मपुराण 25/2 अग्निपुराण 109/1-2 स्कन्दपुराण 1/2/2/5-6 (तीर्थकल्पतरु पृ0 4-5 और तीर्थप्रकाश पृ0 13 पर उद्धृत)।

स्मृतियों[1] में विधवाओं के लिए संयमित एवं ब्रह्मचर्यपरक जीवन बिताने का मार्ग उपदेशित किया गया है। पति की मृत्यु के बाद स्त्री को वैराग्य की उत्पत्ति होना स्वाभाविक हैं। अपने वैधव्य को पूर्व जन्म का पाप मानने के कारण वे इस पाप का शमन अपने ब्रह्मचर्य पालन एवं धार्मिक अनुष्ठानों तपों आदि से चाही होगी। पुण्डरीक[2] की मृत्यु के बाद महाश्वेता सन्यासिनी बनकर भगवान् शिव की पूजापाठ में रत हो गयी थी तथा अपना तपस्विनी जीवन प्रारम्भ किया था। कात्यायनस्मृति[3] बृहस्पतिस्मृति[4] एवं पराशरस्मृति[5] में विधवा को धार्मिक कृत्यों-व्रतों उपवासों को करती हुई और ब्रह्मचर्य का पालन करने वाली को स्वर्गाधिकारिणी बताया गया है।

इस प्रकार हिन्दू विधवा की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी और उसका भाग्य तो किसी भी स्थिति में स्पृहणीय नहीं माना जा सकता था। वह अमङ्गल सूचक थी और किसी भी उत्सव में, यथा—विवाह में, किसी प्रकार का भाग नहीं ले सकती थी। उसे न केवल पूर्ण रूप से साध्वी रहना पड़ता था, चाहे वह बचपन से ही विधवा क्यों न हो, प्रत्युत्त उसे

---

1. आर0 सी0 मजूमदार "दि क्लैसिकल एज" पृ0 572)
2. कादम्बरी 'पूर्वार्ध' पृ0 501
3. 'कात्यायन स्मृति' श्लोक 925    व्रतोपवासनिरता ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।<br>दमदानरतानित्यमपुत्राणि दिवं व्रजेत्।।
4. वृहस्पति स्मृति 25/14-15    शरीरार्ध स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा।।
5. पराशरस्मृति 4/31, मनुस्मृति 5/160

संन्यासी की भाँति रहना पड़ता था, कम भोजन और श्वेत वस्त्र धारण करना पड़ता था। उसका सम्पत्ति पर अधिकार न के बराबर था। यदि विधवा का पति पुत्रहीन मर गया हो तो उसे मौलिक रूप से उत्तराधिकार नहीं मिलता था। कालान्तर में उत्तराधिकार के विषय में उसकी स्थिति में सुधार आया, किन्तु तब भी उसे केवल सम्पत्ति की आय मात्र मिलती थी वह पति के आध्यात्मिक लाभ के लिए ही हस्तान्तरित कर सकती थी (अन्य कार्यों में नहीं)। हिन्दू संयुक्त परिवार में विधवा को केवल भरण-पोषण का अधिकार था जिसे वह व्यभिचारिणी होने पर खो देती थी। यदि वह पुनः नैतिक जीवन व्यतीत करने लगे तो जीवन चर्या का अधिकार प्राप्त हो सकता है। यदि पति की पृथक् सम्पत्ति हो और उसके एक या कई पुत्र हों तो विधवा को केवल भरण पोषण का ही अधिकार मिलता है यह स्थिति अभी कुछ दिनों तक रही है, किन्तु अब विधवा की अवस्था में कुछ सुधार हो गया है।

## नियोग प्रथा

नियोग शब्द युज् धातु में 'नि' उपसर्ग और 'घञ्' प्रत्यय लगाने से बना है। रुधादिगणीय धातु 'युज्' (युनक्ति, युङ्क्ते, युक्त) का अर्थ सम्मिलित होना, मिलना, अनुरक्त होना, सम्बद्ध होना, जुड़ना है।[1]

'युज्' धातु में 'नि' उपसर्ग लगाकर भाव (क्रिया) अर्थ में घञ् प्रत्यय करने से 'नि + युज् + घ् + अ + ञ्' बनता हैं। इसमें 'घ' और ञ् इत् संज्ञक होने के कारण लुप्त हो जाते हैं।[2] अवशिष्ट नि + युज् + अ' = नि + युज में कुत्व आदेश के परिणामतः 'युज' का युग रूपान्तरण हो जाता है,[3] जो गुणादेश के योग से बन जाता है।[4] अन्ततः 'नि' उपसर्ग और 'योग' मिलकर नियोग शब्द की सिद्धि होती है।[5]

नियोग का शाब्दिक अर्थ है—किसी नियुक्त पुरुष के सम्भोग द्वारा पुत्रोत्पादन के लिए पत्नी या विधवा की नियुक्ति। नियोग शब्द पुल्लिङ्ग है। इस प्रकार किसी स्त्री (विधवा, प्रव्रजित-पतिका, क्लीवपति का आदि) में पतीतर किसी नियुक्त पुरुष द्वारा सन्तानोत्पत्ति या सन्तानोत्पादन कार्य नियोग कहलाता है।

---

1. वा० शि० आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश पृ० 836
2. पाणिनि अष्टाध्यायी 1/3/8 'लशक्वतद्धिते''।
3. पाणिनि अष्टाध्यायी 7/3/52 ''चजोः कु घिण्यतोः''
4. पाणिनि अष्टाध्यायी 7/3/86 ''पुगन्तलघूपधस्य च''।
5. वा० शि० आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश पृ० 529

शब्दस्तोम महानिधि[1] में नियोग का अर्थ अवधारणा, आज्ञा तथा अपने से छोटे को प्रेरणा बताया गया है। वैजयन्तीकोष[2] में भाव से (क्रिया अर्थ) जब आधार (कार्य अर्थ) में घञ् प्रत्यय लगाया जाता है तो नियोग का अर्थ निश्चय पूर्वक किसी कार्य को करना हो जाता है। मोनियर[3] विलयम्स के अनुसार मृतक व्यक्ति की स्त्री से देवर या अन्य निकट सम्बन्धी द्वारा वैवाहिक रीति से सन्तानोत्पादन ही नियोग कहलाता है।

इस कार्य में संलग्न स्त्री के लिए नियुक्त स्त्री (विधवा या सधवा) पुरुष के लिए नियुक्त पुरुष और इस कार्य के लिए आदेश देने वाले के लिए नियोजक शब्द व्यवहृत हुआ है। स्मृतियों में विधवा या पुत्रार्थ नियोग विधि को अपनाने वाली स्त्री के लिए क्षेत्र[4] जिसकी वह पत्नी या विधवा होती थी, उसके लिए क्षेत्रिक या क्षेत्री सन्तानोत्पत्ति के लिए नियुक्त पुरुष को बीजी या नियोगी कहा गया है।[5]

---

1. शब्द स्तोम महानिधि पृ0 245 "अवधारणे अज्ञायां निकृष्टस्य प्रेरणे च। नियुज्यतेऽस्मिन् आधारेघञ्। "कार्ये"।
2. वैजन्ती कोष 5/2/25 "उद्योगोऽस्त्री समुत्थानं विनियोगोऽर्पणं फले।
   विधिर्नियोगः संप्रेष उपयोगः फल क्रिया।।
3. मोनियर विलियम्स 'ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी' पृ0 552।
4. मनुस्मृति 9/33
5. गौतम स्मृति 28/32, वसिष्ठ स्मृति 17/64, मनु0 9/33

   स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद 10/85/40—

   सोमः प्रथमो विवदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
   तृतीये अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः।।

नियोग की प्रथम आवश्यकता सन्तान प्राप्ति थी। पुत्र का विशेष महत्त्व होने के कारण उसकी प्राप्ति हेतु नियोग की आवश्यकता समझी गयी। नियोग विवाह के प्रधान लक्ष्य (पुत्र-प्राप्ति) का पूरक था। यह व्यवस्था पुनर्विवाह के बिना भी धार्मिक लाभ से वञ्चित होते हुए दम्पत्ति या विधवा के लिए उपयोगी भी और इससे वंशनाश होने की संभावना कम ही थी। इसीलिए सधवा या विधवा दोनों प्रकार की स्त्रियों के लिए प्राचीन भारतीय समाज ने इसे स्वीकार किया था।

प्रथम चरण में नियोग सधवा स्त्रियों द्वारा अपनाया गया प्रतीत होता है, क्योंकि जो पति अपनी स्त्री से नपुंसकता आदि कारणों[1] से संतानोत्पादन में असमर्थ हुआ होगा और उसी ने वंशवृद्धि, वृद्धावस्था में आलम्बन, पितृतर्पण, पिण्डदान आदि के लिए पुम् नामक नरक से बचने और स्वर्ग की आकाङ्क्षा आदि जैसी भावनाओं से प्रेरित होकर अपनी पत्नी को नियोग विधि से सन्तानोत्पादन की स्वीकृति दी होगी (मनुस्मृति) में ऐसी मान्यता के पीछे असमर्थ पति को स्त्री द्वारा तलाक न देने, दत्तक, और क्रीत पुत्र की अपेक्षा क्षेत्रज[2] पुत्र को अधिक उचित (उपयुक्त) समझने, पति के जीवित रहते स्त्री द्वारा दूसरा विवाह न करने की भावना से प्रेरणा प्रदान की होगी।

---

1. कुरुजातक में अक्कोक की स्त्रियों के नियोग प्रकरण। महाभारत में कुन्ती तथा माद्री ने वंशनाश भय से नियोग किया था।
2. ऋग्वेद 7/4/78, महाभारत 1/11, 1/27-30, महाभारत 1/90/67-68 मनुस्मृति 9/159

महाभारत[1] में कहा गया है कि नियोग की आवश्यकता उस दम्पति की प्रधानता के साथ अनुभूत हुई होगी जिनके पुत्रियाँ तो थी किन्तु पुत्र नहीं और इस स्थिति में पुनर्विवाह का कोई औचित्य नहीं रहा होगा। पुरुष प्रधान समाज में नियोग, पति की आवश्यकता और हीन भावना से बचने का पुरुषों का प्रयास प्रतीत होता है।

आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती[2] (1824-1833 ई0) ने रुग्ण और क्लीव पति वाली स्त्रियों के रतिपूर्ति तथा व्यभिचार वृद्धि पर नियंत्रण हेतु नियोग की आवश्यकता स्वीकार की है। इससे विधवा और विधुर दोनों में काम सन्ताप गुप्त व्यभिचार, वेश्यावृत्ति गर्भहत्या एवं उत्तम कुल में कलंक आदि महापापों से निवृत्ति होती है। किन्तु वैदिक वाङ्मय और स्मृतियों में कहीं भी रति को नियोग का आधार नहीं माना गया है यद्यपि परोक्ष में इसकी पूर्ति हो जाती है।

विधवा स्त्रियों में नियोग विधि सधवा स्त्री के अनुकरण से प्रचलन में आयी होगी। प्रारम्भ में (वेदकाल में) क्षतयोनि विधवाओं के पुनर्विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। उच्च वर्ग में (ब्राह्मण क्षत्रिय) स्मृतिकाल में इस पर प्रतिबन्ध लग गया और तब सन्तानहीन विधवाओं के लिए नियोग उपयुक्त समझा गया होगा। विधवा द्वारा वैधव्य दुःख वृद्धावस्था में

---

1. महाभारत 1/111/32
2. स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृ0 106

आलम्बन, सम्पत्ति खोने का भय, परिवार पर स्वत्व बनाये रखने की धारणा से विधवाओं के देवर से नियोग की स्वीकृति प्रदान की होगी। अल्टेकर के अनुसार प्राचीन काल में स्त्री को भी परिवार की सम्पत्ति माना जाता था। इसलिए स्त्री रूपी सम्पत्ति को न खोने की धारणा ने भी नियोग की आवश्यकता को पुष्ट किया। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[1] का कथन— "कुलाय हि स्त्री प्रदीयते" इस मत का मुख्य आधार है। डॉ0 काणे के अनुसार—वैदिक कालीन समाज में निरन्तर युद्धों के कारण पुरुषों की संख्या में कमी आयी होगी न कि स्त्रियों की उन्होंने नियोग को प्राचीन परम्परा तो माना किन्तु इसके प्रचलन के कारणों का विश्लेषण नहीं किया।

नियोग के लिए विधवा स्त्री की क्या पात्रता होनी चाहिए ? नियोग विधि से अपने लिए संतान चाहने वाली विधवा स्त्री के लिए कम से कम दो बातें आवश्यक थीं—उसका सन्तानहीन होना और सन्तानोत्पादक आयु वाली होना। कुछ पी0 वी0 कॉणे[2] ऐसे भी उदाहरण (प्रसङ्ग) मिलते हैं जिनमें सन्तानवती विधवा स्त्रियों के लिए नियोग का विधान किया गया है। उक्त दशा में या तो सन्तान पुत्री थी, या पुरुष सन्तति वंश चलाने के लिए अयोग्य थी। नियोग में नियुक्त पुरुष और विधवा स्त्री के परस्पर

---

1. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/10/27/3 प्रीतिप्रभा गोयल हिन्दू विवाह मीमांसा पृ0 177।
2. पी0 वी0 कॉणे, 'धर्मशास्त्र का इतिहास' भाग पृ0 341 (विचित्र वीर्य की विधवाओं के नियोग के संदर्भ में)।

रक्त संबंधों पर ध्यान दिया जाता था। बौधायन धर्मसूत्र[1] ने ममेरी या फुफेरी बहनों, भाञ्जी, पुत्रवधू, मामी, मित्र की पत्नी आदि को अगम्या माना और नियोग वर्जित था। वसिष्ठ[2] ने विधवा स्त्री के लिए पति के मृत्यु के बाद छह माह पर्यन्त नियोग का निषेध करते हुए उन्मादिनी, अत्यन्त शोकाकुल सतत रोहिणी रहने वाली, अत्यन्त वृद्धा विधवा को नियोग के लिए अपात्र बताया है। वसिष्ठ[3] ने नियोग की सीमा 16 वर्ष का उल्लेख किया है। इससे यही प्रतीत होता है कि विधवा स्त्री को अधिक से अधिक 16 वर्ष तक नियोग करना चाहिए। नारदस्मृति[4] में कहा गया है कि नियोग के लिए गर्भिणी, निन्दिता, भाइयों और गुरुओं द्वारा नियुक्त न की गयी उत्पन्न सन्तान वाली जो बन्ध्या हो, जिसका गर्भ स्राव हो जाता हो, जिसके बच्चे मर जाते हों, जो सन्तानोत्पादन[4] के लिए अनिच्छुक हो ऐसी स्त्रियाँ भी अपात्र बतायी गयी थीं। नियोग के लिए किस पुरुष का चयन किया जाए ? इस दृष्टि से नियुक्त पुरुष के वंश जाति, गोत्र

---

1. बौधायन धर्म सूत्र 2/2/64-65,
   मातुलपितृष्वसा भगिनी भागिनेयी स्नुषा मातुलानी सखिवधूरित्यगम्याः।
   अगम्यानां गमने कृच्छातिकृच्छौ चन्द्रायणमिति प्रायश्चित्तिः।।
2. वसिष्ठ धर्मसूत्र 17/55-59, प्रेतपत्नी षण्मासान्व्रतचारिण्य क्षारलवण भुंजानधः शयीत्। उर्ध्वं षऽभ्यो मासेभ्यः स्नात्वा श्राद्धं च पत्ये दत्वा विधाकर्मगुरुयोनिसंबन्धान्संनिपात्य पिता भ्राता वा नियोगं कारयेत्। न सोन्मादामवशां व्याधिता वा नियुञ्जयात्। ज्यायसीमपि। षोडश वर्षाणि।
3. नारद स्मृति 12/84 "न गच्छेद् गर्भिणी निंद्यामनियुक्तां च वंधुभिः।।
4. बौधायन धर्म सूत्र 2/2/63 वंशा चोत्पन्नपुत्रा च नीरजास्का मतप्रजा।
   नाऽकामा सन्नियोज्या स्यात् फलं यस्यां न विद्यत इति।।

प्रवर आदि पर विचार किया जाता था।

मनुस्मृति[1] याज्ञवल्क्य स्मृति गौतम स्मृति नारदस्मृति में देवर को ही प्रथम वरीयता दी गयी थी। इसी का समर्थन ऋग्वेद, अथर्ववेद गौतम धर्मसूत्र और आपस्तम्ब धर्मसूत्र[2] में भी इसी का समर्थन किया गया है। प्रथम देवर पति का निकटतम रक्त सम्बन्धी होता है। दूसरे, बाहर का व्यक्ति पुत्र के बड़े होने पर उसे अपने संबंधों की जानकारी देकर उसका धन प्राप्त करने का प्रयास कर सकता था। इसलिए वसिष्ठ धर्मसूत्र[3] में प्राविधान किया गया है और कहा गया है कि ''रिक्थ लोभान्नास्ति नियोगः'' यह आवश्यक नहीं है कि देवर विधवा के लिए नियोग प्रस्ताव को स्वीकार ही करे। यह देवर की इच्छा पर निर्भर है, क्योंकि महाभारत[4] में भीष्म ने विचित्रवीर्य की विधवाओं के साथ नियोग के सत्यवती के प्रस्ताव को ठुकरा दिया था।

गौतम धर्मसूत्र के टीकाकार हरदत्त मिश्र और याज्ञवल्क्य स्मृति के

---

1. मनुस्मृति (9/59 9/69) याज्ञ0 1/68 गौतम स्मृति 18/4 14 नारद स्मृति 12/80।
2. ऋग्वेद 10/18/8, 40/2, 85/44, अथर्ववेद 14/2/18 गौतम धर्म सूत्र 2/9/4 (अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात्) आपस्तम्ब ध0 सू0 2/10/27/2 ''सगोत्रस्थानीयां न परेभ्यस्समाचक्षीत्''।
3. वसिष्ठ धर्म सूत्र 17/57।
4. महाभारत आदिपर्व 97/1-10, 13-18

टीकाकार विज्ञानेश्वर[1] ने देवर का अर्थ कनिष्ठ भ्राता स्वीकार किया है। प्रीतिप्रभा[2] गोयल ने हिन्दू विवाह मीमांसा[3] में नियोग करने वाले पुरुष को चाहे वह मृतक का छोटा भाई हो या बड़ा देवर स्वीकार किया है। महाभारत के आदिपर्व[4] 98/8 में देवर शब्द का प्रयोग पति के छोटे भाई के लिए किया गया है। अत्यन्त आपद्काल में बड़े भाई को भले ही नियोग के लिए उपयुक्त समझा गया हो यथा विचित्रवीर्य की विधवाओं के साथ नियोग द्वारा पुत्रोत्पादन के लिए सत्यवती ने व्यास का परिचय देवर कहकर कराया था। धर्मशास्त्रकारों[5] ने इसे (बड़े भाई से नियोग की) मान्यता प्रदान नहीं की। मनु बड़े भाई को पिता सदृश बताते हैं जिसकी पुष्टि अमरकोष से भी होती है। याज्ञवल्क्य स्मृति, मनुस्मृति, आपस्तम्ब धर्मसूत्र[6] में देवर के न होने पर क्रमशः सपिण्ड अथवा सगोत्र को नियोग

---

1. गौतम धर्मसूत्र 2/9/4 पर हरदत्त मिश्र की टीका, याज्ञ0 1/86 पर विज्ञानेश्वर की टीका, अमरकोष 6/33
2 प्रीतिप्रभागोयल हिन्दू विवाह मीमांसा पृ0 179
3. महाभारत के आदिपर्व 99/35-49, 100/2।
4. (क) मनुस्मृति 9/57 ''यवीयसस्तु या भार्या स्नुषाज्येष्ठस्य सा स्मृता''
   (ख) अमरकोष 6/32, ''ज्येष्ठस्तु श्वसुरएवेति''
5. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/68 ''सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋतवियात्''।
   मनु स्मृति 9/59, ''देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया''।
6. आपस्तम्ब सूत्र 2/10/27/2-3

के लिए उचित बताया यथा जबकि गौतम धर्मसूत्र[1] में देवर के उपलब्ध न होने पर अन्य से सम्बन्ध वर्जित बताया है।

गौतम धर्मसूत्र[2] ने देवर सपिण्ड सगोत्र के बाद अपने ही प्रवर के किसी व्यक्ति को नियोग के लिए उपयुक्त समझा "(पिण्डगोत्रर्षि सम्बन्धभ्यो योनिमात्राद्वा)" हरदत्त मिश्र ने योनिमात्राद्वा का अर्थ ब्राह्मणजातिमात्रादिति किया है और कहा है कि सभी के अभाव में ब्राह्मण एवं ऋषि को सभी वर्णों की स्त्रियों एवं विधवाओं के लिए नियोग कार्य हेतु उपयुक्त बताया गया है। महाभारत[3] में भीष्म ने सत्यवती को विचित्रवीर्य की विधवाओं के लिए नियोग सम्पादनार्थ गुणवान् ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर आहूत करने की सम्मति दी थी। महाभारत[4] मे दो सधवा स्त्रियों कुन्ती और माद्री के नियोग में देवताओं द्वारा नियोग किए जाने का वर्णन है। ये देवता कौन थे इसे डॉ0 जायसवाल ने समसामयिक राजकुमार माना है।

आश्वलायन गृहसूत्र[5] में देवर के न होने पर शिष्य को नियोगार्थ उचित

---

1. गौतम धर्मसूत्र 2/9/7 'नादेवरादित्येके' "मन्यते देवरादेव लिप्सते नादेवरादिति"।।
2. गौतम धर्मसूत्र 2/9/6
3. महाभारत— 1/99/2
4. महाभारत 1/90/67-72
5. आश्वलायन गृहसूत्र 4/2/18
   "तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी।
   जरद्दासोवोदीर्ष्वनार्यभिजीवलोकम् इति"।।

माना जाता था। श्वेतकेतु की उत्पत्ति (महाभारत शान्तिपर्व[1]) गुरुपत्नी में शिष्य के नियोग से हुई थी। यह प्रथा विशेषकर ब्राह्मण वर्ग में प्रचलित थी।

नियोग विधि से सन्तानोत्पादन को आपद्धर्म के रूप में प्रचलित करने के साथ-साथ वह व्यभिचार का रूप न ग्रहण कर ले इसके लिए अत्यन्त सावधानी से अनेक व्यावहारिक नियमों का प्रतिपादन किया गया। सर्वप्रथम तो नियोग विधवा या संतानार्थी स्त्री की स्वयं की इच्छा पर निर्भर नहीं था। इसके लिए पिता, श्वसुर, पति, माता, ज्येष्ठभ्राता या गुरुद्वारा अनुमति प्राप्त करना आवश्यक था। वसिष्ठ[2] धर्मसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि विधवास्त्री का विभिन्न सम्बन्धियों के समक्ष पिता या भाई करायें अर्थात् नियोग की जानकारी कम से कम सम्बन्धियों तक को अवश्य होनी चाहिए। यह सम्बन्ध गुप्त नहीं होना चाहिए। किन्तु यदि गुरु आदि द्वारा अनुमति प्राप्त किये बिना ही सङ्गामन किया जाता है तो मनु[3] के अनुसार दोनों पतित होते थे। इस प्रकार उत्पन्न सन्तान जारज कहलाती थी, जो रिक्थमार्ग नहीं होती थी। नारद[4] के अनुसार यदि विधवा स्त्री नियोग के नियमों

---

1. महाभारत शान्तिपर्व— 35/22

   गुरुतल्पं हि गुर्वर्थे न दूषयतिमानवम्।

   उद्दालकः श्वेतकेतुं जनयामास शिष्यतः।।

2. वसिष्ठ धर्मसूत्र 17/58
3. मनुस्मृति 9/58, 9/63, 9/143-44 नारद स्त्रीपुंस 85-86
4. नारद स्त्रीपुंस 84-85

के विपरीत समागम करती थी तो वे दोनों राजा द्वारा दण्ड भागी होते थे। वसिष्ठधर्मसूत्र[1] में इस प्रकार (नियम विरुद्ध) उत्पन्न सन्तान जनक की मानी जाती थी।

याज्ञवल्क्यस्मृति[2] में कहा गया है कि नियोग हेतु स्त्री पुरुष दोनों का सङ्गमन या सम्पर्क मात्र ऋतुकाल में विहित था, जो गर्भधारण पर्यन्त किया जा सकता था। महाभारत[3] में सङ्गमन के पूर्व अर्थात् नियोग सम्पादन के पूर्व ब्राह्मण एवं अतिथियों आदि को भोजन कराने यज्ञादिक का सम्पादन करने का उल्लेख है। वसिष्ठधर्मशास्त्र[4] में विधवा स्त्री के प्राजापत्य मुहूर्त में पाणिग्राहीवत् (यथा एक पाणिग्राही अपनी पत्नी में गर्भाधान करता है उसी तरह) गर्भाधान करने का वर्णन है। महाभारत[5] में नियोगी के समय

---

1. वसिष्ठ धर्मसूत्र 17/63-69 अनियुक्तायामुत्पन्न उत्पादयितुः पुत्रो भवतीत्याहुः।
   ..................................स्याच्चेन्नियोगिनोः।।"
2. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/68-69
   अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया सपिण्डो वा स गोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋतावियात् (याज्ञवल्क्यस्मृति 68) आगर्भ संभवाद्गच्छेत्पतितस्त्वन्यथा भवेत् 69।
3. महाभारत 1/99/49
4. वसिष्ठ धर्मसूत्र— 17/61-62 प्राजापत्ये मुहूर्ते पाणिग्राहवदुपचरेदन्यत्र संप्रहास्य वाक्यारुष्य दण्डपारुष्याच्च। ग्रासाच्छादनस्नानानुलेपनेषु प्राग्गामिनी स्यात्।।
5. (क) महाभारत— 1/100/23, ततः स्वैभूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम्।
   प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशियतेः सुता।।
   (ख) महाभारत— 1/100/24-25 एवं 26।
   दासी ऋषिमनुप्राप्तां प्रत्युत्गम्याभिवाद्य च।
   संविवेशभ्यनुज्ञाता सत्कृत्योपचचार ह।।
   (ग) महाभारत 1/100/1-20 कामोपभोगेन तु स तस्यां तुष्टिमगादृषिः। तथा सहोषितो रात्रिं महर्षिः पीणयामास।।

स्त्री के वस्त्राभरणों से आच्छादित होकर सौन्दर्यमयी अवस्था में नियोगी के समक्ष होने का वर्णन किया गया है। अम्बा ने अपनी दासी को अप्सरा के तुल्य सजाकर कृष्ण द्वैपायन व्यास के समक्ष भेजा था। महर्षि ने उसके साथ कामोपभोग किया तथा उससे प्रसन्न होकर दासीपन से मुक्त होने का आशीर्वाद दिया। महाभारत[1] अम्बा और अम्बालिका द्वारा व्यास को देखकर आँख मूद लेने और पीली होने के वर्णन से यह स्पष्ट है कि नियोग काल में वे (स्त्रियाँ) अपने अनुरूप किसी राजर्षि की प्रतीक्षा में थी। यदि उनके लिए मात्र पुत्र पैदा करने का कर्तव्य भाव प्रधान होता तथा कामभाव का कोई स्थान न होता तो सम्भवतः वे ऐसा नहीं करती।

इससे प्रतीत होता है कि पुत्र चाहने वाली स्त्री भी ऐसे व्यक्ति से ही नियोग चाहती थी जिससे सम्भोगकाल में कोई अन्यमनस्कता न उत्पन्न हो अर्थात् पुरुष कुरूप न हो।

नियोग के लिए उपयुक्त काल रात्रि का समय क्या हो? महाभारत[2] में इस कार्य के लिए रत्रि का अन्तिम प्रहर या ब्राह्ममुहूर्त उपयुक्त बताया गया है। मनु एवं वसिष्ठ[3] के अनुसार—नियोगी को रात्रि में ही संगमन करना चाहिए। समागम काल में किसी प्रकार की रति क्रीडा न करने

---

1. महाभारत 1/100/5-6 एवं 15-16
2. महाभारत 1/98/25 और 29।
3. वसिष्ठ 12/47 और मनुस्मृति 4/92 (जहाँ ब्राह्ममुहूर्त का समय रात्रि का अन्तिम प्रहर है)

मौन पूर्वक कर्तव्यभाव से गर्भाधान का उल्लेख है। मनु और याज्ञवल्क्य स्मृति, नारदस्मृति में और गरुडपुराण[1] में इस बात का उल्लेख है कि नियुक्त पुरुष को अपने शरीर पर घृत का लेप करना चाहिए।

मनुस्मृति नारद स्मृति एवं वसिष्ठ धर्मसूत्र[2] के अनुसार नियोग मात्र सन्तान प्राप्ति के लिये था, कामभाव की तुष्टि या धन ग्रहण के लोभ से नहीं। मनु[3] के अनुसार विधवा स्त्री को श्वेत वस्त्र धारण कर व्रतशील होकर प्रत्येक ऋतुकाल में एक बार सहवास का नियम बताते हैं। नियोग पूर्ण होने पर विधवा स्त्री और नियुक्त पुरुष के बीच सम्बन्ध पति-पत्नी

---

1. मनुस्मृति 9/60

"विधवायां नियुक्तस्तु घृतावितो वाग्यतोनिशि"।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन"।।

याज्ञवल्क्यस्मृति 1/68

अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया
सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋतावियात्

नारद स्मृति 12/82

घृतेनाभ्यंज्य गात्राणि तैलेनाविकृतेन वा।
मुखान्मुखं परिहरन् गात्रैगात्राण्य संस्पृशन्।।

गरुणपुराण—1/55/16, घृताभ्यक्तो ऋतावियात्।।

2. मनुस्मृति 9/70 नारद स्मृति 12/80 वसिष्ठ धर्मसूत्र— 17/65
3. मनु स्मृति 9/70

यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्
मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्यकूदृता वृतौ।।

या जार-जारज का नहीं रह जाता था, अपितु मनु[1] एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार उन्हें परस्पर पिता और पुत्रवधू जैसा सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए। यदि वे ऐसा करने में असमर्थ होते हैं तथा कामपथ पर प्रवृत्त होते थे तो वे गुरुपत्नी या पुत्रवधू से व्यभिचार के प्रायश्चित्त के भागी होते थे। नियोग से उत्पादित सन्तान की सीमा क्या होनी चाहिए? अर्थात् नियोग के द्वारा कितनी सन्तान पैदा किया जा सकता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में नियोग से उत्पादित संतानों की सीमा के विषय में एक मत प्राप्त नहीं होता। ऋग्वेद[2] में नियोग से दस पुत्र पैदा करने का वर्णन है—यथा

*इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।*
*दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि।।*

सत्यार्थ प्रकाश[3] में कहा गया है कि दो संतान विधवा स्त्री स्वयं के लिए और दो-दो करके आठ पुत्र चार विधुर पुरुषों के लिए उत्पन्न

---

1. मनुस्मृति 9/62-63

   विधवा नियोगार्थे निर्वृते तु यथाविधि।
   गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम्।।
   नियुक्तौ यौ विधिं हित्त्वा वर्तेयातां तु कामतः।
   तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागुरुतल्पगौ।।

   याज्ञवल्क्य स्मृति 1/69
2. ऋग्वेद 1/85/45
3. सत्यार्थ प्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ 105-6

कर सकती है। महाभारत[1] में विधवा द्वारा उत्पादित पुत्रों की संख्या तीन मानी गयी है। तीन पुत्रों से अधिक पुत्रोत्पादन को वेश्यावृत्ति तुल्य माना गया है और विधवा स्त्री को स्वैरिणी कहा गया है। बौधायन एवं वसिष्ठ धर्मसूत्र[2] में मात्र एक संतान की मान्यता प्राप्त है। गौतम धर्मसूत्र[3] में 'नातिद्वितीयम्' से एक ही संतान का अर्थ लगाया गया है। धर्मसूत्रों में यह अस्पष्ट है कि संतान पुत्र या पुत्री होगी या दोनों दशाओं में एक ही संतान।

स्मृतियों में विधवा द्वारा नियोग विधि से एक संतान उत्पादित करने का उल्लेख है, किन्तु यहाँ पर सन्तान का अर्थ पुत्र लगाया गया है क्योंकि स्मृतियों में पुत्रोत्पत्ति पर बल दिया गया है।

*विधवायां नियुक्तस्तु घृतावृतो वाग्यतो निशि।*
*एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन।।मनु0।।* 9.60

इस श्लोक से यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि जब तक कम से कम एक पुत्र न उत्पन्न हो जाय, नियोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति की

---

1. महाभारत 1/94/59
   "अनपत्यैक पुत्रत्वमित्याहुर्धर्म वादिनः" महाभारत आदिपर्व 1/114/66, 9, 27 (कुन्ती ने तीन पुत्र) महाभारत 1/115/23 (माद्री ने दो) महाभारत आदिपर्व 98/26 सुदेष्णा की दासी ने 11 पुत्र पैदा किए।
2. बौधायन ध0 सू0 2/2/68-70, वसिष्ठ धर्म सूत्र 17/56-65
3. गौतम धर्म सूत्र 2/9/8

जा सकती है। किन्तु नियोग के विज्ञ आचार्यों के मतों का अवलम्बन कर एक पुत्र को अपुत्र सदृश मानकर मनु[1] ने नियोग से दो पुत्र उत्पन्न करने की मान्यता भी प्रस्तुत की है। याज्ञवल्क्य के अनुसार "आगर्भसंभवाद्गच्छेद्" गर्भ के स्थिर होने तक नियोग करना चाहिए। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर[2] ने 'आ गर्भोत्पत्तेः' कहकर एक ही संतान को नियोग द्वारा मान्यता दी है चाहे वह पुत्र हो या पुत्री। नारदस्मृति[3] में कहा गया है कि यदि किसी स्त्री का पति अपत्यहीन मर जाए तो गुरुओं द्वारा नियुक्त देवर नियोग विधि से पुत्र जन्म तक सम्पर्क करें। इससे स्पष्ट है कि एक पुत्र उत्पन्न होने तक नियोग स्वीकार्य था यह स्पष्ट नहीं किया कि पुत्र प्राप्ति के पूर्व यदि कन्या सन्तानें उत्पन्न हो तो उससे क्या निर्णय लेना चाहिए यह अस्पष्ट ही रह जाता है।

मनु[4] का स्त्रियों के विषय में कुछ संकीर्ण दृष्टिकोण रहा है और वे

---

1. मनुस्मृति 9/61
2. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/69 पर मिताक्षरा टीका—

   ऋतावेव वक्ष्यमाण लक्षणे श्याद्गच्छेद् आ गर्भोत्पत्तेः।
   उर्ध्वं पुनर्गच्छन् अन्येन वा प्रकारेण तदापतितो भवति।।
3. नारदस्मृति— 12/80-81

   अनुत्पन्न प्रजायास्तु पतिः प्रेयाद् यदि स्त्रियाः।
   नियुक्ता गुरुभिर्गच्छेद् देवरं पुत्रकाम्यया।। नारद स्मृति 12/80
   स च तां प्रतिपद्येत् तथैवापुत्र जन्मतः।
   पुत्रे जाते निवर्तेत संकरः स्यादततोऽन्यथा।। नारद स्मृति 12/81
4. मनुस्मृति 9/47

कन्या दान एक ही बार स्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि एक बार वाग्दान[1] कर दिये जाने पर अन्य को कन्या देने वाले को पुरुषानृत दोष का पात्र बनाते हैं। मनु[2] के अनुसार जिस कन्या का पति वाग्दान के बाद ही मर जाय उसका देवर के साथ नियोग करना चाहिए। वह वाग्दत्ता विधवा शुचिव्रता (श्वेत वस्त्र धारण कर) प्रत्येक ऋतुकाल में एक बार समागम करके गर्भ धारण करें। मनु[3] ने भी वाग्दत्ता विधवा को गुरुजनों की आज्ञा से देवर या सपिण्ड द्वारा नियोग विधि से सन्तान प्राप्त करने का विधान किया है। द्विज वर्णों के लिए किसी भी व्यक्ति से नियोग कराये जाने का मनु[4] निषेध करते हैं क्योंकि इससे स्त्री का सनातन धर्म नष्ट होता है। उनका तर्क है कि वैवाहिक मंत्रों में कही भी नियोग की चर्चा नहीं है, न ही विधवा विवाह का कहीं उल्लेख किया गया है।

---

1. मनुस्मृति 9/71
2. मनुस्मृति 9/69-70

   यस्या म्रियते कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
   तमानेन विधानेन निजी विन्देत देवरः।।
   यथा विध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रतां।
   मिथो भजेताप्रसवात्कृत्सकृदृतावृतौ।।

3. मनुस्मृति 9/59
4. मनुस्मृति (9/64-65)

   नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभि;।
   अन्यस्मिन्हि नियुञ्जान धर्मं हन्युः सनातनम्।। (2/64)
   नोद्वाहिकेषु मंत्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
   न विवाह विधायुक्तं विधवावेदनं पुनः।। (9/65)

मनु ने द्विजातियों का अन्य जाति (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) के साथ विधवा स्त्री का नियोग इसलिए वर्जित किया है कि उन्हें भय था कि समाज में वर्णसंकरता व्याप्त हो जायेगी इसलिए स्ववर्ण के पुरुष के साथ नियोग को श्रेष्ठ समझा। पुनः विधवा वेदन अर्थात् इससे मनु ने नियोग का विरोध नहीं किया है बल्कि विवाह की विधि अलग और नियोग की विधि को अलग बताया है। मनु[1] में वेन के राज्य में नियोग की जो निन्दा की है, वह इसलिए नहीं कि नियोग निन्दित था बल्कि वेन के राज्य में लोग कामवश नियोग करते थे। अतः यह निन्दित हुआ क्योंकि इससे वर्ण संकरता व्याप्त होने लगी थी। अतः नियोग का दुरुपयोग निषिद्ध है न कि नियोग।

मनु[2] ने नियोग के विषय में इतने कड़े नियमों का प्रतिपादन कर दिया था कि उनका पालन दुष्कर था। अतः यह द्योतित होता है कि मनु नियोग के पक्ष में न थे। मनु[3] ने श्राद्ध आदि संस्कार के लिए औरस पुत्र को छोड़कर शेष ग्यारह प्रकार के पुत्रों को तुच्छ बताया है। इन पुत्रों के द्वारा किये गये और्ध्वाहिक कृत्य को व्यर्थ माना है। मनुस्मृति के टीकाकार मेघातिथि ने मनु[4] को नियोग विरोधी बताया है और विवाह के

---

1. मनुस्मृति 9/66-68 अयं द्विजैर्हि विद्वदिभिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्ये प्रशासित।।
2. मनुस्मृति 9/70-72, 143-44, 147-173
3. मनुस्मृति 9/180-81
4. मनुस्मृति 3/5 पर मेधातिथि की टीका।

लिए प्रशस्त कन्याओं में अमैथुनी शब्द का अर्थ नियोग से उत्पन्न कन्या किया है, जो उचित नहीं प्रतीत होता।[1]

इस श्लोक का साधारण अर्थ यही होता है कि द्विज वर्णों से माता और पिता दोनों के असगोत्र और असपिण्ड अक्षतयोनि बला (दारकर्म के लिए) गृहस्थ धर्म के निर्वाह के लिए विवाह करें, यही प्रशस्त है। मेधातिथि के अनुसार चूँकि नियोग के लिए उपयुक्त व्यक्ति देवर और सपिण्ड बताये गये हैं, जो स्त्री के श्वसुराल पक्ष के सम्बन्धी हैं। देवर के न मिलने पर स्त्री के श्वसुराल पक्ष के लोगों ने अन्य व्यक्ति को अपनी वधू से यौन सम्बन्ध के लिए उचित नहीं समझा होगा और यह प्रथा निन्दित होती गयी। मनुस्मृति के अन्य टीकाकार गोविन्दराज, नारायण, कुल्लूक, राघव नन्दन[2] ने भी नियोग का समर्थन नहीं किया है।

मनुस्मृति[3] में नियोग के सम्बन्ध में जो कथन प्राप्त होता है उससे प्रतीत होता है कि उस समाज में नियोग प्रथा का आस्तित्व बना हुआ

---

1. मनुस्मृति संपादक जयन्तकृष्ण हरिकृष्ण दवे 1975 पृ0 12-15।
2. मनुस्मृति 9/59 पर टीकाकार मेधातिथि की टीका। मनुस्मृति 9/68 पर कुल्लूक भट्ट "सर्वदैव संतानाभावे नियोगाद नियोगपक्षः श्रेयान्" मनुस्मृति 9/68 पर नारायण, मनु 9/68 पर राघव और नन्दन द्वारा उद्धत।
3. मनुस्मृति 9/167
   यस्तल्पज प्रमीतस्य क्लीवस्य व्याधितस्य वा।
   स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः।।

था। मनु ने न केवल मात्र वाग्दत्ता विधवा के लिए देवर द्वारा नियोग विधि से संताने उत्पन्न करने का उल्लेख किया अपितु पति के संतानहीन होने, नपुंसक होने, पतित, जन्मांध, बधिर, उन्मत्त, जड़ मूक पङ्गु आदि होने पर क्षेत्रज पुत्र प्राप्त करने का उल्लेख किया है जो नियोग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था, क्योंकि नियोग से उत्पन्न संतान की संज्ञा ही मनु ने क्षेत्रज की है। पिता की सम्पत्ति के विभाजन में क्षेत्रज पुत्र को अंशभागी बताकर क्या मनु[1] नियोग से उत्पन्न क्षेत्रज पुत्र को अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते? यह सत्य है कि मनु ने औरस पुत्र को श्रेष्ठ माना है इसमें भी बड़े पुत्र को विशेष स्थान प्रदान किया।

निश्चित रूप से मनु ने नियोग की निन्दा की है और नियोग न करना उत्तम माना है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि मनु के अनुसार यह शूद्र वर्णाचरित धर्म था। किन्तु यदि नियोग मनु को स्वीकार नहीं था तो उन्होंने क्षेत्रज पुत्र को क्यों स्वीकारा। वस्तुतः चाहे धर्मशास्त्रकार हो या स्मृतिकार या अन्य कोई व्यक्ति जो पुत्र उत्पन्न होने से पिता को पितृऋण से मुक्त मानता हो, पुत्र पैदा करने से पिता को स्वर्ग का अधिकारी मानता हो, पुत्र को पिता के लिए पुम् नामक नरक से रक्षा करने वाला मानता हो, पुत्र द्वारा तर्पण पिण्डदान आदि से पितरों की वृद्धि स्वीकारता हो, वह रोगी, अशक्त नपुंसक पतिवाली एवं पुत्रहीन विधवा के लिए नियोग से पुत्र उत्पादन की विधा को कैसे अस्वीकार

---

1. मनुस्मृति 9/105, 108-12।

कर सकता है? अनपत्यावस्था में विधवा से नियोग से पुत्र पैदा नहीं किया जायेगा और वह विधवा पुनर्विवाह नहीं करेगी तो ऊपर कथित मान्यताओं की पूर्ति कैसे होगी? यही कारण था कि मनु को क्षेत्रज संतान को मान्यता देनी पड़ी तथा नियोग विधान का वर्णन करना पड़ा। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मनु यौन सम्बन्धों में शुद्धता और सदाचार के बहुत पक्षपाती थे। वे स्त्री पुरुष के बीच अन्य व्यक्ति द्वारा किसी भी अवस्था में यौन व्यभिचार को सहन करने की स्थिति में न थे। परिणामतः उन्होंने नियोग से सम्बन्धित कठिन से कठिन नियमों का प्रतिपादन किया।

जो व्यक्ति इन नियमों का पालन नियोगी उस स्त्री को जिसके साथ नियोग किया है पुत्रवधू के समान समझने या आत्मसंयम रखने पर पथभ्रष्ट हो उसे गुरुतल्पगामी कहा। जिसका प्रायश्चित्त बताते हुए मनु[1] ने कहा गुरुतल्पगामी अपने पाप का वर्णन करता हुआ, लोहे की तप्त शैय्या पर शयन करें अथवा लोहे की नारीमूर्ति बनाकर अग्निवर्ण का तप्त करके उसका आलिङ्गन करे। इस प्रकार मरने पर वह पाप से छूटता है अथवा अपने उपस्थ और वृषण को स्वयं काटकर अंजलि में लेने और नैर्ऋत दिशा में तब तक दौड़ता रहे जब तक कि मृत्यु न हो जाय। दूसरी तरफ यदि कोई व्यक्ति व्यभिचारिणी की हत्या कर दे तो उसके प्रायश्चित्त में मनु[2] ने मात्र धर्मपुट, धनुष, बकरी और भेड़ का दान देकर हत्या पाप

---

1. मनुस्मृति 11/103-4।
2. मनुस्मृति 11/138

से मुक्त बताया है। इतनी व्यवस्थायें बताने के बाद भी संभवतः मनु को यह विश्वास नहीं हो पाया कि नियोग के बहाने एक बार यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेने वाला बाद में संयम रख पायेगा। अतः उन्होंने इसे पशु धर्म कहकर नियोग की निन्दा की। इसका परिणाम यह हुआ कि कतिपय अन्य स्मृतिकारों ने भी नियोग को निन्दित बताया और इस आपद्कालिक व्यवस्था को कलिवर्ज्य अर्थात् कलियुग में वर्जित बताया। वृहस्पति[3] ने भी मनु का सहारा लेकर कहा है कि कलियुग में लोगों में शक्तिहीनता आ जाएगी (यौन नियमों में संयम धारण करने सम्बन्धी शक्तिक्षीण) इसलिए क्षेत्रज पुत्र गर्हित है।

लोहितस्मृति[2] में विधवा द्वारा गर्भधारण और देवर से पुत्रोत्पत्ति को वर्जित बताया गया है। वृहस्पतिस्मृति[3] में नियोग की अपेक्षा ब्रह्मचारिणी

---

1. वृहस्पति स्मृति 25/16-17 नियोग मुक्त्वा मनुनानिषिद्धः स्वयमेव तु। युगह्रासदशक्तोऽयं कर्त्तुमन्यैविधानतः।। तपोज्ञान समायुक्ताः कृते तंत्रायुगे नराः। द्वापरे च कलौनृणां शक्तिहानिविनिर्मिता।। संकल्पेन कृताः पुत्राः ऋषिभियैः पुरातनैः। न शक्यतेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैर्नरैरित। क्षेत्रजो गर्हितः सदिभस्तथा पौनर्भवः सुतः। कानीनश्च सहोढ़श्च गूठजः पुत्रिका सुतः। दत्तोपविद्धः क्रीतश्च कृत्रिमोदत्रिमस्तथा।। (स्मृतिमुक्ताफल भाग 1 पृ0 102 पर वैद्यनाथ दीक्षित द्वारा उद्धृत।
2. लोहित स्मृति—श्लोकसंख्या 168-69
   चातुवर्ण्य विवाहोऽपि मांसेन श्राद्ध सत्क्रिया।
   अश्वालम्भो गवालम्भः भार्यान्तर परिग्रहः।। देवरादि सुतोत्पत्ति विधवागर्भधारणम्।
   एवमादीनि चान्यानि कर्माणि च कलौ क्षितौ।।
3. वृहस्पति स्मृति—25/15
   व्रतोपवास निरता ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता
   धर्मदान परा नित्यमपुत्राऽपि दिवं व्रजेत्।।

विधवा को स्वर्ग की अधिकारिणी बताया है। कलादर्श[1] में भी नियोग विरोधी कथन उपलब्ध है। क्रतु[2] स्मृति में भी नियोग की निन्दा की गयी है।

ऐसा नहीं कि मनु के बाद सभी स्मृतिकारों ने नियोग की निन्दा ही की हो, कुछ ने इसका समर्थन भी किया। याज्ञवल्क्य स्मृति में नियोग का विधान वर्णित है। याज्ञवल्क्य[3] ने सगोत्र या सपिण्ड देवर को गुरु की आज्ञा से घृतावृतगात्र होकर ऋतुकाल में गमन का विधान बताया है और यह कार्य गर्भ स्थिर होने तक विहित था। इसके बाद कामभाव से संयुक्त होने वाले की याज्ञवल्क्य[4] ने निन्दा की तथा युगल को पतित

---

1. कलादर्श प्रथमखण्ड पृ0 102 पंक्ति 28 "अपुत्रोभ्राता भ्रातृपुत्रसभवे तेनैव पुत्री कर्यान्नान्येनेति।।"
2. (क) क्रतु स्मृति स्मृतिशुक्ताफल भाग 1 पृ0 139 पर उद्धृत।
   देवरान्नसुतोत्पत्तिः दत्ताकन्या न दीयते।
   न यज्ञे गोवधः कार्यः कलौ न च कमण्डलुः
   स्मृति और बौधायन
   (ख) बौधायनस्मृति (स्मृति मुक्ताफल भाग 1 पृ0 139)
   देवरेण सुतोत्पत्ति गोमेधं च कमण्डलुम्।
   अक्षतां पौरुषं मेध्यं कलौ पंच विवर्जयेत्।।
3. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/68, 69
4. याज्ञवल्क्य स्मृति (व्यवहाराध्याय) 2/128
   औरसो धर्मपत्नीजरतत्समः पुत्रिकासुतः
   क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणतरेण वा।।2/128।।

बताया। इस प्रकार नियमित उत्पादित पुत्र को उन्होंने क्षेत्रज पुत्र कहा। धर्मपूर्वक नियोग विधि से उत्पादित पुत्र को याज्ञवल्क्य[2] ने दोनों (क्षेत्री तथा बीजी) का पिण्डदाता तथा रिक्थभागी माना है। टीकाकार विज्ञानेश्वर के अनुसार यदि नियुक्त देवर स्वयं भी पुत्रहीन हो और वह पुत्र रहित भाई की स्त्री में नियोग करे तब वह क्षेत्रज पुत्र द्वामुष्यायण होगा, किन्तु वह मात्र क्षेत्री के लिए संयोग करता है तो वह मात्र क्षेत्री का होगा और अपने पिता की सम्पत्ति का अंशहारी होगा। विज्ञानेश्वर याज्ञवल्क्य के नियोग सम्बन्धी नियम को मनु की तरह वागदत्ता विधवा के लिए ही मानते हैं। बौधायनस्मृति[3] में दायभाग में क्षेत्रजपुत्र को क्षेत्री तथा बीजी दोनों ही पिताओं का पिण्डतर्पणाधिकारी एवं रिक्थभागी बताया गया है।

नारदस्मृति[3] में भी पुत्रहीन पति के मरने की स्थिति में पुत्र की कामना करने वाली विधवाओं को गुरुओं द्वारा नियुक्त देवर से पुत्रोत्पत्ति की

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/127

   अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः।

   उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः।।

2. बौधायन स्मृति—दायभाग 20-21

   मृतस्य प्रसूतो यः क्लीव्याधितयोर्वाऽन्येनानुमते स्वे क्षेत्रे स क्षेत्रजः।

   स एष द्विपिता द्विगोत्रश्च द्वयोरपि स्वधारिक्थभाग् भवति।।

3. नारदस्मृति— 12/80-81

   अनुत्पन्नप्रजायास्तु पतिः प्रेयाद् यदिस्त्रियाः। नियुक्तागुरुभिर्गच्छेद् देवरं पुत्र काम्यया।।

   स च तां प्रतिपद्येत तथैवपुत्र जन्मतः। पुत्रे जाति निवर्तेत विप्लवः स्याद्ततोऽन्यथा।।

व्यवस्था दी। नारद[1] के अनुसार यह व्यवस्था वंश नाश को रोकने के लिए होनी चाहिए न कि काम भाव की पूर्ति के लिए। नियोग[2] में गुरु, उसके न होने पर राजा उसके न होने पर शिष्य के द्वारा नियोग का प्रकाशित रूप निश्चित किया जाना आवश्यक था। यदि[3] यह कार्य गुरुओं पर भाइयों के अनुमति के विना होता है तो वह जारकर्म कहा जाता है। इससे उत्पन्न पुत्र पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं माना जाता था।[4] वे दोनों[5] (देवर तथा विधवा) गुरुतल्पगामी पाप के भागी होते थे। नारद[6] ने इस प्रकार के कामी पुरुषों को राजा द्वारा दण्डित करने की व्यवस्था की है। पराशरस्मृति[7] में पति के जीवित रहते पर पुरुष द्वारा उत्पन्न पुत्र को कुण्ड कहा गया है। जिससे नियोग का समर्थन प्राप्त होता है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि नियोग में विधवा के देवर

---

1. नारदस्मृति 12/85-87
2. नारद स्मृति—12/80, 12/88

   अविद्यमाने तु गुरौ राज्ञो वाच्यः कुलक्षयः
   ततस्तद्वचनात् गच्छेदनुशिष्य स्त्रियं च सः।।

3. नारदस्मृति 12/83
4. नारद स्मृति 12/84
5. नारदस्मृति 12/85
6. नारदस्मृति 12/89-90

   पूर्वोक्त विधिना स्नातां पुंसवने शुचिः।
   सकृद्वा गर्भधानात वा कृते गर्भे स्नुषैव सा।।
   अतोऽन्यथा वर्तमानः पुमान् स्त्री वापि कामतः।
   विनेयो सृभृशं राजा किल्वीषी स्याद् निग्रहे।।

7. पराशर स्मृति 4/22-23

को ही प्रथम वरीयता प्राप्त थी। इसका कारण प्राचीन भारतीय समाज में रक्त सम्बन्धों में निकटता थी। दत्तक पुत्र को भी व्यर्थ माना गया है, क्योंकि उसका परिवार से कोई रक्त सम्बन्ध नहीं होता था देवर विधवा के पति के रक्त का सर्वाधिक निकट व्यक्ति, उत्पादित पुत्र विधवा का स्वयं रक्त सम्बन्ध होने के कारण एक तरफ विधवा को प्रिय था दूसरी तरफ परिवार के अन्य सदस्यों को भी प्रिय था।

नियोग के प्रचलन के प्रारम्भिक चरण में देवर को पुत्रोत्पादन में वरीयान था, बाद में यह सम्बन्ध आपत्तिजनक हो गया। स्मृतियों में नियोग को कर्तव्य भाव कहा गया, उसके लिए कठिन नियमों का विधान किया गया। बहुत सम्भव है परिवार में देवर और विधवा का नियोग के लिए किया गया सम्बन्ध कर्तव्य भाव से परे कामभाव के मार्ग पर अग्रसर हो गया हो।

मनोवैज्ञानिक ढंग से पति पत्नी का परस्पर एक दूसरे के ऊपर पूर्ण यौन स्वत्व बनाये रखना बहुत स्वाभाविक है। इस मनोवैज्ञानिकता के पीछे परस्पर दाम्पत्य प्रेम की प्रगाढ़ता भी स्वीकार की जा सकती है। व्यावहारिक रूप में परिवार में ही पत्नी से इतर अन्य स्त्री विशेषकर विधवा के साथ एक बार यौन सम्बन्ध हो जाने के बाद पुत्र पैदा होने के पश्चात् देवर और विधवा में माता और पुत्र जैसा या शिष्य और गुरुपत्नी जैसा व्यवहार बनाये रखना आदर्श की बात है। व्यवहार में अवश्य ही इसमें त्रुटि आयी होगी।

जिससे देवरानी और विधवा स्त्री में 'देवर' के स्वत्त्व को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ होगा। धीरे-धीरे देवरानियों ने विधवा स्त्री के साथ अपने पति द्वारा नियोग करना ठीक नहीं माना होगा तथा यह प्रथा निन्दित हो गयी। पूर्व मध्यकाल तक आते-आते जब विधवा पुनर्विवाह और नियोग दोनों का प्रचलन कम हो गया, तो कुछ विधवाओं ने सती प्रथा या विधवादाह को अपनाया और कुछ ने ब्रह्मचारिणी होकर तपस्विनी का जीवन बिताना उपयुक्त समझा।

# सतीप्रथा

भारतीय समाज में नारी की स्थिति अत्यन्त हेय रही है। यद्यपि उसे अर्द्धाङ्गिनी कहा जाता है, परन्तु वास्तविकता के धरातल पर उसे समानता का दर्जा कभी नहीं मिल पाया। इतिहास साक्षी है कि युगों-युगों से उसका शोषण होता आया है एवं आज भी कितना ही दावा किया जाय, कुछ अपवादों को छोड़कर उसे किसी प्रकार की स्वाधीनता सुलभ नहीं है। समाज में जितनी भी रूढियाँ प्रचलित हैं, उसका शिकार मुख्यतया नारियाँ ही होती आयी हैं व पुरुष वर्ग उससे अछूता ही रहता है।

धर्म के नाम पर नारियों के विरुद्ध जो अत्याचार होते आ रहे हैं, उसमें सबसे जघन्य कृत्य पति की मृत्यु पर उन्हें चिता पर झोंक देना है। इसके लिए जिन धर्मग्रन्थों की मिथ्या दुहाई दी जाती है, उसकी यथार्थता का चित्रण धर्मसूत्रों में प्राप्त होता है, वह हृदय विदारक है। विगत-पतिका भारतीय विधवा नारी के जीवन में सीमित विकल्प रह जाते थे। इन विकल्पों में प्रमुख थे, विधवा को पति के शव के साथ कब्र में दफना दिया जाना, पति की चिता के साथ जीवित जला देना, पति के अवशिष्ट उपकरणों के साथ भस्म कर देना, पति के छोटे भाई या अन्य किसी मान्यता प्राप्त पुरुष के साथ विवाह कर देना, नियोगविधि से संतानोत्पत्ति कर जीवित रहना, आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए पति की याद में स्वाभाविक मृत्यु तक जीवित रहना या वेश्या आदि बनकर जीवन व्यतीत करना इत्यादि।

प्राचीन भारत के स्त्री-दशा विषयक प्रायः आधुनिक सभी ग्रन्थों में पति के शव के साथ प्राणोत्सर्ग करने के लिए 'सतीप्रथा' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। इसी शब्द का प्रयोग युगल शवाधानों में दफनायी गयी स्त्री से लेकर पति के चिता पर बलात् या स्वेच्छया भस्म होने वाली विधवाओं, सभी के लिए किया गया है।

स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में सत् प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय करने से सती शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ पति परायणा साध्वी स्त्री, होता है। संस्कृत साहित्य में इस शब्द का प्रयोग वर्तमान क्रिया अर्थ में अनेकशः किया गया है।

भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद[1] में भी 'सती' शब्द का प्रयोग बहुत बार आया है। पाणिनीय[2] व्याकरण में 'सतीः' सती शब्द के द्वितीया बहुवचन का रुप होना चाहिए और सायण ने 'सतीन कंकत' को जलीय सर्प माना है। यजुर्वेद[3] के दो मंत्रों में सती एवं सतीः शब्द का

---

1. (i) ऋग्वेद 2/17/7
   "अमाजूरिव पित्रोः सवा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।"
   (ii) ऋग्वेद 4/3/9 "कृष्णा सती रुसता धार्षिनेषा जामर्येण पयसा पीपायः।"
   (iii) ऋग्वेद 4/47/20 "अगव्यूति क्षेत्रमागन्म देवा उर्वी सती भूमिरहूरणाभूत।"
2. ऋग्वेद 1/119/1 पर सायण भाष्य "सतीन्मित्युदकनाम्"
3. यजुर्वेद 6/35
   "मा भर्मा संविक्था उर्जत्स्वधिषणं वीड्वी सती वीऽयेथामूर्ज दधाथाम्"।
   यजुर्वेद 129/5 "ऋष्वाः सतीः कवषः शुम्भमाना द्वारा देवीः सुप्रायणा भवन्तु"।

प्रयोग किया गया है। यहाँ भी इन शब्दों का अर्थ (क्रियार्थ) में लिया गया है। इसी तरह के अर्थ का प्रयोग अथर्ववेद[1] में किया गया है। मात्र अथर्ववेद (12/3/26) में सतीः शब्द का प्रयोग जल की बूँदों के अर्थ में किया गया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण[2], तैत्तिरीय आरण्यक (6/1/2) एवं शतपथ ब्राह्मण (3/9/4/16-18) में सती शब्द का प्रयोग क्रिया अर्थ में है। छान्दोग्योपनिषद्[3] में सतीयं शब्द को ब्रह्म के अभिधान के रूप में प्रयोग किया गया है। इसकी व्याख्या में कहा गया है कि ब्रह्म का जो सतीयं नाम है उसमें 'स' अविनाशी है 'त' विनाशी है 'यम्' दोनों अक्षरों का नियमन करने वाला है। अतः यम् को इस प्रकार जानने वाला नित्यप्रति हृदय प्रस्थित ब्रह्म को पाता है।

वाल्मीकि[4], रामायण में सती शब्द का प्रयोग या तो पतिव्रता साध्वी स्त्री के लिए किया गया है या क्रिया अर्थ में। महाभारत[5] में सती शब्द

---

1. अथर्ववेद— 12/3/26. 12/4/16, 20/28/2, 20/39/3 और 12/3/26।
2. तैतिरीय ब्राह्मण 2/6/2/3 रेतो मूलं विजहाति। योनिं प्रविशदिन्द्रियम् गर्भो जरायुणाऽऽवृतः। उल्वं जहाति जन्मना। ऋतेन सत्यमिन्द्रियम्। वेदेन रुपे व्यकरोत् । सता सती प्रजापतिः।
3. छान्दोग्योपनिषद् 8/3/5
4. बाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड 12/76, 60/10, युद्धकाण्ड 33/32, सुन्दरकाण्ड 26/7, 30/8।
5. महाभारत आदि पर्व 96/47, 189/41, आरण्यकपर्व 65/35, विराटपर्व 15/21, 19/18, उद्योगपर्व 173/12

एक अच्छी गुणवती और विश्वासपात्र स्त्री के लिए किया गया है चाहे वह सधवा हो या विधवा। गृहसूत्रों धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में सती शब्द सच्चरित्रा स्त्री एवं क्रियार्थ में प्रयुक्त है। पुराणों[1] में सती शब्द का प्रयोग एक साध्वी पतिव्रता नारी के अर्थ में हुआ है। श्रीमद्भागवत् पुराण[2] में दक्षदुहिता शिवपत्नी का नाम सती बताया गया है। शिवपुराण[3] एवं मत्स्यपुराण[4] में इसी का पुनःउल्लेख किया गया है।

मत्स्यपुराण[5] में सती शब्द को आदि शक्ति के रूप में बताया गया है। विश्वामित्र एवं अङ्गिरा ऋषियों की पत्नियों के भी नाम सती थे। संस्कृत साहित्य[6] के उपकाव्यों, महाकाव्यों, गीतिकाव्यों, नाटकों एवं चरित-काव्यों में सती शब्द का प्रयोग तो सच्चरित्रा या पतिव्रता नारी के लिए किया गया है। राजतरंगिणी[6] में तो इन सती स्त्रियों के प्रभाव से असाध्य कार्यों

---

1. पुराणों में—भागवत पुराण 1/7/17, 1/18/18, 4/23/21-26पद्मपुराण—5/44/62, ब्रह्मवैवर्तपुराण 1/3/34, 1/27/18, 1/28/13 स्कन्दपुराण—4/4/26, 28, 55-58।
2. श्रीमद्भागवत् पुराण—4/1/47-48, 4/1/65, 4/2/1, 3, 4/3/5, 4/4/3, 4, 8, 4/6/22, 6/6/19
3. शिवपुराण— 14/23।
4. मत्स्यपुराण— 13/13
5. मत्स्यपुराण— 13/26-64
6. कुमारसम्भवम् 1/21, अभिज्ञान शाकुन्तलम् 5/17 राजतरंगिणी— 1/272, 2/55 कुमार संभवम् 4/1 कादम्बरी पूर्वाध पृ0 310।
7. राजतरंगिणी 1/320-22, 7/103, 7/477, 7/1385।

के साध्य होने का भी वर्णन किया गया है। इसी ग्रन्थ[1] में सती शब्द का प्रयोग विधवाओं और जो कामुकों के कामुक प्रयासों के विपरीत अपनी यौन शुद्धि बनाये रखने में सफल होती थी उनके लिए हुआ है।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्य में कहीं भी विधवा दाह के लिए सती-प्रथा शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। इस कार्य के लिए संस्कृत साहित्य में अनुमरण,[2] सहमरण, अनुगमन[3] सहगमन[4] या साहित्यिक शैली में प्रविशेत् हत्यवाहनम्, प्रविशेत् हुताशनम[5] समारोहेद्धुताशनम्, प्रविष्टाग्निं[6] वह्नौ प्रविष्टा,[7] मरणव्यवसाय,[8] ज्वलनप्रदेश व्यवसाय[9] तामादायमृतातु[10] या

---

1. राजतरंगिणी 6/139 तुलनीय स्कन्दपुराण—1/21/125
2. याज्ञ0 1/86 की टीका में विज्ञानेश्वर, गाथासप्तसती 5/7, 7/33, 5/99राजतरंगिणी 6/187, 195 2/57।
3. विष्णुस्मृति 25/14, शङ्खागिरस (अनुगच्छति) वसिष्ठस्मृति 7/76विष्णुपुराण 3/18/60 एवं 3/18/92 कुमार संभवम् 4/21 ।
4. हर्षचरित 5वाँ उच्छवास पृ0 273-74 (पत्यासार्धं गन्तुकामेव)
5. राजतरंगिणी 7/103, शंखागिरस् स्मृति (विज्ञानेश्वर द्वारा याज्ञ0 1/86 पर उद्धृत) विष्णु पुराण 5/38/1, 4।
6. राजतरंगिणी—5/227, वसिष्ठ 7/83 (अग्नि प्रवेशनं) 5/70, मृच्छकटिकम् अंक—10।
7. व्यास स्मृति 2/53, भागवतपुराण 4/23/22।
8. कुमारसंभवम् 4/45 (इत्थं रतेः किमपि भूतमदृश्यरुपं मन्दीचकार मरण व्यवसायबुद्धिम्।"
9. मृच्छकटिकम्—अङ्क 10, पृ0 586—"अहो सत्याः प्रभावः यतो ज्वलन प्रवेशत्यवसायेनवप्रियसमागमं प्रापिता।"
10. शंखागिरस स्मृति का वाक्यांश याज्ञ 1/86 की मिताक्षरा टीका।

भस्मीभूताबभूव सा,[1] चित्रभानुं प्राविशत्[2] आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

इसे इदमित्यंरूप में नहीं कहा जा सकता। पति का अनुगमन करने या विधवा के जलाने की प्रथा मूल रूप से भारतीय है। यह नरवध और अन्य तमाम प्राचीन नृशंस परम्पराओं में से एक है। विधवा को पति की चिता पर जलाने या पति के साथ कब्र में जीवित दफना देने की अमानवीय घटना मानव सभ्यता के किस चरण में देशकाल में व्यवहार में आयी? सती प्रथा वेदसम्मत नहीं है इस प्रथा को उत्तरवैदिक कालीन माना जा सकता है। डॉ0 पी0 वी0[3] काणे की धारणा है कि "वैदिक साहित्य में सती होने के विषय में न तो कोई निर्देश मिलता है और न कोई मंत्र प्राप्त होता है।

ऋग्वेद में कतिपय सूक्तों की रचना स्त्रियों ने की। यथा ऋग्वेद 8/18 की रचना अपाला एवं 10/39-40 की रचना घोषा ने की। अन्य विदुषी स्त्रियों में लोमशा, लोपामुद्रा, विश्वारा, सिकता, यमी, शची, श्रद्धा, जुहू-वाक्, सूर्या, इन्द्राणी, अर्चनाना, गौरवीति, असंगभार्या तथा शाश्वती प्रमुख

---

1. ब्रह्मवैवर्त पुराण 3/27/43
2. हर्षचरितम्, पांचवाँ उच्छवास पृ0 286, बाणभट्ट ने इस कृत्य के लिए वैश्वानरं विशति, (आठवाँ उच्छ्वास, पृ0 421-35) पावकं प्रवेशं अनुमरण पर्याकुला और पृ0 संख्या 273-74 पर "अनुमर्तुमिवोद्यतासु' आदि शब्दों का प्रयोग किया है।
3. पी0 वी0 कॉणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-1 पृ0 348।

है। महिलाओं की यह भूमिका स्वतः प्रमाणित करती है कि समाज में स्त्रियों का महत्वपूर्ण स्थान, सामाजिक प्रतिष्ठा एवं स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

अतः सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि वे विधवाएं, जो कदाचित् संतानोत्पादन हेतु अनुपयुक्त भी रही होंगी उन्हें भी आर्यों ने नहीं जलाया होगा, क्योंकि वे उनकी अन्य आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहयोगी सिद्ध हुई होंगी इसका समर्थन ऋग्वेद[1] के एक मंत्र से प्राप्त होता है जिसमें कहा गया है कि पति विहीन नारी के समान ही मुद्गल की पत्नी ने अपनी शक्ति के प्रयोग द्वारा पति के लिए धन कमाया।

रामायण[2] काल में विधवा स्त्री के सती होने का उल्लेख नहीं मिलता है। वस्तुतः रामायण काल में विधवा सहमरण व्यावहारिक स्तर पर सामान्य रूप से प्रचलन में नहीं रहा होगा, क्योंकि[3] रावण की सारी विधवाएं श्मशान तक शव का अनुगमन करती हैं, चिता की प्रदक्षिणा करती है, किन्तु कोई भी चितारूढ़ होकर पति का सहगमन नहीं करती। वाल्मीकिरामायण युद्धकाण्ड में[4] राम का कटा हुआ सिर मायावी ढंग से प्रस्तुत करने पर सीता[5]

1. ऋग्वेद—10/102/11, 10/102/11
2. नीलकंठ शास्त्री द्वारा सम्पादित "ए कम्प्रीहेंसिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" जिल्द 2 पृ0 480।
3. वाल्मीकि रामायण युद्ध काण्ड 111/111-12।
4. वाल्मीकि रामायण युद्ध काण्ड 31/41-45
5. युद्धकाण्ड 32/31-32 "साधुघातय मा क्षिप्रं रामस्योपरि रावण। समानय पतिं पत्न्या कुरुकल्याणमुत्तमम्। शिरसा में शिरश्चास्य कार्यँ कायेन योजयेत्। रावणानुगमिष्यामि गतिं भर्तुमहात्मनः।।"

रावण से निवेदन करती है उसका सिर काटकर उसके शरीर को पति के शरीर से युक्त करके पति की अवस्था में पहुँचा दें। उसका ऐसा करना कल्याणकारी कार्य होगा और वे पति का अनुसरण करने को उद्यत होती हैं। इस काल में सती प्रथा उच्च वर्ग में विशेष कर क्षत्रिय परिवार में प्रचलन में थी।

महाभारत में सती होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यथा-पाण्डु की मृत्यु पर कुन्ती स्वयं बड़ी होकर अपने को धर्मानुसार पति के साथ मरने एवं पति लोक में साथ निभाने के धर्मफल की अधिकारिणी बताती है और अवयस्क पुत्रों का भार माद्री पर छोड़कर स्वयं पति का अनुसरण करना चाहती है,[1] किन्तु माद्री का तर्क इतना प्रबल था कि कुन्ती को विचलित होकर बच्चों की देखरेख करनी पड़ी, क्योंकि अतृप्तकामा माद्री संभोग में अतृप्त पति की कामेच्छा को संतुष्ट करने हेतु यमसदन तक अनुगमन चाहती थी।[2] ऐसा कहकर वह (माद्री) चिताग्नि में प्रविष्ट हो जाती है।[3]

मौसलपर्व[4] में वसुदेव के देहत्याग करने पर उसकी चार पत्नियाँ

---

1. महाभारत के आदिपर्व 116/23-24 अहं ज्येष्ठा धर्म पत्नी ज्येष्ठं धर्म फलं मम्। अवश्यं भाविनो भावान्मा मां मादि्र निवर्तय। अन्वेष्यामीह भर्तारमहं प्रेतवशं गतं। उतिष्ठ त्वं विसृज्यैनमिमानक्षस्व दारकान्।।
2. महाभारत आदि पर्व 116/25-26
3. महाभारत आदिपर्व— 116/29-31, 117/28-29, 90/75, 118/21-22।
4. महाभारत मौसलपर्व 8/18

तं देवकी च भद्रा च रोहिणी मदिरा तथा।
अन्वारोढुं व्यवस्थिता भर्त्तारं योषितां वराः।।

देवकी, भद्रा, मदिरा एवं रोहिणी पति की चिता पर एक साथ बैठकर भस्म हो गयीं। श्रीकृष्ण के देहावसान पर उनकी (सोलह सहस्र)[1] विधवाओं में से सत्यभामा प्रभृति कुछ तो तप करने चली गयी[2] किन्तु रुक्मिणी, गान्धारी, शैव्या हैमवती और जाम्बवती ने इन्द्रप्रस्थ पहुँचकर पति का अनुसरण करते हुए अनुगमन किया।[3]

इन सहमरण के उदाहरणों के अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रसङ्ग (महाभारत आश्वमेधिक पर्व) प्राप्त हैं, जिनमें विधवाओं ने पति के साथ सहमरण का तो निश्चय किया, किन्तु सन्तान पालन या वंशवृद्धि हेतु अपने निश्चय को त्याग दिया। यथा—कुन्ती। उत्तरा ने तो प्रतिज्ञा की थी कि यदि उसके पति समरभूमि में मृत्यु को प्राप्त होगें तो वह उनका अनुसरण करेंगी।[4] अभिमन्यु के समर भूमि में मारे जाने पर उत्तरा ने शोकार्त होकर विलाप किया तथा प्राण त्यागने का निश्चय किया,[5] किन्तु गर्भिणी होने के कारण ऐसा न कर सकी।[6] इससे ज्ञात होता है कि गर्भवती स्त्रियों को पति की

---

1. महाभारत मौसलपर्व 8/73
2. महाभारत मौसलपर्व 8/72।
3. महाभारत मौसलपर्व—8/71, रुक्मिणी त्वथ गान्धारी शैव्या हैमवतीत्यपि।
   देवी जाम्बवती चैव विबिशुर्जातवेदसम्।।
4. महाभारत आश्वमेधिकपर्व 67/23
   गया चैतत्प्रतिज्ञातं रणमूर्ध्नि केशव।
   अभिमन्यौ हते वीर त्वामेष्याम्यचिरादिति।।
5. महाभारत 86/8-10
6. महाभारत आश्वमेधिकपर्व— 60/35 एवं 39, 77/28-33।

चिता के साथ सहमरण नहीं करने दिया जाता था।

बौद्ध साहित्य में भी विधवा दाह का उल्लेख बहुत कम है, किन्तु इस अभाव से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि इस युग में सामान्य स्त्री जाति या विधवाओं की स्थिति में कोई अभूतपूर्व परिवर्तन हो गया था या उन्हें पुनर्विवाह की एकाङ्गी स्वतन्त्रता मिल गई थी अथवा उन्हें पति की सम्पत्ति पर निविवादित उत्तराधिकार मिल गया था। एक[1] जातक में कहा गया है कि स्त्री का वास्तविक वस्त्र तो पति ही है। उसके न रहने से दस भाइयों के रहने पर भी वह अनावृत्त रहती है। इससे पति का महत्ता ज्ञात होती है।

भिक्षु संघ या भिक्षुणी संघ[1] की यह आदर्श स्थिति चिरस्थायी न रह सकी, एक तो अत्यन्त कठोर नियमों के कारण यह अप्रिय और अव्यवहारिक बनता चला गया दूसरे कुछ ने तो इस कठोर जीवन यापन की अपेक्षा आत्महत्या ही उपयुक्त समझा। बौद्ध[2] संघ में अनाचार व्याप्त हो गया। प्रायः लोगों ने अपनी कन्याओं का विवाह कम उम्र में करना प्रारम्भ कर दिया स्त्रियों की समाज में प्रतिष्ठा गिर गयी। जातकों में प्रायः स्त्री को हेय, निन्द्य और कामातुर प्राणी के रूप में ही चित्रित किया गया है। अतः भिक्षुणी संघ के पतन हो जाने के कारण पुनः विधवाओं

---

1. जातक संख्या 547
2. मोहन लाल महतो बियोगी की जातक कालीन संस्कृति पृ0 164-66
3. जातक कथा संख्या— 62, 65, 67, 107, 120, 125, 145, 193, 199, 220, 212, 262-63, 206-274, 436, 472 आदि।

को अपने पति की चिता पर भस्म होने के लिए बाध्य होना पड़ा होगा।

विष्णु धर्मसूत्र और पराशर स्मृति[1] में विधवा स्त्री के आत्मदाह एवं आजीवन ब्रह्मचर्य में से एक विकल्प को उचित बताया गया है। स्मृति ग्रन्थों में यत्र-तत्र सती प्रथा या विधवा दाह का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु कुछ स्मृतियों में इसका विरोध भी किया गया है। मनुस्मृति[2] का कथन है कि स्त्री को बाल्यकाल में पिता, यौवनावस्था में पति और पति के मर जाने पर पुत्र के अधीन रहना चाहिए। किसी भी दशा में नारी को स्वतन्त्रता नहीं प्रदान करनी चाहिए। मनुस्मृति के इस कथन से विधवा स्त्रियों के जीवित रहने का सङ्केत प्राप्त होता है।

मनु[3] साध्वी स्त्री के लिए पति को देवता तुल्य बताते हैं उसके जीवित एवं मृत दोनों अवस्थाओं में स्त्री द्वारा कुछ भी अप्रिय सम्पादित करने की अनुमति नहीं देते। पति की मृत्यु के बाद विधवा द्वारा ब्रह्मचर्य पालन से ही वे उसे ब्रह्मचारियों की तरह स्वर्ग फल प्राप्ति के अधिकारी बताते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि मनु विधवा दाह के पक्ष में न थे। विष्णु,

---

1. विष्णु धर्मसूत्र 25/14, पराशर स्मृति 4/31
2. मनुस्मृति 5/148

   बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
   पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्।।

   मनुस्मृति (9/4)

   कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः
   मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता।। मनु 9/4।।
3. मनुस्मृति 5/156, 160

व्यास, शंखाङ्गिरस, हारीत आदि ने विधवा दाह का समर्थन किया है।

व्यासस्मृति[1] का मत है कि पति के मरने पर पतिव्रता ब्राह्मणी को शव को गोद में लेकर अग्नि में प्रवेश करना चाहिए अथवा जीवित रहते हुए केशत्याग कर तप से शरीर का शोधन करना चाहिए। किसी भी अवस्था में उसे स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिए। वसिष्ठ स्मृति[2] के अनुसार साध्वी स्त्री के लिए पति का अनुगमन एवं चिता प्रवेश एक परम पुण्य एवं पातिव्रत धर्म परक कार्य है और इस कृत्य से नरक गामी पति भी अपनी विधवा के पुण्य से स्वर्ग सुख का भागी होता है।

शंखांगिरस[3] इस स्वर्गवास की अवधि साढ़े तीन करोड़ वर्ष बताते

---

1. व्यासस्मृति 2/53-54
2. वसिष्ठ स्मृति 5/66-73
   (i) आर्त्तार्ते मुदिते ह्रष्टा प्रोषिते मलिना कृशा।
   मृते म्रियते या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता।। 5/66
   (ii) साध्वीनामेष नारीणामग्नि प्रथेतनावृत्तो।
   नान्यो धर्मोऽस्ति विज्ञेयो मृते भर्त्तरि कुत्रचित्।। 5/67।
   (iii) तिष्ठते (न्वा) विवशोदीनो वेष्टमानः स्वकर्मभि
   व्यालग्राही यथा सर्प बलादुद्धरते विलात्।।
   (iv) तद्धद्भर्त्तारमादायं दिवं याति ततो बलात्।।
   तत्रसा मुत्रपरमा स्तूयमानाप्सरो गणैः।।
   मोदते पतिना सार्द्ध यावदिन्द्राश्चतुर्दश।।
   (v) तिस्र कोटयोऽर्ध कोटीश्च यानि रोमाणि तानि च।
   तावद्वर्ष सहस्राणि स्वर्गलोके महीयते।।
3. शङ्खागिरस विज्ञानेश्वर द्वारा याज्ञ0 1/86 की टीका में उद्धृत पराशर स्मृति 4/32-33

हैं। उनका यह भी मत है कि जब तक विधवा स्त्री अपने पति का अनुसरण करती हुई अपने को अग्नि में प्रज्वलित नहीं करती तब तक वह स्त्री शरीर से मुक्त नहीं होती। हारीत[1] के अनुसार जो स्त्री पति के दुःखी होने पर दुःखी, प्रसन्न होने पर प्रसन्न, प्रव्रजित् होने पर मलिन एवं दुर्बल तथा मृत होने पर अनुमरण करती है, वही पतिव्रता है। इस तरह अनुगमन करने वाली विधवा अपने पुण्यों से माता, पिता तथा पति तीनों ही कुलों को पवित्र करती है।

वृद्धहारीत[2] का मत है कि यदि पति की मृत्यु के अवसर पर पत्नी रजस्वला है, तो उसे ऋतुस्नान के बाद चिता में प्रवेश करना चाहिए। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर इस अनुमरण को गर्भिणी, छोटी संतान वाली विधवाओं को छोड़कर अन्य चाण्डाल पर्यन्त, सभी विधवाओं के लिए साधारण धर्म बताते हैं। यम स्मृति[3] में विधवाओं के लिए कहा गया है कि या तो वे पति की चिता में प्रविष्ट हो जाय अन्यथा सिरमुण्डन करवा कर संन्यासिनी हो जाय। इसी का समर्थन विष्णुस्मृति में किया गया है।

---

1. हारीत स्मृति (याज्ञ0 1/86 विज्ञानेश्वर द्वारा टीका में उद्धृत)

   मातृकं पैतृकं चापि यत्र चैव प्रदीयते।
   कुलत्रयं पुनात्येषा भर्त्तारंयानुगच्छति।।

2. वृद्धहारीत (जीवानन्द भाग 1 पृ0 397 पर उद्धृत)

   मृते भर्तरि या नारी भवेद्यादि रजस्वला।
   चिताग्निसंग्रहे तावत् स्नात्वा तस्मिन् प्रवेशयेत्।

3. यमस्मृति 2/53 और विष्णुस्मृति 25/14

अङ्गिरा[1] ने तो बहुत स्पष्ट कहा है, मृत भर्तृका स्त्री के लिए अग्नि में पतन के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। जब तक वह अग्नि में प्रवेश कर अपने को भस्म नहीं करती तब तक स्त्री शरीर से मुक्त नहीं होती। प्रायः स्मृतिकारों की यह धारणा रही है कि स्त्री योनि पाप कर्मों का परिणाम है। व्यास[2] ने तो अनुमरण करने वाली नारी को पति के पाप का हरण करने वाली कहा है। यही नहीं, पति चाहे ब्रह्महत्या के पाप से पीड़ित हो या कृतघ्न अथवा मित्र हत्यापराध से पीड़ित हो, सहमरण करने वाली स्त्री अपने पुण्य से पति के पापों का नाश कर देती है।

अपरार्क[3] ने यह बहुत रोचक प्रसङ्ग उठाया है कि यदि कर्मफल में विश्वास भी किया जाय तो पति के पाप भागी होने पर वह पत्नी द्वारा किए गये पुण्यों का भागी कैसे हो जाता है? इसके समाधान में बृहस्पति[4] का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि पति का जो सुख समवाय है,

---

1. अङ्गिरा स्मृति (अपरार्क द्वारा पृ0 109 पर उद्धृत) सर्वासामेव नारीणामग्नि प्रपतनादृते। नान्योधर्मो हि विज्ञेयो मृते भर्तरि कर्हिचित्।। यावन्नाग्नौ दहेद्देहं मृते पत्यौ पतिव्रता। तावन्न मुच्यते नारी स्त्री शरीरात्कथंचन।। सद्धत्त भावाश्रितभर्तृकाणां स्त्रीणां वियोगक्षतकातराणाम्। तासां प्रभावस्तमिते गते कं नाग्नि प्रवेशाद्परोऽस्ति हरेदघम्।।
2. व्यासस्मृति (अपार्क द्वारा पृ0 110 पर उद्धृत)
   मृता हरेदग्निमन्वारूढ़ा हरेदघम्।
   भर्तुर्धनमभावे तु जीवन्ती सत्सु बन्धुषु।।
   ब्रह्मघ्ने वा कृतघ्ने वा मित्रघ्ने यच्च दुष्कृताम्।
   भर्तुः पुनाति सा नारी तमादाय मृता तु या।।
3. याज्ञ0 स्मृति आचाराध्याय (2/87 पर अपरार्क की टीका)
4. बृहस्पति स्मृति
   शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा।
   अन्वारुढ़ा जीवन्ती च साध्वी भर्तुर्हिताय सा।।

वह तो पति के धर्म से जनित है। उस पर उसके पापों का जो बंधन लग जाता है उसे पत्नीकृत धर्म क्षीण कर देता है। पुनश्च पत्नी को शरीर का आधा अंश माना जाता है। पुण्य और पाप दोनों में उसे बराबर हिस्सा मिलता है। अर्थात् पति के पुण्य, पाप और पत्नी के पुण्य पाप दोनों सम्मिलित होकर एक होते हैं। पुनः उसके बराबर के भागी स्त्री पुरुष दोनों होते हैं इसी सिद्धान्त से पति द्वारा ब्राह्मण मित्र की हत्या का पाप पत्नी द्वारा कृत पुण्य राशि से क्षीण हो आता है, और अवशिष्ट पुण्य का भोग पत्नी पति दोनों स्वर्ग में करते हैं।

स्मृतिकारों ने न केवल विधवा दाह की विवेचना की है बल्कि यह व्यवस्था भी की वर्णक्रम के अनुसार यह प्रयास किया है कि किन किन वर्णों की विधवाओं के लिए उपयुक्त है और किन के लिए अनुपयुक्त। इसीक्रम में ब्राह्मणी विधवा को पैठीनसि, विराट, अङ्गिरा, उशना, व्याघ्रपाद जैसे कुछ स्मृतिकारों[1] ने सहमरण से रोकने का प्रयास किया है और यह

---

1. पैठीनसि तथा विराट् (विज्ञानेश्वर द्वारा याज्ञवल्क्य आचाराध्याय 86 की व्याख्या में उद्धृत)

   अनुवर्तेत जीवन्तं न तु यायान्मृतं पतिम्।
   जीवेद्भर्तुर्हितं कुर्यान्मरणादात्मघातिनी।।

   अङ्गिरा स्मृति— या स्त्री ब्राह्मण जातीया मृतं पतिमनुब्रजेत्
   सा स्वर्गमात्मघातेन नाऽऽत्मान न पतिं नयेत्।

   व्याघ्रपाद— न म्रियेत समं भर्त्रा ब्राह्मणी शोकमोहिता।
   प्रव्रज्यागतिमाप्नोति मरणादात्मघातिनी।।

   उशनास्मृति— पृथक् चितिं समारुह्य न विप्रागन्तुमर्हति।
   अन्यासां चैव नारीणां स्त्रीधर्मोऽयं परःस्मृतः।।
   मृतानुगमनं नास्ति ब्राह्मण्या ब्रह्मशासनात्
   इतरेषु तु वर्णेषु तपः परमुच्यते।।
   जीवन्ती तद्धितं कुर्मान्मरणादात्मघातिनी।

भी बताया है कि ब्राह्मणी विधवा के सहमरण से आत्महत्या का पाप होता है, जिससे वह स्वयं और अपने पति को स्वर्गलाभ से वंचित कर देती है। ब्राह्मणी स्त्री को पृथक चिता पर भी भस्म होने (अनुमरण विधि) का विधान नहीं था। ''पृथक् चितिं समारूह्य न विप्रा गन्तुमर्हति'' इस वाक्य से ब्राह्मणेतर वर्णों की विधवाओं के अनुमरण का समर्थन हो जाता है।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ब्राह्मणी विधवा को सहमरण अनुमरण से रोका क्यों गया था ? मात्र ब्राह्मणी के सहमरण या अनुमरण से ही आत्मघात होता है ? अन्य वर्ण की विधवाओं के सहमरण या अनुमरण से नहीं ? इसका कोई संतोषजनक उत्तर धर्मशास्त्रों में उपलब्ध नहीं है। अपरार्क तो यही कहकर इति करते हैं कि यदि ब्राह्मणी विधवा शोकपूर्वक सहमरण या अनुमरण करती है, तो इसमें दोष है, किन्तु यदि स्वेच्छा से सहर्ष करती है तो कोई दोष नहीं है। अङ्गिरा[1] इसे (सहमरण और अनुमरण) मोह की संज्ञा देते हैं और मोह से प्राणत्याग करने वाला पाप का भागी होता है। उन्होंने इस पर प्रायश्चित्त का भी विधान किया है।

यहाँ विधवाओं को सहमरण या अनुमरण से इसलिए भी रोका गया कि सहमरण करने वाली विधवा स्वर्ग की अधिकारिणी थी, जबकि मोक्षार्थी नहीं थी। क्योंकि मोक्ष के समक्ष स्वर्ग हीन और अनित्य है इसलिए मोक्षार्थी को स्वर्ग की इच्छा से आत्मघात करने से रोका गया है। उसे तो नित्य नैमित्तिक कर्मकाण्डों से अन्तःकरण के पापों को नष्ट करते हुए सतत् श्रवण

---

1. अङ्गिरस स्मृति 185-191

मनन द्वारा सत्य ज्ञान स्वरुप ब्रह्म की साधना करनी चाहिए। अतः मोक्षार्थी विधवा को अनुमरण या सहमरण नहीं करना चाहिए और मात्र स्वर्ग से सन्तुष्ट होने वाली विधवा के लिए अनुमरण या सहमरण युक्ति-युक्त है।

पुराणों में विधवा दाह (सती प्रथा) के उदाहरणों का बाहुल्य है। पुराणों का काल 400 ई0 माना जाता है तब तक विधवा दाह (सती प्रथा) जनसाधारण में प्रचलन में आने लगी थी। कुछ पौराणिक उद्धरण तो नितान्त काल्पनिक एवं बाद के परिवर्धन मात्र हैं। जैसे महाभारत स्वयं यादव विधवाओं के लिए मौन है किन्तु पद्मपुराण[1] में उनके पति के साथ जलने का वर्णन है। भागवत् पुराण[2] में वानप्रस्थी पृथु के प्राणान्त होने पर उनकी सहचारिणी विधवा पत्नी ने स्वयं पति की चिता का निर्माण कर समयोचित कृत्यों का सम्पादन करती हुयी पति के शव के साथ अग्निप्रवेश किया। मत्स्यपुराण[3] का मत है कि पति सत्यवान् का अनुगमन करती हुई सावित्री यही यमराज से कहती है कि साध्वी स्त्री के लिए

---

1. पद्मपुराण उत्तरकाण्ड अध्याय 279
2. भागवत् पुराण 4/23/21-22
3. मत्स्यपुराण—210/17-20

   पतिर्हि दैवतं स्त्रीणां पतिदेव परायणम्। अनुगम्यः स्त्रिया साध्व्या पतिः प्राणधनेश्वरः। मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः। अमितस्य प्रदातारं भर्त्तारं का न पूजयेत्। नीयते यत्र भर्त्ता मे स्वयं वा यत्र गच्छति। मयाऽपितत्रगन्तव्यं यथाशक्ति सुरोत्तम। पतिमादाय गच्छन्तमनुगन्तुमहं यदा। त्वां देव न हि शक्ष्यामि तदा त्यक्षामि जीवितं। मनस्विनी तु या काचित् वैधव्याक्षर दूषिता। मुर्हूतमपि जीवेत् मण्डनार्हाह्मण्डिता।।

उसका पति ही उसका भविष्य होता है। सत्यवान् के प्राणों को ले जाते हुए यमराज का अनुगमन करती हुई कहती है कि जब आप अदृश्य हो जायेगें तो मैं अपने प्राणों का परित्याग कर दूँगी, क्योंकि कोई भी मनस्विनी स्त्री वैधव्य अक्षर से दूषित होकर मूहूर्त भर भी जीना पसन्द नहीं करेगी।

लौकिक साहित्य में भी विधवा दाह (सतीप्रथा) का वर्णन मिलता है। कुमामसंभवम्[1] में कामदेव की मृत्यु के बाद उसकी विधवा रति मूर्छित हो जाती है। इस मूर्च्छा को वह विधवा अपने पति के साथ मरने में बाधा स्वीकार करती है तथा इस लोकापवाद[2] के लिए पश्चाताप व्यक्त करती है कि वह पति का सद्यः अनुगमन न कर सकी, इसलिए वह अनुमरण[3] का निश्चय करती है। इस कार्य[4] में सहायतार्थ वह अपने पतिसखा बसंत से चिता निर्माण एवं अग्नि प्रज्वलन हेतु निवेदन करती है।

शूद्रक की मृच्छकटिकम्[5] (जिसका रचना काल 500 ई0 माना जाता

---

1. कालिदास कृत कुमारसंभवम् 4/10
2. कुमारसंभवम् 4/21
   मदनेन विनाकृता रतिः क्षणमात्रं किल जीवतेति मे।
   वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमण, त्वमानुयामि यद्यपि।।4/21।।
3. कुमारसम्भवम् 4/28-33-34
4. कुमारसम्भवम्— 4/32, 35, 36
5. मृच्छकटिकम् अंक 10, एसा अज्जचालुदत्तस्य बहुआ अज्जा धूता पदेवसणचले विलग्गतं अं आक्खिवंती वात्फ भरि........ पविसदि।।"

है) के दशवे अङ्क में चारुदत्त की पत्नी (आर्याधूता पति के मृत्यु दण्ड की बात सुनकर) के अग्नि प्रवेश करने का वर्णन किया गया है। जिसमें रानी के साथ उसकी सेविका और पुत्र रोहसेन तथा सेवक भी अग्नि प्रवेश की इच्छा करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि स्वामी या स्वामिनी के साथ उसके सेवक आदि अग्नि प्रवेश करते थे उनकी यह धारणा रही होगी कि पुनर्जन्म में हम सभी साथ रहेगें।

हर्ष कृत नागानन्द[1] में भी सहमरणोद्यत जीमूतवाहन की विधवा मलयवती के भावोद्रेक का वर्णन है। हर्षकृत प्रियदर्शिका[2] में विंध्यकेतु की विधवाओं का अनुमरण का उल्लेख है। भट्टनारायण कृत वेणी संहार[3] नाटक में राक्षस पात्र द्वारा भीम सुयोधन युद्ध में भीम की मृत्यु का मिथ्या समाचार देने पर युधिष्ठिर और द्रोपदी दोनों मूर्छित हो जाते हैं और द्रोपदी भीम का अनुसरण करना चाहती है। वह युधिष्ठिर से क्षत्रिय नारी द्वारा पालनीय धर्म के अनुसार चिता प्रज्वलन हेतु निवेदन करती है। अतः स्पष्ट है कि दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच उत्तर भारत की वीर क्षत्रिय और लड़ाकू जातियों की ही नहीं अपितु निम्नवर्ग की विधवा स्त्रियों ने

1. हर्ष नागानन्दम् पृ0 146, देहि मे आर्यपुत्रस्य चूडारत्नं ये नेदं हृदयेकृत्त्वा ज्वलनप्रवेशेनात्मनः संतापभयनयामि।।
2. हर्षकृत प्रियदर्शिका प्रथम अङ्क पृ0 9
3. भट्ट नारायण, वेणीसंहार अङ्क 6, पृ0 283, 287

   नाथ भीमसेन त्वया किल मे केसाः संयितव्याः न युक्तं वीरस्य क्षत्रिमस्य प्रतिज्ञातं शिथिलयितुं। तत्प्रतिपालय मां यावदुपसर्पामि।।
   अयिरगतमार्य पुत्रमनुगमिष्यामि। महाराज अदीपय चितां त्वमपि।।

भी पति का सहगमन किया। यद्यपि शूद्र वर्ग में विधवाओं के सती होने के उदाहरण कम मिलते हैं, क्योंकि उनमें पुनर्विवाह की सामान्य रूप से मान्यता थी।

## विधवादाह या सतीप्रथा के कारण

विधवास्त्रियाँ मृत पति के शव के साथ क्यों जल जाया करती थी? प्रायः जीवन को मृत्यु में बदल देने के पीछे भावनाओं का एक भयंकर तूफान हुआ करता है। मानव चिंतन समय और परिस्थितियों के सापेक्ष्य परिवर्तित होता रहता है। नित नयी भावनायें जन्म लिया करती हैं और कभी-कभी ये लोकप्रसिद्ध मान्यता का भी रूप धारण कर लेती हैं। एक विश्वास ऐसा था कि पति को मृत्यु के बाद परलोक में या दूसरे जन्म में भी पत्नी सहित समस्त उन्हीं सामग्रियों की आवश्यकता होगी जिसकी उसे इस जीवन में होती है। परिणामतः मृतक की स्थिति के अनुरूप (उसकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति के अनुरूप) उसकी कब्र में उसकी विधवा स्त्री, दैनिक उपभोग एवं भोग-विलास की सामग्री नौकर-चाकर आदि के रखने की परम्परा प्रारम्भ हुई होगी।

स्वेच्छा से मृतपति के शव के साथ जलने के विधवा के प्रयास के पीछे स्त्री का पति के प्रति अटूट लगाव भी महत्त्वपूर्ण रहा होगा। स्मृतिकाल[1] में स्त्री के लिए दाम्पत्य आदर्श की ऐसी मान्यता प्रस्तुत की

---

1. मनुस्मृति 5/154-55 निर्णयसिन्धु पृ0 117-18, विष्णुस्मृति 25/15-17, वसिष्ठ स्मृति 5/31, व्यासस्मृति 2/19 अङ्गिरास्मृति 5/40, कृत्यकल्पतरू पृ0 627-29।

गयी थी कि पति-पत्नी का सम्बन्ध केवल एक जन्म का न होकर अनेक जन्मों तक का होता है। स्त्री को अपने जीवनकाल में वही करना चाहिए, जो उसके पति को प्रिय हो। पति से पृथक उसे पूजा, जप, तप, व्रत, उपवास की भी आवश्यक नहीं, क्योंकि पति ही उसका पूज्य एवं उपास्य होता है।

इस प्रकार धीरे-धीरे भारतीय स्त्री के लिए पति का स्थान देवता तुल्य हो गया। इस पातिव्रत आदर्श की चरम पराकाष्ठा इस रूप में प्रतिष्ठित हुई कि पति के मरने के बाद भी उसकी सेवा शुश्रूषा हेतु पत्नी को मृतपति के शव के साथ, उसके मरने की दृढ़ संभावना जानकर उसके मरने के पूर्व या मरने का समाचार सुनकर अग्नि में प्रवेश कर पति का अनुगमन करना चाहिए। बाद में धर्मशास्त्रकारों[1] ने स्त्रियों के इस कार्य के अनेक धार्मिक एवं आध्यात्मिक पुण्य बताये और कहा कि पत्नीकृत पुण्य से पति के पाप समवाय का नाश होता है। दक्षस्मृति[1] में कहा गया है कि—

*मृत्ते भर्तरि या नारी समारोहेद्धुताशनम्*

*सा भवेन्तु शुभाचारा स्वर्गलोके महीयते।।* (दक्षस्मृति)

पुराणों[3] में पति की चिता पर जलने वाली विधवा के ऊपर पुष्प वर्षा, देवदूतों के साथ ले जाना पति के साथ नाना भोगों का काल्पनिक

---

1. परांशर स्मृति— 4/33, बृहत्पराशर स्मृति (जीवानन्द भाग 2 पृ0 182 पर उद्धृत)।
2. दक्षस्मृति (जीवानन्द भाग 2 पृ0 391 पर उद्धृत)।
3. मत्स्यपुराण 97/19, विष्णु पुराण 3/18/93-94 भागवत्पुराण 4/23/23-29।

वर्णन है। स्कन्दपुराण[1] में विधवा के सती होने का पुण्य अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान के बराबर बताया गया है। पति[2] के दिवङ्गत होने पर एक तो स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार नहीं रहता था, उसे कठोर वैधव्य जीवन व्यतीत करने की सलाह दी गयी थी। समाज में वह निरन्तर हेय अवाञ्छित होकर वैधव्य के दुःसह दुःखों की कल्पना, स्वर्गप्राप्ति की इच्छा से आत्मदाह करना उचित समझा होगा।

भारतीय विधवा नारी एक लम्बे समय तक परिवार में भरण पोषण की अधिकारिणी मानी जाती थी। बाद में पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की भी उत्तराधिकारिणी हो गयी। उस सम्पत्ति पर आसानी से नियंत्रण स्थापित करने और धार्मिक प्रेरणा देकर सहमरण (अनुमरण) को प्रोत्साहित किया। एक तरफ तो सम्बन्धियों का सम्पत्ति पर अधिकार हो गया दूसरी तरफ उसके रहन-सहन पर होने वाले व्यय से मुक्ति मिल गयी।[4]

मध्यकाल में जब भारत में विदेशी आक्रमणों का बाहुल्य हुआ तो विदेशियों से अपनी शील रक्षा के भाव से युद्धों में अपने पतियों के मृत्यु की संभावना निश्चित जानकर स्त्रियों ने जौहर विधि से आत्मदाह करना

---

1. स्कन्दपुराण, ब्रह्मारण्यखण्ड—

   अनुव्रजन्ती भर्त्तारं गृहात् पितृवनं मुदा।

   पदे-पदे अश्वमेधस्य फलं प्राप्नोत्यशंसयम्।।

2. महाभारत आश्रमपर्व 41/17-25, स्वर्गारोहणपर्व 4/16, 5/12, 5/21

3. जनरल हार्वी, 'सम रिकार्ड्स ऑफ क्राइम' भाग 2 पृ० 506।

प्रारम्भ कर दिया था।[1] पति की चिता पर आत्मदाह करने के पीछे एक महत्वपूर्ण कारण पति से पत्नी का अनुराग प्रतीत होता है। विधवा अपने पति के न रहने पर अपना जीवन ही व्यर्थ समझकर उसको समाप्त करने के लिए स्वयं आत्मदाह करती थी।

---

1. उपेन्द्र ठाकुर 'दि हिस्ट्री ऑफ स्यूसाइड इन इण्डिया' पृ0 162
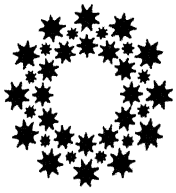
पञ्चम अध्याय

# वर्तमान में नारी के परिप्रेक्ष्य में स्मृति वचनों की उपादेयता
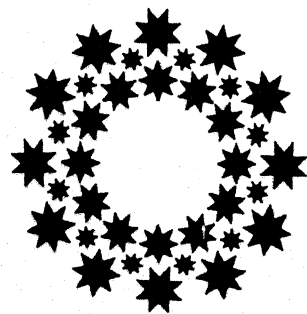
# वर्तमान परिप्रेक्ष्य में स्मृतिवचनों की उपादेयता

स्मृतियाँ हमारे देश के बहुसंख्यक समाज के व्यक्तिगत और सामाजिक ढाँचे की आधारश्म रही हैं। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त व्यक्ति के जीवन में कब क्या करणीय है ? अथवा क्या अकरणीय है ? इन सबका विधान स्मृतिग्रन्थों में देखने को मिलता है। समाज का मूल संघटक तत्त्व व्यक्ति है, इसलिए व्यक्तिगत जीवन की अच्छाई और बुराई सामाजिक ताने-बाने को भी प्रभावित करती है। व्यक्ति के समुचित विकास के द्वारा ही समाज का सम्यक् विकास होता है। इसलिए स्मृतिकारों ने व्यक्ति निर्माण पर अधिक जोर दिया। षोडश संस्कारों के प्रतिपादन के मूल में स्मृतिकारों की यही दृष्टि रही है।

समस्त स्मृतियाँ अपने काल का प्रतिनिधित्व करती हैं। उस युग में किस प्रकार के नियमों की आवश्यकता थी, उसी के अभाव की पूर्ति इन स्मृतिग्रन्थों द्वारा होती है, किन्तु स्मृतियों के समस्त विधान उसी रूप में आज भी प्रासङ्गिक हो यह आवश्यक नहीं है। संस्कृत साहित्य के क्रान्तदर्शी महर्षि महाकवि कालिदास ने भी समस्त प्राचीन मान्यताओं की युगानुकूल व्याख्या पर ही बल दिया है, उन्हीं के शब्दों में...........

*"पुराणमित्येव न साधु सर्वम्"*
*न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।*
*सन्तः परीक्ष्यान्यप्तरद् भजन्ते*
*मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।।* (मालविकाग्निमित्रम् 1/2)

प्राचीन स्मृतिवचन आज के बदलते समाज में कितने उपादेय हैं, इस पर विचार करना प्रत्येक जिज्ञासु का परम कर्तव्य हो जाता है। मैंने भी इसी दृष्टि से नारी के विषय में स्मृतियों में उपलब्ध मान्यताओं को वर्तमान युग की निकषा पर परखने की कोशिश की है, जो निश्चित रूप से सुधीजनों को सन्तुष्ट करेगा।

## संस्कार

स्मृतियों ने व्यक्ति निर्माण की दृष्टि से षोडश संस्कारों का विधान किया है, इनके नाम है—(1) गर्भाधान, (2) पुंसवन, (3) सीमन्तोन्नयन, (4) जातकर्म, (5) नामकरण (6) निष्क्रमण, (7) अन्नप्राशन, (8) चूडाकर्म, (9) कर्णवेधन, (10) विद्यारम्भ, (11) उपनयन, (12) वेदारम्भ, (13) केशान्त अथवा गोदान, (14) समावर्तन, (15) विवाह, (16) अन्त्येष्टि।

मनु ने जातकर्मादि समस्त संस्कार स्त्रियों के लिए अमन्त्रक (मन्त्ररहित) करने की व्यवस्था दी है। केवल स्त्रियों के विवाह सम्बन्धी जो विधि है, वही मन्त्रपूर्वक करने का विधान मनु ने किया है।[1] मनु की इसी व्यवस्था का समर्थन महर्षि याज्ञवल्क्य भी करते हैं।[2]

---

1. मनुस्मृति— 2/66-67

   अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
   संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्।।66।।
   वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
   पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया।।67।।

2. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/13

स्मृतिकाल के प्रतिपादक ये संस्कार वर्तमान समाज में प्रायः अप्रासङ्गिक हो चले हैं। मुख्यतया संस्कार के रूप में पुंसवन और सीमन्तोन्नयन शायद ही किसी के द्वारा सम्पादित किये जाते हों। नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन और चूडाकर्म संस्कार समाज में किसी न किसी रूप में आज भी प्रचलित हैं, किन्तु जिस उत्साह से ये संस्कार पुरुष शिशुओं के किए जाते हैं उसी उत्साह से ये संस्कार स्त्री शिशुओं के लिए होना अपवाद स्वरूप ही हैं। जब स्त्रियों के लिए संस्कार होना ही प्रचलन में नहीं है तो अमन्त्रक संस्कार का विधान ही अप्रासङ्गिक लगता है। चूँकि मनु और याज्ञवल्क्य ने विवाहेतर स्त्री संस्कारों को अमन्त्रक कहा है। इसीलिए पश्चवर्ती समाज में नारियों के लिए संस्कारों का महत्त्व घटता गया और वह आज केवल अपवादस्वरूप दिखायी देता है।

स्मृतिकारों ने नारियों के लिए उपनयन संस्कार की व्यवस्था दी ही नहीं है। मिताक्षराकार तो नारियों के लिए विवाह को ही उपनयन संस्कार मान लेते हैं।[1]

प्रकृति के चक्र को चलाए रखने में स्त्री की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, इसे किसी दृष्टि से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्राचीन सभ्यताओं (ऋग्वैदिक काल) और स्मृतिकाल में प्रचुर मात्रा में ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं कि (नारी की) प्रजनन क्षमता के चलते स्त्री शक्ति की पूजा की जाती रही है। स्मृतियों में स्त्रियों का कार्यक्षेत्र सदियों से घर समझा जाता था।

---

1. याज्ञवल्क्य/मिताक्षरा 1/15 "उपनयन स्थानीयात्त्वाद्विवाहस्य।"

घर के बाहर की दुनिया से भी उसका कोई सम्बन्ध हो सकता है, इस पर मानव समाज ने कभी विचार नहीं किया। विवाह करना, पति की आज्ञा का पालन करना और सन्तानोत्पत्ति, यही उनके जीवन का ध्येय माना गया था। स्मृतिकाल में नारी की स्थिति जड, स्थिर तथा अमानवीयता के चरम पर थी। सारा सामाजिक ढाँचा पुरुष स्त्री असमानता पर आधारित था। रूढि परम्परा रीति-रिवाज तथा धर्म के नाम अनेक बुराइयाँ समाज में प्रचलित थी। ऐसे परिवेश में शताब्दियों से नारी पददलित एवं समाज में नारियों को पुरुषों के समक्ष हमेशा द्वितीय श्रेणी का दर्जा दिया जाता था। सदियों से शोषण एवं अत्याचार ने नारी की दशा को पतनोन्मुख एवं अत्यधिक शोचनीय बना दिया। अधिकांश नारियाँ उन मूक पशुओ की तरह थी जिनकी न कोई भावना थी, न कोई इच्छा थी और न कोई स्वतन्त्र अस्तित्व था।

नारी के स्वतन्त्र, आत्मनिर्भर स्वयं में पूर्ण ईकाई के अस्तित्त्व को पुरुष संचालित समाज ने निरन्तर अवहेलना की दृष्टि से देखा। स्वयं नारी भी अपनी स्थिति के प्रति अज्ञानता का शिकार रही और इस दयनीय स्थिति को उसने अपनी नियति माना। इन समस्याओं के मूल में था नारी का अशिक्षित होना, जो पुरुष प्रधान समाज की मानसिकता के कारण नारी पर थोप दिया गया था।

आज की नारी हर क्षेत्र में अपनी पहचान बना रही है। घर हो या बाहर वह ज्यादा आत्मविश्वास से युक्त अपना या अपने परिवार के विषय

में निर्णय लेने में सक्षम है और यह सब संभव हुआ है स्त्री के शिक्षित होने के कारण। कहा भी गया है कि यदि एक बालक को शिक्षित किया जाय तो वह सिर्फ अकेला शिक्षित है जबकि एक लड़की/बालिका को शिक्षा दी जाय तो उसके साथ पूरा परिवार शिक्षित होता है। यही कारण है कि एक शिक्षित स्वस्थ और आत्मविश्वास से पूर्ण नारी ही परिवार और समाज को बेहतर भविष्य दे सकती है। अपने बच्चों और पूरे परिवार को संस्कार देने में स्त्री की अहम् भूमिका है। चाहे वह माँ के रूप में या पत्नी या अन्य सम्बन्धों में नारी ही घर परिवार या समाज के बीच कैसे सामञ्जस्य स्थापित करना है वह एक नारी के अलावा कोई नहीं कर सकता।

स्मृतिकारों[1] की यह धारणा रही है कि स्त्रियों को घर के काम-काज और सन्तानोत्पादन में व्यस्त रखा जाय शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पत्नी के सान्निध्य में उसका पति रहेगा ही। इस प्रकार की धारणा वर्तमान समय में अप्रासङ्गिक है, क्योंकि नारियों को मात्र प्रजननयंत्र न समझकर हमें निःसंदेह स्मृतिकालीन अनुभवों को आत्मसात् करते हुए ज्यादा सूझबूझ एवं संवेदनशीलता से कदम बढ़ाते हुए नारियों की शिक्षा

---

1. वृहस्पति स्मृति (स्मृति चन्द्रिका व्यवहाराध्याय पृ0 257)

   पूर्वोत्थानं गुरुर्ष्वाक भोजनं व्यञ्जनक्रिया।

   जघन्यासनशामित्वे कर्म स्त्रीणामुदाहृतम्।।

   मिताक्षरा द्वारा याज्ञवल्क्य स्मृति 1/87 पर, शोभनश्चाचारो दर्शितः शङ्खेन— नानुक्ता.........संसर्गेण हि कुलस्त्रीणां चारित्र्यं दुष्यति 'इति'।।

पर ध्यान दिया जाना चाहिए जिससे परिवार और समाज में नारियों की स्थिति मजबूत हो। जहाँ पर नारियाँ शिक्षित हैं वहाँ उनके सोचने समझने की शक्ति और आत्मनिर्भरता जैसे परिणाम देखने को मिल रहे हैं। शिक्षित औरतों की भागीदारी का परिणाम है कि केरल में जन्मदर में गिरावट आयी है, क्योंकि आज भी भारतीय समाज की अशिक्षित औरतें अंधविश्वासी एवं भाग्यवादी हैं। इस समस्या से तभी निजात सम्भव है; जब नारियों को शिक्षित किया जाय।

कन्या के प्रति उदारचेता होकर भी स्मृतिकार नारी शिक्षा के प्रति अनुदार दिखते हैं, उन्होंने वेदादि का अध्ययन बन्द करवा दिया जिससे स्त्रियाँ अशिक्षित होने के कारण मंत्रोच्चारण करने में असमर्थ थीं। जबकि वर्तमान समय में यह धारणा अप्रासङ्गिक हो चुकी है। आज कन्या शिशु किसी भी क्षेत्र में शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ हैं। वह पुरुषों के समान ही किसी विषय पर चिन्तन करती है यदि उन्हें समानता का अवसर मिले तो वह पुरुषों से बहुत आगे जायेगी। स्मृतिकाल में समस्त नारियों को अशिक्षित नहीं रखा जाता था, बल्कि कुछ उच्चवर्गीय परिवार के नारियों की शिक्षा की व्यवस्था सामान्यतया घर में हुआ करती थी। वर्तमान समय में स्थान-स्थान पर विद्यालय खुले हुए हैं और नारी शिक्षा को प्रोत्साहित किया जा रहा है। इण्टरमीडिएट तक की शिक्षा निःशुल्क दी जा रही है। स्मृतिकाल में तो नारियों को केवल इतनी ही शिक्षा दी जाती थी कि वह विवाह के बाद पति के यज्ञादि (अग्निहोत्र) या धार्मिक कृत्य की

सहभागी हो और प्रतिदिन अग्निहोत्र सम्पन्न करे। जबकि वर्तमान समय में प्रत्येक लड़की अपनी सामर्थ्यानुसार उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकती है। अब उसके (नारी के) लिए प्रतिदिन का अग्निहोत्र गौण हो चुका है। आज की नारी चाँद एवं अन्तरिक्ष पर पहुँचने का सपना देख रही है, इन सपनों को साकार भी कर रही है (कल्पना चावला एवं सुनीता विलियम्स के रूप में)। अब वह पति के नाम पर नहीं बल्कि अपने नाम एवं व्यक्तित्त्व के कारण समाज में समादरणीय है। कन्याओं की गृहकार्य सम्बन्धी समस्त दक्षता ग्राहस्थ जीवन के समग्र दायित्त्वों को बहन की प्रासङ्गिकता स्मृतिकालीन समाज में थी। वर्तमान भारतीय समाज भी यही अपेक्षा कर रहा है।[1] स्मृतिकाल में कन्या को कढ़ाई बुनाई घर में रहकर जीविकोपार्जन के लघु गृह उद्योगों में भी पूर्णतया शिक्षित प्रशिक्षित किया जाता था। जबकि आज प्रत्येक वर्ग (उच्च, मध्यम, निम्न) नौकरी पेशा बहुओं को प्राथमिकता दे रहा है, लेकिन बेटियों के लिए उन्हीं रुढियों से आज भी ग्रस्त है—पुरुष प्रधान समाज आज भी पुत्र को 'रत्न' एवं कन्या को 'दायित्व' के रूप में ही मानता है। पुत्र को चेक (लाखों का वैभव की गारंटी देने वाला चेक) और कन्या को 'बिल' मानता है। यही कारण है कि जब भी किसी मामले में एक के चुनाव का प्रश्न उठता है तो वरीयता पुत्र को ही दी जाती है। पुत्र को भारी भरकम "चेक" का महत्त्व देने के लिए भी पुत्र की शिक्षा को प्रमुखता दी जाती है। जबकि पुत्री

---

1. मनुस्मृति 2/217, 210

ठहरी बिल (कैस) उसके (पुत्री के) पीछे आधुनिक उच्च शिक्षा के बहाने बिल की राशि बढ़ाना किसे अच्छा लगेगा ? वैसे भी तर्क के रूप में यही कहा जाता है कि लड़की को तो नौकरी करनी नहीं है, जिस घर में इतना बड़ा कैश या वैभव साथ लेकर जाएगी वहाँ राज ही तो करना होगा। इसके लिए उच्च शिक्षा की क्या जरूरत? भारतीय समाज की बहुत बड़ी विडम्बना है कि वधू तो नौकरी पेशा चाहता है और बेटी को इस लिए शिक्षा दिलाने से कतराता है कि उच्च शिक्षा दिलाने से उसके योग्य वर की तलाश में ज्यादा दहेज देना होगा। पुत्र को शिक्षित करने की कामना को प्राथमिकता इसलिए दी जाती है कि वही बुढ़ापे का सहारा होगा एवं घर चलाने की जिम्मेदारी बेटे को ही उठानी होगी। नारी शिक्षा को पूर्ण विकास एवं गति देने के लिए समाज के मन में बैठी इस जडता को निकालने की चेष्टा (पुत्र चेक एवं कन्या बिल) अधिक व्यापक तरीके से करनी होगी।

स्मृतिकालीन पुरुषों में यह धारणा जड पकड़ चुकी थी कि स्त्री को शिक्षित करने से समूची सामाजिक व्यवस्था उलट पलट जायेगी, जिसके भयङ्कर दुष्परिणाम होगें और पारिवारिक व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो जायेगी। नारियाँ आजाद होगी तो अराजकता व्याप्त होगी और उच्छृंखलता फैलेगी, अपनी इसी रूढ़िवादी धारणाओं को पुरुष ने स्त्री के मन में इस तरह भर दिया कि स्वयं नारियाँ भी इसी भ्रम को सत्य मानकर चलती रही। आज अशिक्षित नारियों का एक ऐसा वर्ग विद्यमान है जो स्वयं अपने पुत्रियों को पढ़ाने लिखाने का पुरुषों से बढ़-चढ़कर विरोध कर रही है

क्योंकि उनके मन में यही कुसंस्कार विद्यमान है कि बेटियों को शिक्षित करने का अर्थ उनको (पुत्रियों को) चरित्रहीन बनाना। दुर्भाग्यवश अशिक्षा की अन्धता के कारण स्वतन्त्रता के साठ वर्ष बीतने पर भी अभी तक समाज में वह पीढी मौजूद दिखायी पड़ती है जो एक ओर तो मुक्ति को मुक्ति नहीं मानतीं, बरबस आधुनिक प्रणाली की उपेक्षा करके अपने को ही संस्कार का सबसे अनुभवी और समझदार मानती है और प्राचीन संकीर्ण प्रवृत्ति के अनुरूप गृहस्वामिनी के रूप में समूचे परिवार के कन्या शिशुओं के भविष्य पर हावी बनी रहना चाहती है।

परिवार की बेटियों को भर पेट आराम से भोजन देना उनकी दृष्टि में पाप है क्योंकि यह सब लड़कियों की जिन्दगी खराब करने का तरीका है। दूध-घी, फल-फूल बेटों के लिए होता है, जो कमाऊ पूत होते हैं। पढ़ाई-लिखाई लड़कियों को करवाकर खानदान का सत्यानाश करवाना है क्या? अपनी बेटियों को लड़कों के साथ स्वतन्त्र रूप से बातचीत को वो देख नहीं सकती और कहती है बेटी को कल किसी के घर की लक्ष्मी बनना है। इस अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों से ग्रस्त नारियों का यदि सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन किया जाय तो ज्ञात होगा इसका मूल कारण है अशिक्षा नारियाँ अशिक्षित होने के कारण स्वतन्त्र रूप से चिन्तन नहीं कर सकती और आज भी उन्हीं रूढियों का पालन कर रही है। शिक्षा ही उसकी जडता को नष्ट करके उसे अज्ञानता के दलदल से उबारकर चेतना की ठोस धरती का आधार दे सकती है।

चाहे मानसिक दासता के कारण हो अथवा युगों से पितृसत्तात्मक समाज के षड्यन्त्र का शिकार होने के कारण कुसंस्कारों से जकड़ी भारतीय नारी अपने आप अंधकार में डूबती गई। महिला/नारी शिक्षा का प्रश्न उठते ही यह अत्यन्त भयावह तथ्य सामने आता है कि हमारे देश की निरक्षर आबादी में 70% तो निरक्षर नारियाँ ही है।

स्मृतिकार[1] नारी स्वतन्त्रता के प्रबल विरोधी थे। जबकि वर्तमान समय में यह अप्रासङ्गिल हो चुका है। अब शिक्षित नारी स्वयं भी नारी की स्वतन्त्रता अथवा विकास की चेतना को अपवित्र और उच्छृंखल नहीं मानती। वह स्वयं समझने लगी है कि उसकी गरिमा एवं चारित्रिक महिमा इसी बात तक सीमित नहीं है कि वह एक परिवार के आँगन से निकलकर दूसरे घर की ड्योढ़ी में समा जाए और जीवन भर अंधेरी कोठरी नें प्राण-पण से धरती माता के समान धैर्य का परिचय देकर अपने अस्तित्त्व को उस घर की सुख-शान्ति के लिए समाप्त करती रहे और निकले तो उस घर से उसकी अरथी ही निकले। डोली पर आने एवं अरथी पर ही घर

---

1. विष्णु स्मृति 25/12, 13 बौधायन स्मृति 2/50, 52 मनुस्मृति 9/3 याज्ञवल्क्य स्मृति 1/85, 86 बृहत्पराशर स्मृति 6/59दायभाग 30, 31

   पितारक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।

   रक्षन्ति स्थविरे पुत्रान स्त्रीस्वातन्त्र्यमर्हति।। वसिष्ठ 5/1/3

   इसी के समर्थन में याज्ञवल्क्य स्मृति 1/85 पर मिताक्षरा का ने टीका लिखी

   "न स्वातन्त्रं क्वचित्स्त्रियः"

के बाहर जाने की धारणा विशेषकर भारतीय हिन्दू समाज की जो शोभा थी, जो लगभग समाप्तप्राय हो गयी है।

युग ने करवट बदली, नारी स्वाधीनता आंदोलन के समय जब राष्ट्र के लिए उच्चतर उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सहसा घर के आँगन, चाहार दीवारी को लांघकर बाहर आ गई और पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर संघर्षरत हुई तो जाने अनजाने उस मिथ्या भ्रमों की दीवार लन्घ गई। शोचनीय बात तो यह है कि युगों-युगों से उसके (नारी के) मन पर लादी गई वह थोथी नैतिकता की दीवारें भी नारी ने अनजाने ही ध्वस्त कर दी अर्थात् वह बिना अरथी के जीवित ही उस ड्योढी को लांघकर बाहर आ गई। यह ऐसी चमत्कारिक स्थिति थी कि ऐसा अनर्थ कर डालने पर भी समाज में नारी की कोई भर्त्सना नहीं कर रहा था। इस प्रकार नारी के मुक्ति का पहला-पहला स्वाद कराने वाला राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम ही था।

शिक्षा और समान अधिकारों एवं अवसरों की उपलब्धि भले ही अनेक बाधाओं के कारण नारी को विकास की उस मंजिल तक नहीं पहुँचा सकी है जो आजादी के बाद अपेक्षित था। लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि कुछ परिवर्तन हुआ ही नहीं। सच्चाई तो यही है कि भारतीय नारी कल तक जिस अन्धकूप में बन्द रही और स्वयं मानसिक रूप से जिस अंधेरे को ओढ़कर रहने को ही अपनी इज्जत समझती रही, उससे निकलकर वह आज जिस पथ पर चल रही, वह भी अपने आप में

आशातीत सफलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विकट अवरोध अब टूट चुका है। मन्दगति से सही भारतीय नारी की विकास की धारा प्रवाहित हो चुकी है।

भारतीय नारी अब उस चाहारदीवारी से निकलकर बाहरी समाज के बीच अपनी आँखे खुली रखकर अपेक्षाकृत जागरूक समाज में अपनी वास्तविक पहचान अपनी योग्यता के अनुरूप स्थान पाने के लिए सक्रिय हो उठी है। युगों से प्रचलित यह धारणा निरर्थक हो चुकी है कि पुरुष स्वामी है और वही परिवार का व्यवस्थापक है और स्त्री का कार्य नारी एवं गृहिणी के रूप में केवल घर गृहस्थी चलाना है। चूल्हा चौका करना पूरे परिवार की माँग पर दौड़-दौड़कर उसकी आवश्यकता पूरी करती रहना, कपड़े धोना, सास-ससुर की सेवा करना, तत्पश्चात् स्वामी के मनोरञ्जन के लिए सजसंवरकर तन-मन से प्रस्तुत रहना अर्थात् पति की इच्छापूर्ति (चाहे नारी की इच्छा हो या नहीं) करना, वंशवृद्धि के लिए सन्तानोत्पत्ति करना और अपनी समस्त पीडा व्याधि को भूलकर बच्चों का पालन पोषण करना, यही युगों से नारी के कर्त्तव्य थे और इसी के लिए 'गृहिणी' पदनाम दिया गया था।

<u>स्त्रियों की दिनचर्या एवं कर्तव्य :</u> पति-पत्नी का पारस्परिक सहयोग घर का वैभव है। दोनों ही एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्य निर्वहन करते हुए अपने-अपने अधिकारों की सीमा में सामाजिक संस्कृति की मधु वल्लरी को सींचते हैं। पीछे के अध्याय में नारियों की दिनचर्या एवं कर्तव्यों के

विषय में पर्याप्त चर्चा किया है किन्तु कार्यक्षेत्र पर विचार सङ्क्षेप ही हुआ है। इस विषय पर चिन्तन करने के लिए मैं अपने को रोक नहीं पा रही हूँ कि स्मृतियों में स्त्रियों की दिनचर्या एवं कर्तव्य क्या थे? और वर्तमान समय में इसमें कितना परिवर्तन हुआ या स्थिति यथावत् बनी हुई है।

स्मृतिकारों ने पतिसेवा एवं गृहकार्यों को संभालना ही स्त्रियों का मुख्य कर्त्तव्य बताया है। मनु ने यहाँ तक कहा है कि स्त्रियों के लिए पति की सेवा ही गुरुकुलवास एवं गृहकार्य ही अग्निहोत्र सदृश है।

*वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।*

*पतिसेवा गुरौवासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया।।* मनु 2/67।।

उत्तम[1] आचरण एवं संयम स्त्रियों के आवश्यक गुण माने जाते थे। वर्तमान समय में भी पुरुष (समाज) वर्ग यही अपेक्षा कर रहा है। पति[2] के प्रति अनन्य भाव रखना प्रत्येक पत्नी का अनिवार्य कर्त्तव्य है—पति के जीवन काल में अथवा उसके निधन के पश्चात् भी जो स्त्री किसी अन्य से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखती, वह संसार में यश प्राप्त करती है और मृत्यु के पश्चात् वह उमा-संग सुखपूर्वक निवास करती है। स्त्री के लिए पति ही सर्वस्व था।

---

1. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/87

   पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा विजितेन्द्रिया।

   सेह कीर्तिमवाप्नोति प्रेप्य चानुत्तमांगतिम्।।

2. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/75

*मृतेजीवति वा पत्यौ या नान्यमुपगच्छति।*

*सेह कीर्तिमवानोति मोदते चोमया सह।।*[1]

(याज्ञवल्क्य स्मृति)

इसी का समर्थन मनुस्मृति[2] में भी किया गया है। वर्तमान समय में पति के जीते जी उसकी इच्छानुसार चलना पड़ता है और मृत्यु के बाद भी स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य नहीं कर सकती। पुत्र एवं घर के पुरुष सदस्यों का हस्तक्षेप रहता है। स्मृतियों[3] में नारियों के शोभन आचरण एवं निषिद्ध कर्मों की चर्चा की गयी है। सभी स्त्रियों को पति की आज्ञा/बड़े व्यक्तियों से पूछे बिना घर से बाहर नहीं जाना चाहिए, जल्दी-जल्दी नहीं चलना चाहिए, परपुरुष से बात नहीं करनी चाहिए, इन सभी बातों की प्रासङ्गिकता आज भी बनी हुई है। उत्तरीय ओढ़कर चलना, एड़ी तक वस्त्र पहनना नाभि खुली न रखना, खराब चरित्र वाली स्त्रियों से बचना ये समस्त आचरण जो स्त्रियों के लिए निषिद्ध थे वर्तमान समय में अप्रासङ्गिक हो चुके हैं, जो स्त्रियाँ घर से बाहर निकलती हैं या काम काजी हैं, वह अपनी सुविधानुसार वस्त्रों का चयन करती है। अभिनेत्रियाँ तो कम वस्त्रों का प्रयोग करती हैं और नाभि खुली रखना उनके पेशे का प्रमुख अङ्ग सा हो गया। वर्तमान समय में शिक्षित नारी में सोचने समझने की क्षमता का विकास हो चुका है अब वह किसी खराब चरित्र की स्त्री से मिलकर

---

1. मनुस्मृति 5/151 व 156
2. मिताक्षरा की टीका याज्ञवल्क्य स्मृति 1/87

उसके बहकावे में नहीं आती। अशिक्षित नारियों का एक रूप सामने आता है जो अपनी पेट की आग, शराबी पति की इच्छा की तृप्ति एवं बच्चों की क्षुधातृप्ति के लिए देह व्यापार तक करती है। और अशिक्षित होने के कारण वे ऐसा कोई काम नहीं कर सकती जिससे पूरे परिवार का खर्च चल सके।

आज भी पत्नी का यही धर्म है कि वह पति से पहले सोकर उठे, समस्त पारिवारिक सदस्यों के लिए भोजनादि एवं घर की साफ-सफाई करें[1]। घर के समस्त पात्रों की साफ-सफाई करें, दिन के तीसरे प्रहर में घर का हिसाब करें। आज[2] भी जहाँ शिक्षा का अभाव है, यही अपेक्षा स्त्रियों से की जाती है कि वह पति की समस्त कार्यों में परामर्श लें, पति पिता, माता या अन्य बन्धुओं द्वारा प्राप्त वस्त्र एवं अलङ्करण को आवश्यकतानुसार पहनें, दासी की भाँति पति के समस्त कार्यों को दत्तचित होकर करें। एक स्त्री की प्रतिदिन की दिनचर्या सुबह से रात्रि तक लगभग यही रहती है। उनको गृह के कार्यों में इतना व्यस्त रखा जाता है कि रात्रि के समय यह थककर सो जाती है। वर्तमान समय में एक पति की पत्नी से, एक सास की बहू से घर के समस्त सदस्यों की यही अपेक्षा रहती है कि स्त्री गृहकार्य दक्ष हो, चाहे जिस रूप में (कन्या/पत्नी/जननी/भगिनी)। वह प्रतिकूल आचरण न करें, समस्त कार्यों में पति की अनुमति

---

1. बृहस्पति स्मृति (स्मृतिचन्द्रिका व्यवहार पृष्ठ 257)।
2. व्यासस्मृति 2/20-36

लें। याज्ञवल्क्यस्मृति भी इन्हीं कर्त्तव्यों का समर्थन करती है।

यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय तो वर्तमान समय में स्त्री के कर्तव्य में बढ़ोत्तरी ही हो गयी, यदि स्त्री पढ़ी लिखी है, और कहीं कार्यरत है। जैसे—किसी की पत्नी डाक्टर है तो पति चाहता है कि डाक्टरी के प्रैक्टिस के द्वारा परिवार के लिए धन अर्जित करें, दूसरी ओर पातिव्रत धर्म के निर्वहन की भी आशा करता है। पति चाहता है कि उसकी पत्नी एकनिष्ठ गृहिणी होकर रहें, अन्तःपुर की सीमा से बाहर न जाय, तथा पवित्रता के निर्वाह के लिए अनिवार्य रूप से अन्य पुरुषों के सम्पर्क में न आ सकें। समस्त कार्यों के पश्चात् सुन्दर शैय्या बिछाकर पति को आराम से शयन करने की प्रार्थना करें, और स्वयं प्रेमपूर्वक उनकी यथावत् सेवा करें। आश्चर्य की बात तो यह है कि दिन रात परिश्रम करके अर्जित धन को भी स्त्री खर्च नहीं कर सकती, उसमें पति का या अन्य पुरुष सदस्यों का हस्तक्षेप होता है। पुरुषों के परम्परागत भारतीय संस्कार स्वीकार नहीं करते कि नारी का स्वतन्त्र अस्तित्व है। पुरुष वर्ग को न अपने सामाजिक विचार बदलने होगें अपितु संस्कारों में परिवर्तन लाना होगा।

वर्तमान समय में कुछ प्रतिशत (लगभग 5%) पुरुषों में परिवर्तन दिखता है जो कि एक नारी की मनःस्थिति को समझकर उनके कार्यों में सहयोग कर रहे हैं और अच्छे सहयोगी की भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं। स्मृतियों एवं वर्तमान समय में भी पत्नी के जिस गुण की सबसे अधिक अपेक्षा की गयी है, वह है—सहनशीलता। मनुस्मृति (5/150) के

श्लोक पर कुल्लूक भट्ट ने भी टीका लिखी है कि "सर्वदा भर्तरि विरुद्धेऽपि प्रसन्नवदनतया" अर्थात् पति के विरुद्ध होने पर भी पत्नी सदा प्रसन्नमुख रहें। इसी का समर्थन कालिदास रचित अभिज्ञानशाकुन्तलम्[1] में किया गया है।

स्मृतियों[2] में सहनशील गुणों के कारण ही यह विधान किया गया है कि पति भले ही सदाचार से हीन परस्त्री अनुरक्त और विद्या आदि गुणों से हीन क्यों न हो, साध्वी पत्नी के लिए पति से पृथक् न कोई यज्ञ है न व्रत, न उपवास आदि है। इसी का समर्थन विष्णुस्मृति[2] में किया गया है और शङ्खस्मृति[4] में भी कहा गया है कि—

*न व्रतैर्नोपवासैश्च न च यज्ञैः पृथग्विधैः धर्मेण विविधेन च*

*नारी स्वर्गमाप्नोति प्राप्नोति पति (परिपालनात्) पूजनात्।।*

(शङ्खस्मृति)

इसी का समर्थन मनुस्मृति में भी किया गया है।

*अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कार कृत्पतिः।*

*सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः।।* (मनुस्मृति)

स्मृतियों में कथित पति की सेवा से परलोक जनित सुख एवं स्वर्ग

---

1. अभिज्ञान शाकुन्तलम् 4/18 "भर्तुविप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।"
2. मनुस्मृति— 5/154-155
3. विष्णुस्मृति 25/15
4. शङ्खस्मृति 5/8
5. मनुस्मृति 5/153

प्राप्ति की धारणा वर्तमान समय में अप्रासङ्गिक हो चुकी है। वर्तमान समय में स्त्री सदाचार से हीन परस्त्री में अनुरक्त पति से स्वेच्छया हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 13 के तहत विवाह विच्छेद कर सकती है या हिन्दू विवाह अधिनियम 1956 की धारा 26 तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 125 के तरह भरण पोषण का दावा कर पति से पृथक् होकर जीवन निर्वहन कर सकती है। वर्तमान समय में स्त्री पुरुषों के समान ही देवी-देवताओं की पूजा कर रही है, अब पति ही परमेश्वर है, इससे पृथक् न कोई व्रत/उपवास/यज्ञ नहीं है, यह विचार भी गौण हो चुके हैं।

स्मृतियों से ज्ञात होता है कि पति की जैसी भी उचित अथवा अनुचित आज्ञा हो पत्नी को सहर्ष आँख मूँदकर उसका पालन करना चाहिए। आज की नारी घर एवं बाहर की दुनिया से परिचित है, वह उचित आज्ञा का पालन करती है, अनुचित आज्ञा का विरोध करती है। घरेलू हिंसा अधिनियम 2006 पास हो जाने से अब शिक्षित नारी अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो चुकी है और शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने लगी है। वही शिक्षा के अभाव से दूसरा पहलू यह है कि अशिक्षित नारी अपने अधिकारों से अनभिज्ञ है, पति की आज्ञा का पालन सेवा, छाया की भाँति पति की पीछे लगे रहना, मित्र की भाँति परामर्श देना दासी की भाँति समस्त उचित-अनुचित आज्ञा का पालन कर रही है। पति पर आश्रित होने के कारण शोषण सहने के लिए विवश है। पतित्याग के बाद उन्हें नाना प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ेगा, और सामाजिक

परिहास के भय से भी वह (स्त्री) ऐसा कदम नहीं उठा सकती। वसिष्ठस्मृति भी इसी का समर्थन किया गया है—

*पतिव्रतानां गृहमेधिनीनां सत्यव्रतानां च शुचिव्रतानाम्।*
*तासां तु लोकाः पतिभिः समाना गोमायुलोका व्यभिचारिणीनाम्।।*

पराशर[1] स्मृति में तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि पति दरिद्र रोगी, मूर्ख भी हो तो भी उसका पति भाव से जो स्त्री आदर नहीं करती, वह मरकर सर्पिणी होती है तथा बार-बार वैधव्य कष्ट को भोगती है। स्त्री को पति के दुःख में दुःखी, सुख में सुखी होने की बात सभी स्मृतिकार[2] (वृद्धहारीत) करते हैं लेकिन पति को पत्नी के दुःख में दुःखी एवं सुख में सुखी होने की बात कहीं नहीं कही गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त स्मृतिकार पुरुष थे और वे पुरुष प्रधान समाज के पूर्वाग्रह से ग्रसित थे। उन्होंने नारियों पर तो कठोर नियम बनाए और पुरुषों को पूर्णतया स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द रखा।

याज्ञवल्क्यस्मृति[3] में कहा गया है कि जिस स्त्री का पति विदेश गया

---

1. पराशरस्मृति 4/15
   दरिद्रं व्याधितं मूर्खं भर्तारं या मन्यते।
   सा मृता जायते व्याली वैधव्यं च पुनः पुनः।।
2. वसिष्ठ स्मृति 21/15, मनुस्मृति 9/30, याज्ञवल्क्यस्मृति 1/75-86, वृद्धहारीत 8/196
3. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/84

हो, उसे शृङ्गार एवं हँसी मजाक, जनसमूह उत्सव आदि में नहीं जाना चाहिए। व्यासस्मृति[1] में विदेश गये पति की पत्नी भर पेट भोजन एवं शृङ्गार करने पर प्रतिबन्ध लगाया है। सम्भवतः ये समस्त प्रतिबन्ध स्मृतिकार नारियों को चारित्रिक पतन से बचाने के लिए करते थे। भर पेट भोजन न करने से एवं शृङ्गार के अभाव में स्त्री आकर्षण विहीन लगेगी जिससे परपुरुष आसक्त न होगें।

वर्तमान समय में स्मृतिकारों द्वारा जो निषिद्ध कर्तव्य थे पूर्णतया अप्रासङ्गिक हो चुके हैं आज की नारी घर एवं बाहर के समस्त कार्य पुरुषों के बराबर कर रही है घर से बाहर निकलना है तो अच्छे वस्त्रों का प्रयोग करना पड़ेगा एवं यदि आधा पेट भोजन करेगी तो अस्वस्थ हो जायेगी और अस्वस्थता के कारण उसकी दैनिक दिनचर्या खराब हो जायेगी। स्मृतियों में नारियों के जिन कर्तव्यों को (झूले झूलना, नृत्य देखना, चित्र देखना एवं उपवनों में घूमना) निषिद्ध किया गया था वह आज व्यस्ततम कार्यशैली के कारण मनोरंजन के साधन हो गये है। पार्कों में घूमना किसे अच्छे नहीं लगता। दूरदर्शन तो घर-घर की दैनिक आवश्यकता की वस्तु है, जिसे स्त्री बच्चे और पुरुष सभी देख रहे हैं, जिनके पास ये भौतिक साधन उपलब्ध नहीं है वह इसे नाना प्रकार से जुटाने का प्रयास कर रहा है ये समस्त भौतिक उपयोगी वस्तुएं उच्चवर्ग

---

1. व्यासस्मृति 2/52

के उच्च जीवन स्तर को चिह्नित करती है। स्मृतिकालीन समाज में इतनी मशीनों का उपयोग नहीं था किसी काम को करने में पर्याप्त समय लगता था यदि स्त्रियों को उपवन में घूमने का शौक हो जाता तो घर का समस्त कार्य कैसे होता ? नाना प्रकार के प्रतिबन्धों के द्वारा घर के समस्त कार्यों में सुबह से शाम तक व्यस्त रखा गया जो पुरुष प्रधान समाज की मानसिकता का परिचायक है।

वृद्धहारीतस्मृति एवं बृहस्पतिस्मृति[1] में विधवा स्त्री की आमरण दिनचर्या का विस्तृत वर्णन किया गया है—विधवा स्त्री को श्वेत वस्त्र धारण कर, जितेन्द्रिय, क्रोधहीन, साध्वी तान्द्रा, शुभ आचरण वाली होकर, कन्द-मूल खाकर दुर्बल शरीर होकर, परपुरुष का नाम तक न लें, मृत्युपर्यन्त क्षमाशील होकर मधु मांस का त्याग कर ब्रह्मचर्य व्रत का दृढता से पालन करने की बात कही है।

वर्तमान समय विधवाओं के निषिद्ध कर्तव्यों की प्रासङ्गिकता समाप्त हो चुकी है। अब विधवा स्त्री की दिनचर्या एवं कर्त्तव्य सधवा स्त्री के ही समान है। स्मृतियों द्वारा वर्णित और वर्तमान समय में एक समानता यह है कि स्मृतिकालीन समाज में विधवा के संयमित आचरण की अपेक्षा की जाती थी और वर्तमान समय में भी। कुछ स्थानों पर जहाँ अशिक्षा है वहाँ आज भी विधवाओं का दर्शन अशुभ माना जाता है एवं शुभ

---

1. बृहस्पति स्मृति 25/10-11, 25/50-71

एवं माङ्गलिक कार्यों में उनका कोई हस्तक्षेप एवं सहभागिता नहीं होती।

अतः स्पष्ट है कि "बिन घरनी घरभूत का डेरा" वास्तव में नारी का गृहिणी रूप और उसकी सार्थकता ही घर को घर बनाए रखती है। घर जो समाज की अनन्य मूल ईकाई परिवार के आश्रय का प्रतीक है। पुरुष केवल बाहरी दुनिया से प्रभावी होता है और बाहरी काम-काज संभालता है, पर घर को तो नारी ही संभालती है। शिक्षित नारी बड़ी योग्यता के साथ प्रभावशाली ढंग से यदि वह कामकाजी हो, तब भी घरेलू जीवन के बीच सामञ्जस्य बनाए रखने में सफल होती है। वह अपने व्यवसाय के साथ-साथ घरेलू जिम्मेदारियों को भी बड़े आत्मविश्वास एवं निष्ठा के साथ निभाने की सफल चेष्टा करती है। आधुनिक संघर्षमय युग में शिक्षित नारी केवल घर में ही सिमटी नहीं है, अपितु घर के बाहर भी उतनी ही योग्यता के साथ पुरुष को सहयोग कर रही है। जबकि घर के मामले में पुरुष नारी की भाँति दायित्व निर्वहन करने के सम्बन्ध में कही भी नहीं ठहरता।

## नारी के विविध रूप

स्मृतियों में नारी के विविध रूपों की चर्चा की गयी है। कन्या के रूप में, जननी के रूप में, भार्या के रूप में, गणिका के रूप में, रखैल के रूप में, विधवा के रूप में एवं दासी के रूप में। स्मृतियों में कन्या उपेक्षित नहीं अपितु स्नेह की पात्र थी। वैसे तो स्मृतियों में कहा गया है कि "यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा"। कन्या[1] का जन्म हर्ष

का विषय नहीं था। वर्तमान समय में भी कन्या शिशु के जन्म पर शोक जैसा माहौल होता है। अब तो कन्या शिशुओं को इस दुनिया में आने से ही रोक दिया जा रहा है। उनकी तो माँ के गर्भ में ही हत्या कर दी जा रही, जिससे पुरुषशिशुओं की अपेक्षा कन्याशिशुओं की संख्या कम होती जा रही है जो चिन्ता का विषय है। जबकि पुरुषशिशु के जन्म पर तो नाना प्रकार के घर में उत्सव मनाएं जाते हैं। महीनों तक गृह में उत्सव जैसा माहौल रहता है तथा बन्धु-बान्धवों द्वारा बधाईयाँ के साथ-साथ मिठाइयाँ भी बाँटी जाती हैं। स्मृतियों[2] में कन्या पिता एवं भाई के विरुद्ध एक कदम भी नहीं चलती थी वर्तमान समय शैक्षिक स्तर के कारण वातावरण में परिवर्तन आया है। कन्या स्वेच्छया विवाह जैसे जीवन के निर्णय को ले रही है जो कि स्मृतियों[3] में विशेष परिस्थितियों में भी कन्याओं को विवाह की स्वतन्त्रता नहीं थी। विवाह का उत्तरदायित्त्व अभिभावकों पर ही था, क्योंकि विवाह की अवस्था (8 वर्ष, 10, 12 वर्ष) में कन्या को अपने हित अहित का ज्ञान नहीं था। यदि कन्या की विवाह योग्य अवस्था है तो विवाह अयोग्य वर से कर दिया जाता था। वर्तमान समय में भी आर्थिक समस्या के कारण योग्य वर की जगह अयोग्य वर से कन्या का विवाह किया जाता है।

---

1. मनुस्मृति 9/130
2. मनुस्मृति 9/3 "पिता रक्षति कौमार्ये भर्ता रक्षति यौवने"
3. मनुस्मृति 9/90-91

कन्या[1] का विक्रय उपपातक माना जाता था, आज भी जो मनुष्य कन्या शिशुओं को बेचता है लोक निन्दा का पात्र होता है। निर्दोष[2] कन्या पर झूठे आरोप पर कठोर दण्ड दिया जाता था। बड़ी बहन से पूर्व छोटी की शादी नहीं की जाती थी, क्योंकि बड़ी बहन में किसी प्रकार का दोष न होने पर दोषों की चर्चा की जायेगी कि किस कारण बड़ी बहन का विवाह नहीं हुआ। मनुस्मृति (3/160) गौतम के अनुसार ''न भोजयेत् अग्रेदीधिषुपतिम्'' इसकी प्रासङ्गिकता वर्तमान समय में बनी हुई है। क्रम से ही बहनों की शादी की जाती है बल्कि यदि पुरुष शिशु बड़ा है तब भी कन्या की शादी उससे पूर्व ही कर दी जाती थी। कन्याओं का जन्म शुभ न होने पर भी उसका दर्शन माङ्गलिक माना जाता था। आठ माङ्गलिक वस्तुओं में शौनक[3] कारिका में कन्या का भी नाम लिया गया है—

*दर्पणः पूर्णकलशः कन्या सुमनसोऽक्षताः।*

*दीपमाला ध्वजाः लाजाः संप्रोक्ताश्चाष्टमंगलम्।।*

(शौनक कारिका)

स्मृतिकालीन समाज[4] में कन्या की स्थिति ऊँची होने पर भी कन्याओं

---

1. मनुस्मृति 3/160, गौतम अ0 15
2. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/223, मनुस्मृति 1/66
3. शौनक कारिका पी0 वी0 कॉणे धर्मशास्त्र का इतिहास खण्ड 2 भाग 1 पृष्ठ 511 पर उद्धृत
4. अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
   संस्कारार्थे शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्।।

को अग्निहोत्र का निषेध किया गया है। वर्तमान समय में कन्याओं को अग्निहोत्र की स्वतन्त्रता होते हुए भी व्यवहार में कम दिखाई पड़ता है।

स्मृतियों[1] में आदर्श कन्या की कल्पना की गयी है। कन्या की सम्पत्ति कौमार्य थी, यही उसके जीवन एवं प्रतिष्ठा का भी आधार है, इस कौमार्य के रक्षण सम्मान आदि के लिए मनु प्रभृत स्मृतिकारों ने भी कुछ निश्चित प्राविधान किया। मनु[2] ने कहा कि कन्या के कौमार्य को किसी भी रूप में क्षति नहीं पहुँचनी चाहिए। कन्या के कौमार्य की प्रासङ्गिकता आज भी बनी हुई। कौमार्य दूषित करने वाले को कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता है।

भारतीय संस्कृति में स्त्री का स्थान प्रारम्भ से ही समादरणीय है क्योंकि यह सामाजिक संस्कृति की धुरी है। गृहस्थाश्रम से सामाजिक अस्तित्व का बोध होता है एवं गृहस्थाश्रम की स्थिति पत्नी में सन्निहित होती है। इस कारण स्मृतिकारों ने स्त्री/भार्या को सर्वोपरि स्थान दिया। वर्तमान[3] समय

---

1. मनुस्मृति 3/8-9-10 याज्ञवल्क्य स्मृति 2/52-53
2. मनुस्मृति 8/224, 226, 8/346, 370
3. मनुस्मृति 9/26, 27, 28

   प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
   स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन।।26।।
   उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
   प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्।।27
   अपत्यं धर्म कार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
   दाराधीनस्तथा स्वर्गाः पितृणामात्मनश्च।।28।।

एवं स्मृतियों में भी स्त्रियों/पत्नी को घर की लक्ष्मी सन्तति की वृद्धि करने वाली और गृह की प्रकाश सदृश कहा गया है। नारी सन्तति परिपालन मनुष्य के लोक जीवन की भूमि है और यह मानव के लिए आमोद-प्रमोद धार्मिक कार्यकलाप की साधनरूप एकमात्र सहायिका है। पति एकाकी अस्तित्व विहीन है एवम् अपूर्ण है। पति (पुरुष) वस्तुतः पत्नी (स्त्री) तथा सन्तान से संयुक्त होकर पूर्णत्व प्राप्त करता है।

*एतवानेव पुरुषो यज्जायाऽऽत्मना प्रजेति ह।*

*विप्राः प्रहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना।।*[1]

स्मृतियों में यह कहा गया है कि जो पति होता है वही पत्नी (स्त्री) है। उस स्त्री से उत्पन्न सन्तान ही पति के नाम से जानी या कही जाती है। पत्नी[2] पति (पुरुष) से किसी भी दशा में अलग नहीं हो सकती न तो पुरुष द्वारा उसका विक्रय कर देने से और न उसको अस्वीकार कर देने से ही। पर वर्तमान समय में यह धारणा पूर्णतया अप्रासङ्गिक हो चुकी है चाहे पत्नी को बेच दिया जाय या अस्वीकार कर दिया जाय दोनों ही स्थितियों में वह पति से अलग हो जायेगी। जब विराट् पुरुष (ब्रह्मा)[3]

---

1. मनुस्मृति 9/45
2. मनुस्मृति 9/46
   न निष्क्रय विसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते
   एवं धर्म विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम्।।
3. मनिस्मृति 1/32
   द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्
   अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः।।

ने अपने शरीर के अर्द्धभाग से स्त्री और अर्द्धभाग से पुरुष बनाया तो स्त्रियों को विक्रय एवं अस्वीकार करने का अधिकार उन्हें कब मिल गया। जब स्त्री और पुरुष दोनों एक ही परम पिता परमेश्वर की रचना है तो इतना भेद भाव क्यों? स्मृतिकारों ने अपनी व्यवस्था में ही पुरुषों को स्वछन्द रहने का अधिकार एवं स्त्रियों पर नाना प्रकार के कार्यों का भार दिया आखिर क्यों?

भारतीय नारी की स्थिति पर गहराई से चिन्तन करने पर यही ज्ञात होता है कि युगों से शोषित नारी को सामाजिक दुर्दशाओं से मुक्ति नहीं मिल पायी है वर्तमान समय में भी एवं स्मृतियों में पत्नी को सन्तानोत्पत्ति की मशीन एवं पति की पारिवारिक सदस्यों की सेवा करने वाली अवैतनिक नौकरानी से ज्यादा कुछ नहीं समझा जाता है। पत्नी के रूप नारी की स्थिति सूक्ष्म परिवर्तनों के अतिरिक्त लगभग यथावत् बनी हुई है।

स्मृतियों[1] में पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी को संयमित (साध्वी की तरह) जीवन यापन करने को कह दिया है लेकिन पत्नी की मृत्यु के बाद तो पति को दूसरा विवाह करने की व्यवस्था दे दी गयी और यह कह दिया गया पति-पत्नी के बिना कोई धार्मिक कृत्य नहीं कर सकता।

पुरुष को शौर्य तो नारी को सौन्दर्य माना है। वर्तमान समय में जो पत्नी (नारी) प्रतिदिन लोक व्यवहार सन्तानोत्पादन अतिथियों का भोजन प्रबन्ध पति सास-ससुर एवं गुरुजनों की सेवा, श्रेष्ठ रति एवं धार्मिक कृत्यों

---

1. कात्यायन स्मृति 20/1-13

द्वारा अपना सर्वस्व परिवार के सदस्यों के प्रति समर्पित रहती है उसी के त्याग की प्रशंसा सर्वत्र होती है। इन्हीं गुणों से युक्त नारी को गृहलक्ष्मी गृहस्वामिनी जैसे नाम देकर समाज ने प्रतिष्ठित किया।

स्मृतियों[1] कहा गया है कि पत्नी की प्राप्ति दैवी अनुकम्पा से होती है। वह कोई पशु की भाँति अथवा सुवर्ण सदृश आपण (बाजार) में प्राप्त वस्तु नहीं हैं। मनुष्य अपने पूर्व जन्म के सुकृतों (सुकर्मों के पुण्य फल) से पत्नी प्राप्त करता है।

जबकि वर्तमान समय में यह धारणा पूर्णतया अर्थहीन या अप्रासङ्गिक है। जिसका पिता धनवान् है वह योग्य से योग्य वर ढूढ़कर अपनी कन्या का विवाह कर देता है। स्मृतियों में कन्या को आपण (बाजार) से न खरीदने की बात कही गयी थी, लेकिन वर्तमान समय में वर का तो बाजार के भाव सदृश विक्रय किया जा रहा है जो ज्यादा धन देता है वर को प्रायः उन्हीं के हाथों बेचा जाता है। मनुस्मृति[2] में कहा गया है कि पति को पत्नी के प्रति परुष, अभद्रवाणी का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

---

1. मनुस्मृति 9/95

   देवदत्ता पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः

   तां साध्वीं विभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन्।।

2. मनुस्मृति 4/180

   मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।

   दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्।।

पति-पत्नी दोनों एक दूसरे के पुण्य अपुण्यों में सहभागी होते है, क्योंकि उनमें अन्योन्यता का सम्बन्ध होता है।[1] पति पत्नी के लिए अभद्रवाणी का प्रयोग न करें, ऐसा व्यवहार में कम देखा जा रहा है अब तो घरेलू हिंसा अधिनियम 2006 भी पारित हो चुका है। ऐसी स्थिति में नाना प्रकार की पतियों की अभद्रता के मामले प्रकाश में आ रहे हैं।

जबकि स्मृतियों में (मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य) कहा गया है जहाँ स्त्री-पुरुषों में पारस्परिक अनुकूलता रहती है, वहाँ धर्म अर्थ काम तीनों की अभिवृद्धि होती है।[2] इसकी प्रासङ्गिकता आज भी यथावत् है कि पत्नी सर्वथा रक्षणीया है—क्योंकि पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र से इस लोक में वंश की अविच्छिन्नता स्थिर रखती है।[3] एक पक्ष के स्मृतिकार यह भूल जाते हैं कि यदि कन्या शिशु न होते तो ये दोनों सिद्धियाँ (वंश-वृद्धि और धर्म, अर्थ, काम) कैसे प्राप्त होती जो कि एक स्त्री के सहयोग से ही मिलती हैं।

### जननी

स्त्री के सभी रूपों में सर्वश्रेष्ठ, सर्वसम्मान्या, सर्वपूज्या रूप जननी

---

1. मनुस्मृति 8/317

   अन्नादे भ्रूणहामाष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी

   गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्विषम्।

2. मनुस्मृति 8/389 याज्ञवल्क्य स्मृति 1/78

   लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः

   **यस्मात्तस्यात्स्त्रियः सेव्या; कर्तव्याश्च सुरक्षिताः।। याज्ञवल्क्य स्मृति।।**

का है। जननी पद की गुरूता को प्राचीन युगों से स्वीकारा गया और वर्तमान समय में यथावत है। आपस्तम्ब का कथन है कि कुलच्युत अथवा जातिबहिष्कृत भी माता की पुत्र द्वारा सेवा करनी चाहिए, क्योंकि उसने (माता ने) उसके (पुत्र के) लिए अनेकशः कष्ट सहन किये हैं। शैशवावस्था से ही बालक के ऊपर माँ के अच्छे बुरे प्रभाव शिशुओं के स्वभाव में अमिट रूप में अङ्कित हो जाते हैं।

सामाजिक संस्कृति में भी माता का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। उसका सम्मान ही पुत्र की शक्ति बल और तेज है। माता[1] सर्वसहा (धरती) स्वरूपा है अर्थात् माँ पृथ्वी सदृश भार वहन करने वाली है। इसलिए माता की जैसी आज्ञा हो पुत्र को माननी चाहिए— *"यदा माताज्ञां ददाति तदा मातुराज्ञा क्रियते न तासाम्।।"* स्मृतियों[2] में अकारण माँ का परित्याग या अपमान करने वाले पुत्र की गणना अपाङ्क्तेय सदृश होती थी। वर्तमान समय में यह प्रासङ्गिकता बनी हुई है अब पुत्र केवल लोक निन्दा का ही पात्र होता है जाति बहिष्कृत या अपाङ्क्तेय नहीं किया जाता है।

स्मृतियों[3] में माता की सेवा सर्वश्रेष्ठ तप के समान बताई गयी है।

---

1. मनुस्मृति 2/226

   आचार्यो ब्राह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
   माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः।।

2. मनुस्मृति 3/157

   अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा
   ब्रह्मैयौनैश्च सम्बन्धैः संयोगं पतितैर्गतः।।

3. मनुस्मृति 2/228-229

वस्तुतः मातृशक्ति की समानता कोई शक्ति नहीं कर सकती, सभी शक्तियों को उसी में प्रतिस्थापित किया गया है। स्त्री जीवन की सफलता मातृत्व में है। मनु[1] ने तो कहा है कि माता बनने के बाद ही नारी अपने पूर्ण नारीत्व को प्राप्त कर पाती है। नारी के मातृत्व का सम्मान करते हुए ही स्मृतिकारों ने तीन मास की गर्भिणी को कर से मुक्त रखा है। वर्तमान समय में यदि नारी किसी नौकरी में है तो उसे मातृत्व अवकाश की विशेष सुविधा दी जाती है। मातृत्व का गौरव पुत्रोत्पादन में ही स्मृतिकाल में भी था और वर्तमान समय में भी मातृत्व के अभाव में नारी की स्थिति न्यून थी।

यदि देखा जाय तो स्मृतिकारों ने वास्तव में नारी की निन्दा नहीं बल्कि उसके दुर्गुण एवं दुराचार की निन्दा की। दुराचारी स्त्री हो या पुरुष दोनों ही निन्दा के पात्र हैं। स्त्री के विविध रूपों की उपेक्षा निन्दा करते हुए एकाएक माँ के रूप में इतना सम्मान स्मृतिकारों[2] ने दिया ये महान आश्चर्य की बात है। फिर भी माँ का स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं स्वीकार किया।

तत्कालीन समाज एवं वर्तमान समय में विधवा जीवन गर्हित न था। विधवाएं उपेक्षणीय एवं शुभ माङ्गलिक अवसरों पर अदर्शनीया मानी जाती थी। गृह के अन्य स्त्रियों की भाँति जीवन यापन करते हुए संयमित जीवन

---

1. मनुस्मृति 9/76
2. मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति में
   "पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने"
   रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्रीस्वात्ल्यमर्हति।। 9/3

यापन की अपेक्षा की जाती है। स्मृतिकारों[1] ने विधवा पुनर्विवाह को मान्यता नहीं दी लेकिन वर्तमान समय में पुनर्विवाह को प्रोत्साहित किया जा रहा है उस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं। अब इस तरह की धारणा गौण हो चुकी है कि विधवा द्वारा पुनर्विवाह करने से पति की आत्मा को कष्ट होगा।

स्मृतिकाल एवं वर्तमान समय में गणिका अर्थात् वेश्या का सार्वजनिक स्वरूप ही परिलक्षित हुआ है गणिका हमेशा से सर्वभोग्या थी। स्मृतियों में उसे राजा के संरक्षण में रहकर व्यवसाय करना था। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वैधानिक नियम से (लाइसेन्स) द्वारा अपना व्यवसाय करने की अनुमति है।

स्मृतियों[2] में गणिकाओं के हाथ का भोजन ग्राह्य नहीं था। मनु ने तो गणिका वेश्यालय को शौनकगृह (कसाईखाना) से भी घृणित कहा। स्मृतिकार[3] यद्यपि गणिकाओं के प्रति बहुत कठोर थे उनकी दृष्टि में गणिकाएं अत्यन्त विषम सामाजिक दूषण की भूमि थी।

*ऊनं वाऽभ्यधिकं वाऽपि लिखेद्यो राजशासनम्।*

*पारदारिक चौरं वा मुञ्चतो दम्ड उत्तमः।।*

इतने कठोर प्रतिबन्धों के बाद भी पुरुषों का वेश्यालय के प्रति रुझान

---

1. · मनुस्मृति 5/156, 158, 5/162।
2. मनुस्मृति 4/84
3. मनुस्मृति 2/258-260, याज्ञवल्क्य स्मृति 2/294

था और गणिकाओं के व्यवसाय को पुष्पित एवं पल्लवित करने का श्रेय पुरुषों को ही है। गणिकाएं न तो स्मृतिकाल में सामाजिक दृष्टि से सम्मानित समझी जाती थी न वर्तमान समय में ही। लेकिन नारी के विविध रूपों की अपेक्षा वह स्वतन्त्र थी और उसका समाज में स्वतन्त्र आस्तित्व भी था।

विवाह : भारतीय संस्कृति में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान प्राचीन काल से ही है। इसी कारण सामाजिक संस्कृति में भी धार्मिक क्रियाएं, अन्य धर्माचरण को अधिकाधिक प्रश्रय दिया जाता था। धर्माचरण युक्त व्यक्ति विशेष आदर पाता था, उसके विपरीत अनादर का पात्र था। धर्माचरण ही व्यक्ति की सामाजिक स्थिति (उच्च या निम्न) का परिचायक होता था। स्मृतिकारों ने विवाह संस्कार सम्पन्न होने के पश्चात् पति-पत्नी के धार्मिक कार्य साथ-साथ सम्पादित करने का अधिकार दिया।

पुरुष शिशुओं के लिए तो पूरा परिवार हजारों सुनहरे सपने पालता है। उसे क्या-क्या बनाने की कल्पनाएं की जाती हैं। इसके विपरीत कन्या शिशुओं के लिए प्रायः एकमात्र लक्ष्य होता है—विवाह। हमारे समाज में विवाह ही युगों से कन्या की नियति क्यों माना जाता है? ऐसा क्यों समझा जाता है कि स्त्री का वास्तविक कार्य घर परिवार में सिमटकर वहाँ की रोटी रसोई संभालना ही है और पति के कुल की लाज बनकर जीवन की अंतिम सांस तक अपने व्यवहार से अपने पितृकुल का नाम ऊँचा करना है। नारी पर ही यह जिम्मेदारी क्यों? विवाह से पूर्व उनको

किन-किन परीक्षणों से गुजरना पड़ता है? स्मृतिकाल एवं वर्तमान समय में क्या-क्या परिवर्तन हुए या स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है ?

हिन्दू समाज या भारतीय समाज में पत्नी-पति की अर्द्धाङ्गिनी है जब तक व्यक्ति विवाह नहीं करता या सन्तानोत्पत्ति नहीं करता तब तक वह पूर्ण नहीं होता। यह धारणा स्मृतिकालिक समाज में भी प्रासङ्गिक थी और वर्तमान समय में भी इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विवाह संस्कार किया जाता है। (याज्ञवल्क्य एवं मनु[1] के अनुसार वंश की अविच्छिन्नता एवं स्वर्ग प्राप्ति ये दोनों कार्य स्त्रियों द्वारा ही पूर्ण होते हैं, वर्तमान समय में यही उचित है।

स्मृतियों में एवं वर्तमान समय में भी शुभ लक्षणों वाली बुद्धिमती सच्चरित्र एवं सुन्दर कन्याओं से विवाह करने की ही कल्पना की जाती रही है वर चाहे जैसा हो, कन्या सुन्दर होनी चाहिए।

वर वधू के विवाह की आयु के विषय में स्मृतियों में मतभेद मिलता है। यद्यपि वर की आयु के विषय में कोई विशेष मतभेद नहीं है। क्योंकि उसे प्रथम आश्रम (ब्राह्मचर्य) के कर्त्तव्यों को समाप्त करके ही द्वितीय आश्रम (गृहस्थाश्रम) में प्रवेश करने का अधिकार है। अतः इसके लिए यह कहा जा सकता है कि वह लगभग पच्चीस वर्ष की आयु ब्रह्मचर्याश्रम में पूर्ण करके ही गृहस्थ होने की आज्ञा गुरु से प्राप्त करेगा, तथापि कन्या

---

1. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/78, मनुस्मृति 9/28

की आयु के विषय में कोई निश्चित मत प्राप्त नहीं होता। याज्ञवल्क्यस्मृति[1] में कहा गया है कि कन्या वर की अवस्था से यवीयसी (छोटी) होनी चाहिए। मनुस्मृति[2] में तीस वर्ष के पुरुष के लिए बारह वर्ष की कन्या के साथ तथा चौबीस वर्ष के पुरुष के लिए आठ वर्ष की कन्या के साथ विवाह करना अच्छा माना गया है। विष्णुपुराण[3] भी इसी बात का समर्थन करता है।

धर्मसूत्रों[4] और स्मृतियों में अल्पवय वाली कन्या के विवाह का विधान मिलता है। धर्मशास्त्रों में यह कहा गया है कि कन्या का विवाह रजोदर्शन अथवा किसी अङ्ग परिवर्तन से पहले कर देना चाहिए। कन्या की विवाह के लिए कम आयु के निर्धारण के दो कारण प्रतीत होते हैं—

(1) एक तो उसके मानसिक विकास न होने से अपने भावी पति के सम्बन्ध में विशेष कल्पना का न होना।

(2) पारिवारिक समायोजन की क्षमता और पवित्रता।

कन्या यदि अधिक उम्र की हो जाती है तो उसके मन में अपने

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/52

   अविलुप्तब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।

   अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्।।

2. मनुस्मृति 9/94

3. विष्णुपुराण "वर्षैरेकगुणां आर्यामुद्वदेत् त्रिगुणः स्वयम्।"

4. गौतम धर्मसूत्र 18, 20, 23 बौधायन धर्मसूत्र 4, 1, 12-14, मनुस्मृति 9/90-91 याज्ञवल्क्यस्मृति आचाराध्याय 1/64

भावी पति के प्रति एक कल्पनात्मक चित्र अङ्कित हो जाता है और यदि उस चित्र के अनुरूप उसे पति नहीं मिल सका तो उसे असन्तोष होता है। कन्या के आदर्श के अनुकूल पति न होने से पति के प्रति होने वाले कर्तव्यों में उतनी जागरूकता सम्भव नहीं हो पाती जितना अपेक्षित है। साथ ही साथ पति के अतिरिक्त यदि कोई पुरुष उसकी कल्पना से मिलता है तो उसके मन में आकर्षण हो जाना स्वाभाविक है। सम्भवतः स्त्री को पति के प्रति अत्यधिक अनुरक्त बनाने के लिए ही धर्मशास्त्रों में अल्पवय की कन्या के विवाह का निर्देश किया है।

दूसरी ओर अत्यधिक उम्र हो जाने के कारण कन्या को अपने पति के परिवार में समायोजन की कठिनाई होती है, क्योंकि अपने माता-पिता के घर में उसके अनेक ऐसे अभ्यास हो जाते हैं, जिन्हें पति के घर में छोड़ना कठिन हो जाता है और जिन्हें (अभ्यास) त्यागे बिना वहाँ (ससुराल) समायोजित होना सम्भव नहीं लगता। धर्मशास्त्रों की दृष्टि में स्त्री को योग्य सन्तान उत्पन्न करने का एक मात्र आधार माना जाता था। जिसके लिए धर्मशास्त्रों में स्त्री के यौन पवित्रता पर विशेष ध्यान दिया गया। विवाह के लिए कम वय का निर्धारण इस दृष्टि से भी उपयुक्त माना गया होगा।

नारियों की विवाह की अवस्था के विषय में यह कहा जा सकता है कि सभी कालों में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में विवाह अवस्था पृथक् पृथक् मानी गयी। स्मृतियों में पुरुषों के लिए विवाह की कोई निश्चित समय सीमा नहीं थी। पुरुष यदि चाहे तो जीवन भर विवाह कर सकता था

या अविवाहित रह सकता था। वेदाध्ययन के पश्चात् पुरुष विवाह कर सकता था। यद्यपि वेदाध्ययन की परिसमाप्ति की अवधि में विभिन्नताएं रही हैं। यथा 12-24-36-48 या उतने वर्ष जितने में एक वेद या उसका कोई अंश पढ़ लिया जाय। वर्तमान समय में भारतीय समाज 1/3 की अवस्था का प्रचलन नहीं है। भारतीय दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 125 के द्वारा बाल विवाह अपराध है। अब भारतीय संविधान में विवाह की आयु लड़की की 18 वर्ष और लड़के 21 वर्ष मानी गयी है। धीरे-धीरे विवाह के लिए स्त्री एवं पुरुष के समान वय की अवस्था की माँग चल रही है।

स्मृतिकारों ने कन्याओं के उपनयन की अवस्था आठ वर्ष निर्धारित की। यही अवस्था विवाह के लिए भी उपयुक्त मानी जाती थी। इसी का समर्थन याज्ञवल्क्य स्मृति एवं पराशर स्मृति में भी मिलता है। स्मृतिकारों 8 वर्ष की कन्या को गौरी 9 वर्ष की रोहिणी, 10 वर्ष की कन्या तथा इसके ऊपर रजस्वला कही जाती थी। समाज में एक धारणा यह भी बन गयी थी कि अविवाहित रूप से कन्या के मर जाने पर स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती।

मनुस्मृति[1] में कहा गया है कि युवती भले ही जीवन भर अपने पिता के घर में अविवाहित रह जाय किन्तु पिता को चाहिए कि वह सद्गुण

---

1. मनुस्मृति 9/89-90

विहीन वर से विवाह न करें। वही याज्ञवल्क्यस्मृति एवं नारदस्मृति[1] में कहा गया है कि अविवाहित कन्या रहने पर अभिभावक या पिता कन्या के प्रत्येक मासिक धर्म पर गर्भ गिराने के पाप का भागी होता है। इसी का समर्थन संवर्त-स्मृति में किया गया है। स्मृतियों में परस्पर विरोधाभास दिखता है। संभवतः इसी कारण कालान्तर में यह नियम बन गया होगा कि कन्या का विवाह शीघ्र हो जाना चाहिए भले ही वर गुणहीन क्यों न हो? अतः विवाह ने ही उपनयन का स्थान ले लिया।

स्मृतिकारों[2] ने कन्याओं के बाल विवाह को प्रोत्साहन दिया। रजस्वला होने के बाद कन्या को घर में रखना स्मृतिकालिक समाज में मान्य न था। किसी भी अङ्ग परिवर्तन से पूर्व उसकी (कन्या की) शादी कर दी जाती थी। जबकि वर्तमान समय में कन्या को अपने भविष्य निर्माण के लिए पर्याप्त समय दिया जाता है और विवाह की समय सीमा निर्धारित नहीं है, कन्याएं आत्मनिर्भर होकर मनपसंद जीवन साथी का चुनाव करने के लिए भी स्वतन्त्र हैं, लेकिन यह विशेषकर शिक्षित नारियों के लिए संभव है।

मध्यकाल में मुस्लिम आक्रान्ताओं के भय से कन्याओं का विवाह शीघ्र कर दिया जाता था। छठी एवं सातवी शताब्दी में जो नियम बन

---

1. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/64 नारदस्मृति 26-27
2. संवर्त स्मृति—

   माता चैव पिता चैव ज्येष्ठ भ्राता तथैव च।

   **त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्या रजस्वलाम्।।**

गये वह बहुत दिन तक समाज में किसी न किसी रूप में प्रचलन में रहे। भारतीय समाज में आज बहुत से सामाजिक कारक है, जिससे विवाह की अवस्था बहुत बढ़ गयी है। यहाँ तक आजकल दहेज जैसी कुप्रथा के कारण भी सभी वर्ग की कन्याओं के विवाह में देरी हो रही है। स्मृतिकारों द्वारा विवाह योग्य जो अवस्था बतायी गयी थी, आज समाज में यदा-कदा प्रचलन में दिखायी पड़ रही है। बाल विवाह निरोधक अधिनियम 1978 द्वारा बाल विवाह को निषिद्ध कर दिया गया। अब कन्या के विवाह की आयु 18 वर्ष एवं वर के विवाह की आयु 21 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए।

वर्तमान समय में एवं स्मृतियों में भी सगोत्र एवं सपिण्ड विवाह अप्रशस्त था। सपिण्ड से बाहर ही भारतीय हिन्दू समाज में विवाह अवश्य किया जाता था। पराशरस्मृति[1] में कहा गया है कि सगोत्र कन्या से मातृत्व व्यवहार नहीं करना चाहिए। मनु[2] ने भी कहा है कि माँ एवं पिता के गोत्र से अलग स्त्री को स्त्रीकर्म (मैथुन) श्रेष्ठ माना गया। सगोत्र[3] कन्या से विवाह करने पर नाना प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान था। अपरार्क एवं आपस्तम्ब ने सगोत्र कन्या से विवाह पर चान्द्रायण व्रत का विधान किया वर्तमान समय में हिन्दू विवाह में सपिण्ड विवाह निषिद्ध है।

---

1. पराशर स्मृति 2/2
2. मनुस्मृति 3/5
3. मनुस्मृति 11/172, 173 याज्ञवल्क्य स्मृति 3/254

स्मृतिकाल में माँ की पाँच पीढ़ी एवं पिता की सात पीढ़ी तक विवाह नहीं हो सकते थे। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के धारा 5 के अनुसार सपिण्ड विवाह शून्य माना जाता है। दक्षिण भारत के कुछ जातियों में ममेरी, फुफेरी बहनों से विवाह शुभ माना जाता है। पराशरमाधवीय संस्कार कौस्तुभ, धर्मसिन्धु एवं स्मृतिचन्द्रिका में मातुलसुता परिणय वैध माना गया है।

स्मृतिकारों ने विवाह को एक संस्कार माना है आज भी विवाह एक संस्कार के रूप में ही प्रचलित है और कहा जाता है कि—विवाह वह ग्रन्थि है जो एक बार बँध जाने के बाद छूट नहीं सकती यद्यपि टूट भले ही जाय। विवाह पति-पत्नी के बीच एक संस्कारात्मक योग माना जाता है। गृहस्थाश्रम की प्रासङ्गिकता स्मृतिकाल से वर्तमान समय में भी यथावत् है। स्त्री को अर्द्धाङ्गिनी तथा धर्मपत्नी की संज्ञा दी गई। धर्मपत्नी का अर्थ है कि वह पुरुष जो धर्म कार्यों वेद विहित कर्म को अपनी पत्नी के साथ-साथ पूर्ण करें।

मनु आदि[1] स्मृतिकारों ने आठ प्रकार के विवाह माने है—(1) ब्रह्म विवाह, (2) दैव विवाह, (3) आर्ष विवाह, (4) प्राजापत्य विवाह, (5) गन्धर्व विवाह, (6) असुर विवाह, (7) राक्षस विवाह एवं (8) पैशाच विवाह।[1] ये समस्त विवाह क्या वर्तमान समय में प्रासङ्गिक है? यदि देखा

---

1. मनुस्मृति 3/21, 23, 24, 25 एवं याज्ञवल्क्य स्मृति 1/58

जाय तो भारतीय समाज में आठों प्रकार के विवाह प्रचलन में नहीं है। लेकिन ब्राह्म विवाह, प्राजापत्य विवाह एवं गान्धर्व विवाह (प्रेम विवाह) आज भी प्रासङ्गिक है। गान्धर्व विवाह तो नवयुवक एवं नवयुवतियों में स्मृतिकालीन समाज की अपेक्षा ज्यादा प्रचलन में है। सर्वाधिक[1] प्रचलन में ब्राह्म विवाह है। स्मृतिकालिक समाज में एवं आज कन्या के माँ-पिता (अभिभावक) कन्या के अनुकूल योग्य वर की तलाश करते है। स्मृतिकाल में विवाह का मुख्य लक्ष्य सन्तानोत्पादन एवं धार्मिक कृत्य था जबकि वर्तमान समय में सन्तानोत्पादन एवं रतिसुख मुख्य लक्ष्य हो गया है। धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान अब गौण हो चुका है।

स्वयंवर[2] की प्रथा अब समाप्त हो गयी है लेकिन स्वयं वर को वरण करने के प्रति युवक-युवतियाँ उन्मुख हो रहे हैं।

स्मृतियों में कहा गया है कि जैसा विवाह होगा पति-पत्नी से सन्तानें भी उसी प्रकार की होगी, यदि विवाह अत्युत्तम ढंग का होगा तो सन्तानें सच्चरित्र होंगी और विवाह निन्दित ढंग का होगा तो सन्तानें निन्दित चरित्र वाली होंगी। इस प्रकार की धारणा का वर्तमान समय में कोई मूल्य नहीं

---

1. मनुस्मृति 9/97

   सकृदशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।

   सकृदाह ददानीति त्रीव्येतानिसतां सकृत।।

2. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/64

   अप्रयच्छन्माप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ।

   गम्यं त्वभावे दातृणां कन्या कुर्यात्स्वयंवरम्।।

है। वर्तमान में विज्ञान द्वारा यह तथ्य प्रमाणित कर दिया गया है कि अन्तर्जातीय विवाह से उत्पन्न सन्तान मानसिक रूप से तीव्र तीक्ष्ण बुद्धि के होती है।

स्मृतियों[1] में (मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति) स्वजाति में विवाह करना सामाजिक प्रतिष्ठा एवं कुल के गौरव की बात मानी जाती थी। स्वजाति में विवाह की प्रासङ्गिकता आज भी विद्यमान है, सवर्ण जातियों में विवाह ज्यादा प्रचलन में है। स्मृतिकारों ने द्विजातियों को शूद्रा स्त्री से विवाह को निषिद्ध किया था जबकि वर्तमान समय में द्विजाति पति एवं शूद्रा पत्नी का विवाह संवैधानिक दृष्टि से मान्य है। समाज में भी समादरणीय है। सरकार द्वारा भी अन्तर्जातीय विवाह करने पर 75 हजार रुपये का पुरस्कार दिया जा रहा है। वर्तमान समय में विवाह से सम्बन्धित अनेक समस्याओं को देखते हुए, समाज का एक बड़ा वर्ग अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन करने लगा है। देश के कोने-कोने से अन्तर्जातीय विवाह के समर्थन में आवाज उठायी जा रही है। कट्टर से कट्टर सनातनी भी जानते हैं कि अपनी जाति के भीतर पुत्रियों के लिए योग्य वर मिलना कठिन है। लेकिन समाज में प्रायः यही देखने को मिलता है कि अन्तर्जातीय विवाहों के कारण माँ-बाप अपने वैवाहिक कर्त्तव्यों का त्याग कर देते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो निश्चय अन्तर्जातीय विवाह माँ-बाप के लिए रामबाण है और दहेज जैसी बीमारी की एक मात्र औषधि

---

1. मनुस्मृति 3/12, याज्ञवल्क्य स्मृति 1/55, 1/62

है, इससे न केवल दहेज जैसी बीमारी जड से नष्ट होगी; अपितु जाति बन्धन भी टूटेंगे। यद्यपि समाज में अन्तर्जातीय विवाह की माँग उठने लगी, फिर भी अधिकांश लोग जटिल जाति बन्धनों को तोड़ने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं। अन्तर्जातीय विवाह समाज में इतने कम हो रहे हैं कि अङ्गुलियों पर गिने जा सकते हैं।

अन्तर्जातीय विवाह को हमारा भारतीय समाज स्वीकार नहीं कर पा रहा है, जिसके कारण दहेज प्रथा ने एक व्यापक समस्या का रूप धारण कर लिया है। 1940 के दशक से इस प्रथा को समाप्त करने के लिए आवाजें उठने लगी थी जो उत्साही युवक हिन्दू समाज का सुधार करना चाहते थे उन्होंने सिर्फ इस घातक प्रथा का विरोध किया इसको समूल नष्ट कर कार्य रूप में परिणत करने की कोशिश नहीं की। वास्तव में दहेज प्रथा ने हिन्दू समाज को खोखला कर दिया। स्वतन्त्रता के पश्चात् भी इस समस्या के निदान के लिए बुद्धिजीवियों के विचारों एवं प्रयासों ने व्यापक रूप धारण नहीं किया। यह प्रथा बनी ही रही और धीरे-धीरे इस समस्या की विकरालता बढ़ती ही जा रही है। दहेज विरोधी अनेक अधिनियम बना दिये गये हैं, लेकिन ये कानून मात्र बनकर ही रह गये हैं।

स्मृतिकारों[1] ने अनुलोम विवाह को वर्जित नहीं किया, जबकि प्रतिलोम विवाह की भर्त्सना की। प्रतिलोम विवाह उत्पन्न सन्तान शूद्र के समान बताया और उपनयनादि संस्कार बन्द कर उन पर व्रत एवं प्रायश्चित्त कर

---

1. मनुस्मृति 3/12, याज्ञवल्क्य स्मृति 1/55, 1/62

दिया। स्मृतिकारों[1] ने पुरुषों की अपनी काम पिपासा की शान्ति के लिए उनको तो अनेक विवाह (सवर्ण-असवर्ण) करने का विधान कर दिया, लेकिन असवर्ण पत्नी को धार्मिक कृत्यों में सहभागिनी नहीं बनाया।

जबकि वर्तमान समय में अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह दोनों संवैधानिक रूप से मान्य है। अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को जितना अधिकार है, प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को भी वही अधिकार है। काम पिपासा की शान्ति के लिए एक से अधिक विवाह कानून अवैध है। पुरुष द्विज हो और पत्नी शूद्र जाति की हो, तो भी वह पति की समस्त धार्मिक कृत्यों की सहयोगिनी हो सकती है एवं समाज में आदर की अधिकारिणी है। स्मृतिकालीन समस्त बातें अब आप्रसङ्गिक हो चुकी है कि शूद्रा पत्नी धार्मिक कृत्य की सहयोगिनी नहीं हो सकती। किसी भी स्मृति में माता को कन्यादान की व्यवस्था नहीं दी गयी है।

मेधातिथि द्वारा मनुस्मृति 3/15-16 पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि शूद्रा पत्नी के समागम से यदि पुत्री उत्पन्न हो तो अनुचित नहीं, लेकिन पुत्रोत्पत्ति वर्जित है। प्रायः स्मृतिकारों की यह धारणा रही होगी कि शूद्रा पत्नी से जो कन्या पैदा होगी वह विवाह के पश्चात् ससुराल चली जायेगी, क्योंकि कन्या पति के कुल के नाम से जानी जाती है। ये समस्त विचार वर्तमान समय में अप्रासङ्गिक हो चुके हैं अब कन्या की योग्यता के

---

1. सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि

   कामस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्यु क्रमशोवराः।। मनुस्मृति 3/12।।

(अनुलोम, प्रतिलोम) समक्ष समस्त धारणाएं निर्मूल साबित हो गयी हैं।

स्मृतिकारों एवं हिन्दू भारतीय समाज में एक ही विवाह को आदर्श माना था। स्त्री के लिए तो एक पति का विधान था जबकि पुरुष एक साथ कई विवाह कर सकता था। पुरुष एवं स्त्री का आदर्श वैवाहिक जीवन वही कहा जाता था जहाँ सम्बन्धों में स्थायित्व था। मनु[1] के अनुसार मद्यपान करने वाली, पति के प्रतिकूल रहने वाली, दुराचारिणी, मारने फटकारने वाली, अधिक धन व्यय करने वाली, रोगिणी पत्नी के जीवित रहते दूसरी स्त्री से विवाह कर लेना चाहिए। याज्ञवल्क्य स्मृति[2] समस्त कारणों को बताने के बाद यह भी गिना दिया कि कन्या को जन्म देने वाली पत्नी के रहते व्यक्ति दूसरा विवाह कर सकता है। वर्तमान समय में विज्ञान के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि पुत्र या पुत्री के जन्म देने का उत्तरदायी सिर्फ और सिर्फ पुरुष ही है। पुरुषों में xy गुणसूत्र होते हैं जबकि स्त्रियों में xx गुणसूत्र होता है। स्त्री का x गुणसूत्र पुरुष के y गुणसूत्र से मिलता है तो पुरुष शिशु और स्त्री का x गुण सूत्र जब पुरुष के x गुण सूत्र से मिलता है तो कन्या शिशु जन्म लेती है।

---

1. मनुस्मृति 9/80

   मद्यपानऽसधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्।
   
   व्याधितावाऽधिवेत्तव्या हिंस्रार्थहनी च सर्वदा।।

2. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/73

   सुरापी व्याधिता धूर्ता वन्ध्यार्थध्न्यप्रियंवदा।
   
   स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी तथा।।

पत्नी के दुराचारी होने पर पति को दूसरी पत्नी का विधान कर दिया, जबकि पति के दुराचारी एवं पतित होने पर पत्नी को पतित्याग का अधिकार नहीं था। ये समस्त स्मृतिकालिक विचार वर्तमान समय में निर्मूल/निरर्थक है। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 धारा 5 के अन्तर्गत अब जितना अधिकार पति का है उतना ही पत्नी का। अनुच्छेद (14) में समानता का अधिकार स्त्रियों का भी मौलिक अधिकार है। ये बात चिन्तनीय है कि अशिक्षित होने के कारण कुछ स्त्रियाँ अपने इस अधिकार से अनभिज्ञ है।

मनुस्मृति[1] में पत्नी त्याग की जो बात कही गयी है कि सन्तानहीन होने पर आठ वर्ष, मृतसन्तान पैदा करने पर दस वर्ष, कन्या उत्पन्न करने पर ग्यारहवें वर्ष और अप्रिय बोलने वाली स्त्री को तत्काल उपेक्षा करके दूसरे विवाह का विधान स्मृतिकारों ने किया। बहुपत्नी प्रथा के सबसे बड़े पोषक स्मृतिकार ही थे जिन्होंने इसको पुष्पित एवं पल्लवित किया। इसका प्रमुख कारण था— (1) पुत्रों की अत्यधिक महत्ता

(2) स्त्रियों का अशिक्षित होना।

(3) स्त्रियों का पति पर आश्रित होना।

प्रायः देखा जाय तो कन्या विवाह की उम्र सीमा 8, 9, 10 वर्ष थी।

---

1. मनुस्मृति 9/81 बन्धाष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजजनी सद्यस्त्वप्रियवादिनी।।

बाल विवाह होने से स्त्रियाँ अशिक्षित होती थी। अशिक्षा के कारण वह पूर्णतया अपने पतियों पर निर्भर थी। आश्रिता होने के कारण पुरुषों ने स्त्रियों पर नाना प्रकार कठोर प्रताड़ना देकर उनकी स्थिति शूद्रों की कोटि में पहुँचा दी। स्मृतिकालीन समाज में सम्भवतः एक से अधिक पत्नी रखना प्रतिष्ठा एवं सम्मान समझा जाता रहा हो, पुरुष अपनी सामर्थ्यानुसार जितनी आर्थिक सुदृढ़ता रही होगी इच्छानुसार उतनी पत्नियाँ रख सकता था।

वर्तमान समय में बहुपत्नी प्रथा वैधानिक रूप से हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 धारा 13 द्वारा अवैध है, लेकिन इसकी प्रासङ्गिकता येन-केन प्रकारेण बनी हुई है। पति एक स्त्री (पत्नी) से हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 12 सम्बन्द विच्छेद करके दूसरा विवाह कर सकता है। पुरुष अपनी इच्छा तृप्ति के लिए अन्य उपाय (रखैल) अपना रहा है। स्मृतिकालीन समाज में कई पत्नियों के माध्यम से निःसंदेह इच्छा तृप्ति हो जाती रही होगी।

<u>नारियों का आर्थिक अधिकार</u> : प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में सम्पत्ति के विभाजन के सम्बन्ध में दो शब्दों का प्रयोग मिलता है—रिक्थ एवं दाय। सामान्य रूप से 'दाय' का अर्थ—पैतृक सम्पत्ति और 'रिक्थ' का तात्पर्य वसीयत से किया जाता है। इस प्रकार इतिहास का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि वैदिक काल से ही नारियों को सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त न था। स्मृतिकाल में तो नारी स्वयं ही पति की चल सम्पत्ति के समान क्रय-विक्रय की वस्तु थी। पति-पत्नी को स्वयं अपनी सम्पत्ति

समझता था। वैसे हिन्दू समाज में स्त्री-पुरुष एक प्राण दो देह माने जाते थे। उनका स्वार्थ स्वत्व एवं अधिकार एक रहा है। यदि पति सम्पत्ति एवं पत्नी का स्वामी है तो पत्नी भी पति के सर्वस्व की तथा उसके हृदय की स्वामिनी है। स्मृतियों में नारियों के सम्पत्ति विषयक जो अधिकार थे क्या वर्तमान समय में भी प्राप्त है या कुछ स्थिति परिवर्तित हुई है? मनु[1] ने तो पुत्र को अपनी आत्मा के समान माना एवं पुत्री को उस पुत्र के समान माना है। पुत्र के अभाव में ही पुत्री को कुछ सम्पत्ति अधिकार था। मनु[2] याज्ञवल्क्य[3] एवं कात्यायन[4] "कन्यकानां त्वदत्तानां चतुर्थो भाग इष्यते।" ने अविवाहित कन्याओं को पिता की सम्पत्ति के चतुर्थांश का ही अधिकारिणी माना था, विवाहित कन्या को पिता की सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं प्राप्त था। यदि देखा जाय तो वर्तमान समय में अशिक्षित नारियों के लिए आज भी स्मृतिकालिक वचनों की उपादेयता यथावत् है। आज भी कन्या/बेटी माता-पिता के लिए भार ही है। बेटी के विवाह में अपनी सम्पत्ति का चतुर्थांश भाग ही वह खर्च करके कन्या के बोझ से

---

1. मनुस्मृति 9/130

    यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।

    तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्।।

2. मनुस्मृति 9/118

    स्वेभ्योऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरःपृथक्।

    स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः।।

3. याज्ञवल्क्य स्मृति 9/124
4. कात्यायन दायभाग पृ0 69 पर उद्धृत

मुक्ति पाना चाहता है। अशिक्षित एवं संकोचवश वह कोई प्रतिकार भी नहीं करती। दायभाग[1] में पराशर को उद्धृत करके अविवाहित कन्या को विवाहित कन्या से अधिक मान्यता दी गयी है। कन्या के चतुर्थांश पर पराशर माधवीय[2] के टीकाकार "भारूचि" एवं "अपरार्क" ने टीका लिखी है कि चूँकि यह धन बहनों के विवाह के लिए निर्धारित है अतः विवाह के बाद पैतृक सम्पत्ति पर बहनों का कोई अधिकार नहीं रहता। नारदस्मृति[3] में भी कहा गया है कि पैतृक धन के अभाव में भाइयों का यह कर्त्तव्य निश्चित किया कि वे स्वार्जित सम्पत्ति में से बहनों का विवाह करें।

*अविद्यमाने पित्रर्थे स्वांशादुद्धृत्य वा पुनः।*

*अवश्यकार्याः संस्कारा भ्रातृभिः पूर्व संस्कृतैः।।* नारदस्मृति13/34

इसी का समर्थन मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति[4] भी करती है।

इसकी उपादेयता (चतुर्थांश की) आज भी बनी हुई पैतृक सम्पत्ति के अभाव एवं पिता की मृत्यु हो जाने पर आज भी भाई बहनों का विवाह करता है। विवाह में किसी प्रकार की कमी होने पर या बहन का विवाह न करने पर लोकनिन्दा का पात्र बनता है। वर्तमान समय में तो कन्या

---

1. दायभाग 11/2/4, पृ0 175
2. पराशरमाधवीय पृ0 510, 511 में उद्धृत। एवं अपरार्क 2/124 पृ0 741-43 पर उद्धृत।
3. नारद स्मृति 13/34
4. मनुस्मृति 9/118, याज्ञवल्क्य स्मृति 2/124

को पिता की सम्पत्ति में पुत्रों के समान ही अधिकार प्राप्त हो गया है चाहे वह विवाहित हो या अविवाहित सम्पत्ति की माँग वैधानिक तरीके से कर सकती है। वस्तुतः कन्या को दायाद बनाने में बाधक है उसका विवाह के बाद पति गृह चले जाना। चल सम्पत्ति का बंटवारा तो हो सकता है अचल सम्पत्ति के बँटवारे में व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा और भाई बहन के सम्बन्ध में मधुरता नहीं रह जायेगी। कानूनन अधिकार मिल जाने पर भी सामान्यतया यह व्यवहार में परिणत नहीं है।

वर्तमान समय में भी स्त्रियों का सर्वाधिकार पूर्णरूपेण नहीं होता है उनका जीवन भर उपभोग तो कर सकती है। किन्तु न तो नष्ट कर सकती है न विक्रय कर सकती है केवल निर्दिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसका विनियोग कर सकती है। स्मृतिकारों ने स्त्री का स्वत्व तो सिर्फ उसके स्त्रीधन (कुछ आभूषण वस्त्रादि जो विवाह में उपहार स्वरूप मिले हैं) पर है।[1] व्यावहारिक धरातल पर तो वर्तमान समय में भी नारी इसका भी (स्त्रीधन) स्वतन्त्ररूप से उपभोग नहीं करती। किसी न किसी रूप में पति या सास-ससुर का हस्तक्षेप रहता है। यदि किसी को दे दें

---

1. मनुस्मृति 9/194, नारद ने (छह प्रकार स्त्रीधन) दायभाग 8, विष्णुस्मृति 17/18, यांज्ञवल्क्य स्मृति 2/143/44
   कात्यायन स्मृति— "विवाहात्परतो यच्च लब्धं भर्तृकुलात्स्त्रिया। अन्वाधेयं तु तद्द्रव्यं लब्धं पितृकुलात्तथा।।" इति स्त्रीधनं परिकीर्तितमिति गतेन सम्बन्धः।"

या विक्रय कर दें तो नाना प्रकार के प्रश्नों के उत्तर एवं ताने दिए जाते हैं। मनु[1] ने घोषणा की है कि पति के जीवन काल में स्त्रियाँ जिन आभूषणों को पहनती हो उनको भाई आदि रिक्थहर आपस में न बाँटे, क्योंकि उन्हें लेने पर वे पतित हो जाते है।

*पत्यौजीवति यःस्त्रीभिरलङ्कारों धृतो भवेत्।*

*न तं भजेरन्दायादा भजमाना पतन्ति ते।।*

मिताक्षरा[2] स्त्रीधन की संख्या नहीं आकी है। छह प्रकार के स्त्री धन से कम प्रकार का स्त्रीधन हो ही नहीं सकता, किन्तु अधिक प्रकार का हो सकता है। कात्यायन[3] ने तो स्त्रीधन पर नारियों का ही स्वत्व स्वीकार किया है और उसके विनियोग की भी स्वतन्त्रता दी है किन्तु नारियों[4] की कमाई (शिल्पादि) पर तथा सम्बन्धियों के अतिरिक्त व्यक्तियों द्वारा दी गई भेटों पर पति का ही स्वत्व माना है। इसी का समर्थन मनुस्मृति के टीकाकार नन्दन ने भी किया है।[5]

वर्तमान समय में नौकरी पेशा स्त्रियों के लिए यही है कि यदि वह

---

1. मनुस्मृति 9/200
2. मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य स्मृति 2/143 पर टीका)
   "इति स्त्रीधनस्य षड्विधत्वं तत्रन्यूनसंख्या व्यवच्छेदार्थंनाधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदाय।।"
3. दायभाग पृ0 73 पर उद्धृत कात्यायन।
4. दायभाग पृ0 76 पर उद्धृत कात्यायन।
5. नन्दन (मनुस्मृति 9/194 पर टीका)।

अपनी स्वतन्त्र इच्छा से कुछ खर्च करती है तो ये समस्त क्रियाएं पति को अपने स्वाभिमान के विरुद्ध लगती है एवं सम्बन्ध विच्छेद तक की स्थिति आ जाती है। एक पति अपनी पत्नी से यही अपेक्षा करता है कि वह समस्त कार्यों में पति की अनुमति लें। स्मृति के ये वचन आज भी उपादेय एवं प्रासङ्गिक है।

स्मृतिकारों ने स्वत्व की दृष्टि से स्त्रीधन दो प्रकार का माना है— (1) सौदायिक (वह सम्पत्ति जिस पर स्त्री का पूर्ण प्रभुत्त्व होता है अर्थात् स्त्री धन) (2) असौदायिक (वह सम्पत्ति जिसका उपभोग तो नारी कर सकती है किन्तु उस पर नियन्त्रण उसके पति का होता है। स्मृतिकार कात्यायन[1] ने तो सौदायिक धन पर स्त्री के एकाधिकार की बात की है लेकिन नारद[2] ने विनियोग से वञ्चित रखकर केवल उपभोग तक सीमित रखा।

*नाधिकारो भवेत्स्त्रीणां दान विक्रयकर्मसु*
*यावत्संजीवमाना स्यात्तवाद् भोगस्य सा प्रभु।।*

(नारद स्मृति 4/26)

याज्ञवल्क्य[3] ने तो कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में सौदायिक स्त्रीधन पर पति का अधिकार प्रदान किया है। कात्यायन[4] ने भी इसी का समर्थन किया।

---

1. कात्यायन 905-7, 911
2. नारदस्मृति 4/26
3. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/147
   दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके।
   गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति।।
4. कात्यायन स्मृति 9/4

मनु[1] के अनुसार 'यदि कोई बलात् स्त्रीधन का उपभोग करता है तो चोर के समान दण्ड का भागी है।[1] स्मृतिकारों ने बड़ी चतुराई से सौदायिक स्त्रीधन पर पति का यथेष्ट अधिकार प्रदान कर दिया। सूक्ष्मावलोकन किया जाय तो स्त्री भोजन एवं वस्त्र के सिवाय स्त्रीधन को भी स्वतन्त्रता पूर्वक खर्च नहीं कर सकती थी। समस्त दण्ड विधान केवल सैद्धान्तिक रूप में ही थे व्यवहार या आचरण में नहीं देखा जाता था। असौदायिक धन को खर्च करने की स्वतन्त्रता स्त्री को नहीं थी। वर्तमान समय में शिक्षित नारियों के लिए जो आत्मनिर्भर हैं परिस्थितियाँ कुछ भिन्न हैं असौदायिक धन को वे पति की मृत्यु के बाद स्वतन्त्र रूप से विनियोग कर रही हैं। विनियोग पर प्रतिबन्ध स्मृतिकारों ने सम्भवतः इसलिए लगाया होगा कि अशिक्षित होने के कारण स्त्रियाँ लाभ-हानि पर विचार नहीं कर सकेंगी। मनु[2] एवं याज्ञवल्क्य[3] ने माता के धन को अविवाहित पुत्री को देने की बात कही है। मिताक्षराकार[4] ने पूर्व मतों का खण्डन किया और कहा कि माता को सिर्फ जीविका के साधन मात्र प्राप्त हो।

मिताक्षरा के मत से तो माता को जब भरणपोषण ही प्राप्त था तो किस प्रकार का स्त्रीधन अविवाहित कन्याओं को देने की बात मनुस्मृतिकार

1. मनुस्मृति 8/29, 9/200
2. मनुस्मृति 9/131 (मातस्तु यौतकं यत् स्यात् कुमारी भाग एव सः)
3. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/117 (मातु दुहितरः शेषमृणात् साम्य ऋतेऽन्वयः)
4. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/135 पर मिताक्षरा

एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में कही गयी है। वर्तमान समय में माता का धन अब पुत्रों को ही प्राप्त होता है, विवाहित पुत्रियों को नहीं दिया जाता एवं अविवाहित पुत्रियाँ भी किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं करती।

मनु[1] ने दायादों की लम्बी सूची में पत्नी का कही उल्लेख नहीं किया है। सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य[2] ने ही पुत्रहीन विधवा को मृत पति की सम्पत्ति का अधिकारिणी घोषित किया। इसी का समर्थन बृहस्पति[3] एवं कात्यायन[4] में भी किया। नारद[5] ने विधवा को दायाद नहीं माना मात्र भरणपोषण का ही अधिकार दिया। पुत्र के अभाव में तो कन्या के अधिकार का बलपूर्वक समर्थन किया।

*पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानदर्शनात्।*

*पुत्रश्च दुहिता चोभौ पितुः सन्तानकारकौ।।*[5] (नारदस्मृति 14/17)

---

1. प्रो0 हरिदत्त वेदालङ्कार हिन्दू परिवार मीमांसा पृ0 476 संकेत पं0 9
2. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/135-136

   पत्नी दुहितरश्चैव पितरो भ्रातरस्तथा।

   तत्सुता गोत्रजा बन्धुशिष्यस ब्रह्मचारिणः।।

   एषामभावे पूर्वस्य धनाभागुत्तरोत्तरः।

   स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः।।
3. बृहस्पति, अपरार्क पृ0 740-741 दायभाग 11/1/2 पृ0 149-150 कुल्लूक मनु 9/187 पर स्मृतिचन्द्रिका भाग-2 पृ0 290 पर उद्धृत।
4. कात्यायन याज्ञवल्क्य स्मृति 2/126 मिताक्षरा द्वारा उद्धृत

   "पत्नी भर्तुधनहरी या स्याद व्यभिचारिणी।

   तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा।।
5. नारदस्मृति 14/17

वर्तमान समय स्मृतिकारों द्वारा पति की विधवा को दायाद न देना अब अप्रासङ्गिक हो चुका है। वेदों, स्मृतियों तथा लोकाचारों द्वारा यदि पत्नी पति की अर्द्धाङ्गिनी मानी गयी है तो जिस पति की पत्नी जीवित है उसकी देह का आधा भाग जीवित रहता। उसके (विधवा के) जीवित रहते कोई अन्य पुरुष उसके पति के धन का अधिकारी कैसे हो सकता है ? कात्यायन ने भी इसका प्रबल समर्थन (विधवा दायाद) किया।

वर्तमान समय में पति की मृत्यु के बाद पति की समस्त चल एवं अचल सम्पत्ति पर पत्नी (निःसन्तान विधवा) का अधिकार रहता है। स्मृतिकाल में नियोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति की जाती थी। पुत्र ही पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होता था। वर्तमान समय नियोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति की धारणा अप्रासङ्गिक हो चुकी है और पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति पर पत्नी का ही अधिकार होता है।

<u>प्रायश्चित्त</u> : मानवीय दुर्बलताओं एवं अज्ञानता के कारण मानव ऐसा कृत्य कर जाता है, जिन्हें न तो समाज स्वीकार करता न ही व्यक्ति की अन्तर्रात्मा ही स्वीकार करती है। स्मृतिकारों[1] ने व्यक्ति की आत्मिक शुद्धि एवं मनःशान्ति हेतु ही प्रायश्चित्त का विधान किया है। अब देखना यह है कि स्मृतिकारों द्वारा दी गई प्रायश्चित्त सम्बन्धी व्यवस्था वर्तमान समय में कितनी प्रासङ्गिक है।

स्मृतियों में दो प्रकार के पाप कृत्य बताये गये हैं (1) कामतः (ज्ञातवश

किया गया कृत्य) और अकामतः (अज्ञातवश किया गया कृत्य) (कामाकामकृतं त्वेव, पातकं द्विविधं स्मृतम्) ज्ञातवश अर्थात् ज्ञानपूर्वक किए गये पापों के लिए जो प्रायश्चित्त किया जाता है तो किए गये पापों के फलों से मुक्ति नहीं मिलती, लेकिन अज्ञातवश अर्थात् अज्ञानता में किए गये पापों के फलों की मुक्ति प्रायश्चित्त द्वारा मिल जाती है। मनुस्मृति[2] में तो यहाँ तक कहा गया है कि प्रायश्चित्त न करने वाले से सामाजिक सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। वर्तमान समय में समस्त आपराधिक कृत्त्यों के लिए संवैधानिक कानून बन गये हैं। दण्ड भी न्यायालयों द्वारा दिया जाता है। स्मृतियों[3] में कही गयी बात अब गौण हो चुकी है कि प्रायश्चित्त न करने वाले से सामाजिक सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए और प्रायश्चित्त कर लेने से व्यक्ति अन्य लोगों के संसर्ग में आने के योग्य हो जाता है। कामतः किए गये कृत्यों में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर ही प्रायश्चित्त का विधान था। वर्तमान समय में ऐसा नहीं यदि कोई भी सम्बन्ध स्त्री की स्वेच्छा से बन रहे हैं उसमें पुरुष की सहमति है तो उसके लिए भारतीय संविधान में किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था नहीं। स्त्री की इच्छा के विरुद्ध

---

1. मनुस्मृति 11/47 याज्ञवल्क्य स्मृति 3/220

   प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।

   तपोनिश्चय संयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।।मनुस्मृति।।

2. मनुस्मृति 11/189

3. मनुस्मृति 11/189 एवं याज्ञवल्क्य 3/226

कोई भी सम्बन्ध यदि पुरुष बनाता है तो वह उसके लिए दण्डनीय है। स्मृतियों में तो अकामतः किए गये कृत्य के लिए स्त्रियों को प्रायश्चित्त आधा ही करना पड़ता था। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि बच्चों की हत्या करने वाला कृतघ्न है, शरणागत तथा स्त्री की हत्या करने वाला व्यक्ति प्रायश्चित्त करने पर भी संसर्ग के योग्य नहीं होता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में कही गयी बातें अब पूर्णतया अप्रासङ्गिक हो चुकी हैं अब आये दिन स्त्रियों की हत्या (फाँसी द्वारा या अग्नि में जलाकर (दहेज रूपी हत्या) हो रही है यह अब सामान्य सा लगता है, क्योंकि भारतीय न्याय व्यवस्था इतनी लचीली है कि दण्ड सिद्ध होने में इतना समय अन्तराल हो जाता है कि युवावस्था में किया गया अपराध या तो वृद्धावस्था में या मृत्यु के बाद सिद्ध होता है। कामतः कृत्य (जानबूझ कर किए गए कृत्य) का प्रतिशत् अब समाज में बढ़ गया है। अपराधी भी समाज में स्वच्छन्द रूप से विचरण करता है। यदि व्यक्ति में थोड़ी भी संवेदना या क्या करणीय और क्या अकरणीय है ? इनका ज्ञान होता और इस पर विचार करता तो प्रतिदिन जो समाचारपत्रों में नारियों की हत्या विषयक सूचना मिलती है, वह नहीं होती। संवेदना शून्य होकर व्यक्ति हत्या जैसे कृत्य को अन्जाम दे रहा है, उसके लिए स्मृतियों द्वारा दिए प्रायश्चित्त विधान एवं अन्तःकरण की शुद्धि निरर्थक है।

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति 3/298

मिताक्षरा के अनुसार बारह वर्ष से कम और 80 वर्ष के ऊपर के लोगों को आधा प्रायश्चित्त करना पड़ता था। इस अवस्था में नारियों के लिए चौथाई प्रायश्चित्त का विधान था। यदि देखा जाय तो स्मृतिकाल एवं वर्तमान समय में भी दाम्पत्य जीवन की सुख शान्ति नष्ट करने वाला व्यभिचार ही एक ऐसा अपराध था जो कि नारियों पर ही केन्द्रित था। व्यभिचार की प्रवृत्ति की सम्भावना अविवाहित रहने वाली कन्याओं, विवाहित होने पर सहवास सुख से वंचित प्रोषितपतिका, परित्यक्ता स्त्री, पति से विरक्त या असन्तुष्ट होने के कारण पर पुरुष में आसक्त स्त्री, युवती विधवा या युवती भिक्षुणी में होती थी।

आज भी इस तरह के व्यभिचार समाज में निन्दनीय हैं और लोगों द्वारा हेय दृष्टि से देखा जाता है। स्मृतिकाल में बहुत विषम परिस्थितियों में स्त्री विवाह विच्छेद कर सकती थी। विवाह विच्छेद सम्बन्धी समस्त अधिकार ज्यादातर पुरुषों को प्राप्त थे। बहुपत्नी प्रथा के कारण विवाह विच्छेद की सम्भावना भी क्षीण थी। स्मृतियों में बहुपतिप्रथा का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। मनुस्मृति[1] में तीन प्रकार के व्यभिचार की चर्चा की गयी है—मानस, वाचिक एवं कायिक। मानसिक एवं वाचिक व्यभिचार की प्रासङ्गिकता वर्तमान समय में समाप्त हो गयी। कायिक व्यभिचार को ही व्यभिचार की श्रेष्ठी में रखा जाता है। यदि मानसिक एवं वाचिक व्यभिचार के विषय में विचार किया जाय तो स्मृतियों की अपेक्षा अब

---

1. मनुस्मृति 5/108

समाज में ज्यादा दिख रहे हैं लेकिन इसको व्यभिचार नहीं माना जा रहा है न किसी प्रकार के प्रायश्चित्त एवं दण्ड का विधान है। यदि नारी के इच्छा के विरुद्ध कोई व्यक्ति कायिक व्यभिचार करता है तो स्त्री का I.P.C. की धारा 376 के तहत् यह कह देना कि अमुख व्यक्ति मेरे साथ व्यभिचार किया तब उस व्यक्ति को दण्डित किया जायेगा। अब पहले जैसी बलात्कारी को डाक्टरी चिकित्सा से नहीं गुजरना पड़ता न तो न्यायालय में नाना प्रकार के कुतर्कों से गुजरना पड़ता है।

लेकिन अभी भी भारतीय समाज के ग्रामीण परिवेश में कायिक व्यभिचार होने पर भी समाज में लोक निन्दा के भय से इस प्रकार के अपराध के उजागर करने के बजाय इसको दबा दिया जाता है। कन्या के पारिवारिक जन इस भय से ग्रसित रहते हैं कि भविष्य में लड़की की शादी की समस्या होगी, इसलिए इस प्रकार के अपराध या सामाजिक बुराई को दबाकर कन्या की शादी करना ही श्रेयस्कर समझा जाता है। भारतीय दण्ड संहिता में कायिक व्यभिचार के दण्ड का तो विधान है लेकिन वाचिक एवं मानसिक व्यभिचार को महिला शोषण अधिनियम के तहत दण्ड मिल सकता है।

स्मृतियों में सवर्ण पुरुष द्वारा दूषित नारी को घर में मलिनाङ्गी रखकर कृच्छ्र व पराक द्वारा प्रायश्चित्त कराने का विधान था, यदि स्त्री सवर्ण पुरुष द्वारा गर्भवती हो जाय, तो उसे प्रसव के पश्चात् अपनी शुद्धि के लिए यावक भोजन पर रहने का विधान है। स्मृतियों में सवर्ण की अपेक्षा

असवर्ण पुरुषों के अपराध पर कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। सजातीय पुरुषों को समान ही अपराध पर कम दण्ड दिया जाता था। वर्तमान समय में कोई भी अपराध करें चाहे वह सवर्ण हो असवर्ण सबको समान एवं कठोर दण्ड का विधान है। दण्ड में कोई भेद भाव नहीं किया जाता। कृच्छ एवं चान्द्रायण आदि व्रतों के विधान की प्रासङ्गिकता अब समाप्त हो गयी है।

देवलस्मृति[1] में तो कामतः व्यभिचारिणी स्त्री से उत्पन्न सन्तान को किसी अन्य को देने का विधान किया गया है जिससे वर्णसंकरता न हो। वर्तमान समय में ऐसा नहीं है, अब सन्तान माँ के नाम से भी जानी जाती है। संभव है देवल स्मृति में चारित्रिक पतन से बचाने के लिए अपनी सन्तान को दूसरे को देने का विधान किया गया हो, शायद इसी भय (सन्तान दूसरे को प्रदान करने) से स्त्रियों का चारित्रिक पतन न हो। देवलस्मृति में विधान था कि यवनों द्वारा बलात् दूषित स्त्री यदि गर्भवती हो जाती है तो वह कभी शुद्ध नहीं होती, लेकिन गर्भ न धारण करने पर वह त्रिरातव्रत से शुद्ध हो जाती है।

गृहीता स्त्री बलादेव म्लेच्छैगुर्वीकृता यदि
गुर्वी न शुद्धिमाप्नोति त्रिरात्रेणेतरा शुचिः।

(देवलस्मृति श्लोक सं० 47)

---

1. स गर्भो दीयतेऽन्यस्मै स्वयं ग्राह्यो न कर्हिचित्।
स्वजातौ वर्जयेद् यस्मात् सङ्करं स्यादतोऽन्यथा।। (देवलस्मृति श्लोक 52)

यदि कोई स्त्री किसी यवन या म्लेच्छ द्वारा अपहरण करके बलात्कार के द्वारा दूषित हो जाती थी उसमें स्त्री का क्या दोष था जो गर्भवती होने पर अशुद्ध एवं गर्भवती न होने पर शुद्ध मानी जाती थी ये स्मृतिकालीन समाज की कैसी विडम्बना थी ?

देवल के अनुसार म्लेच्छ के बलात्कार के फलस्वरूप गर्भधारण करने वाली की शुद्धि के विषय में प्रश्न उठाने के पश्चात् उन्होंने उसकी शुद्धि कृच्छसान्तपन तथा योनि के (ईषदुष्ण) घृत के पाचन अर्थात् लेप से विहित की है। इस शुद्धि का प्रायश्चित्त स्त्री के गर्भ के त्याग या प्रसव के पश्चात् ही करने का विधान था।

देवलस्मृति[1] की श्लोक संख्या 47 और 48-49 में विरोधाभास दिखता है। एक बार तो कहा गया कि यवनों/म्लेच्छों द्वारा बलात् गर्भवती स्त्री कभी शुद्ध नहीं हो सकती, वहीं श्लोक संख्या 48 और 49 में गर्भत्याग या प्रसव पश्चात् प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि स्मृतिकाल में स्त्रियों को नाना प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान संभवतः स्त्री त्याग के भय से किया गया हो। स्त्रियों के त्याग देने पर उनके शिशुओं के देखभाल की समस्या उत्पन्न हो जाती। प्रायः स्त्री दूषण सम्बन्धी कृत्य यदा-कदा ही होते रहे होगें, जिन्हें प्रायश्चित्त करवाकर ही अपना लिया जाता था। स्मृतिकाल में शूद्र

---

1. देवलस्मृति श्लोक संख्या 48-49 (स्मृति सन्दर्भ भाग 3 पृ0 1659-1660

और अन्त्यज के साथ किसी स्त्री का शारीरिक सम्बन्ध होने के फलस्वरूप गर्भिणी होने पर त्रैवर्णिक नारी (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की स्त्री) को त्यागने का विधान था। अन्यथा प्रायश्चित्त से शुद्ध हो सकती थी। जबकि वर्तमान समय में नारियाँ आत्मनिर्भर होने के कारण सम्बन्ध बनाने के लिए स्वतन्त्र हैं। वह चतुवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों (ईसाई, मुस्लिम, सिक्ख, बौद्ध, जैन) के पुरुषों के साथ शारीरिक सम्बन्ध बना सकती हैं। वयस्क लड़का एवं लड़की अर्थात् 18 वर्ष से ऊपर के बिना वैवाहिक सम्बन्ध के भी एक साथ रह सकते हैं यह निर्णय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दे दिया गया। स्मृतियों में वर्णित प्रायश्चित्त सम्बन्धी विधान अब अप्रासङ्गिक हो चुके हैं। किसी भी अनैतिक कार्य के लिए सभी जातियों एवं सम्प्रदाय के पुरुषों को समान दण्ड दिया जाता है।

<u>नियोग</u> : स्मृतियों में वर्णित नियोग विधवा द्वारा मात्र सन्तान प्राप्ति के लिए था, कामभाव की तृप्ति या धन ग्रहण के लोभ से नहीं। नियोगपूर्ण होने पर विधवा स्त्री और नियुक्त पुरुष के बीच गुरूपत्नी या पुत्रवधू जैसा सम्बन्ध रखना चाहिए। यदि वे दोनों (विधवा एवं नियुक्त पुरुष) कामपथ पर पुनः प्रवृत्त होते हैं तो उनको व्यभिचार के प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता था। पुत्र प्राप्ति की इच्छा के लिए नियोग किया जाता था। स्मृतिकाल में यह धारणा बन गयी थी कि पुत्र की प्राप्ति के द्वारा ही पितृऋण से मुक्ति मिल सकती थी। मनु ने तो नियोग को पशुधर्म सदृश कहते हुए नियोग का विरोध किया लेकिन धर्मिक कृत्य में बाधा न हो उसके लिए

उन्होंने नियोग का विधान पुत्र प्राप्ति के लिए किया।

वर्तमान समय में विधवा पुनर्विवाह प्रचलित है जिससे नियोग प्रथा की प्रासङ्गिकता पूर्णतया समाप्त हो गयी। यदि नियोग प्रथा वर्तमान समय में प्रचलित रहती तो निःसंदेह समाज को अनेक बुराइयों का सामना करना पड़ता। स्मृतियों में भी यदि देखा जाय तो नियोग कामभाव की तृप्ति की पूर्ति के लिए था क्योंकि वाग्दत्ता विधवा नियोग द्वारा सन्तोनात्पत्ति का विधान था यह प्रतिबन्ध भी था कि नियोग की आयु 16 वर्ष से ऊपर न हो और विधवा वृद्ध एवं रोगिणी न हो।

सती प्रथा : समाज में प्रचलित रूढियों का शिकार सदियों से नारियाँ ही होती आयी है। चाहे वर्तमान समय की दहेज प्रथा हो या स्मृतियों में वर्णित सती प्रथा अग्नि-समाधि तो नारी को ही लेनी पड़ती है। इतिहास साक्षी है कि ऐसा कभी नहीं हुआ कि जन्म लेते ही यदि पुरुष शिशु हुआ हो तो उसका गला घोंट दिया जाय, पर ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं कि कन्या शिशु का जन्म होते ही यह सुनिश्चित कर दिया जाता है कि वह सांसे न लेने पाये। वर्तमान समय में तो गर्भस्थ शिशु की केवल इस आशय से जाँच की जाती है कि वह कहीं कन्या तो नहीं है ? इसका निश्चय होने पर, यदि उसे संसार में जन्म लेने भी दिया जाय, तो उसे वह स्नेह नहीं मिलता, जो पुत्र को सुलभ है। पत्नी की मृत्यु होने पर कितने पुरुष ऐसे हैं जो दूसरा विवाह करने पर सङ्कोच करते हैं पर स्मृतिकाल में विधवा के लिए यह द्वार लगभग बन्द ही था।

पुनर्विवाह की मान्यता लगभग डेढ सौ वर्ष पूर्व (1856 ई0 में) कानून रूप में बन गया था। पर तथाकथित उच्च वर्गीय समाज (ब्राह्मण क्षत्रिय आदि) से आज भी पुनर्विवाह की मान्यता नहीं मिल पा रही है। ऐसी कितनी विधवाएं हैं जो सार्थक जीवन व्यतीत कर रही है ? इतिहास साक्षी है कि विधवा विवाह का संसार के किसी देश में विशेष आदर नहीं हुआ और आज भी इसे लोग अश्रद्धा की दृष्टि से ही देखते हैं।

ऐसी स्थिति में जिस देश में यह प्रथा (विधवा विवाह) निषिद्ध सी है, यदि वहाँ नारी को जलाकर मार डालना ही विशेष हितकर अनुष्ठान माना जाता रहा हो तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं? किसी प्रथा को धर्म सम्मत बताने के लिए यह कह दिया जाता है कि इसका वेदों एवं धर्मशास्त्रों में उल्लेख है। वेदों में तो विधवा स्त्री को पुनर्भू की संज्ञा दी गयी। पति की मृत्यु के बाद स्त्री को यह स्वतन्त्रता थी कि चाहे वह विधवा के रूप में जीवन यापन करें या पुनर्विवाह कर लें। अथर्ववेद में पुनर्विवाह की स्वतन्त्रता के उद्धरण निम्नवत् है—

*या पूर्व पतिं वित्वा थान्यं विन्दते परम्।*
*पंचोदनं च तावजंद दातोन वियोषतः।।*
*समान लोको भवति पुनर्भुवा परः पतिः।*
*योऽजं पंचोदनं दक्षिषा ज्योतिषे ददाति।।*

वेदों के समय नारियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था एवं

सहधर्मिणी (सभी धार्मिक कृत्यों में भागीदार) ही माना जाता था। जब नारी परिवार की निधि मानी जाती थी तो पति की मृत्यु के पश्चात् उसे जीवित जला देने वाली अमानुषिक प्रथा को कैसे सही कहा जा सकता है ?

धर्मसूत्रों का समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी या तीसरी शताब्दी ई० पूर्व तक माना जाता है। इस काल में नारियों के सम्मान में पूर्व की अपेक्षा ह्रास ही हुआ। इनमें भी गौतम, बौधायन, वसिष्ठ, आपस्तम्ब धर्मसूत्रों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि पुरुष ही महत्त्वपूर्ण है व नारियों को स्वतन्त्रता देना आवश्यक नहीं है।

विधवा पुनर्विवाह ई० पू० 300 से 200 ई० तक अलोकप्रिय होने लगे, यद्यपि बाल विधवाओं के लिए उदारता दिखायी गयी। मनु एवं याज्ञवल्क्य ने विधवाओं के कठोर नियम तो बनाये लेकिन यह सङ्केत नही दिया कि विधवा को पति के शव के साथ देह-दहन (सती होना) भी कोई विकल्प हो सकता था। इससे स्पष्ट है कि विधवाओं को इस अवधि तक शेष जीवन जीने की छूट थी चाहे वह जीवन कठोर ही क्यों न हो?

सती प्रथा चौथी शताब्दी के बाद हिन्दू समाज में जड़ पकड़ने लगी। वात्स्यायन, कालिदास, भास एवं शूद्रक आदि की रचनाओं में सती होने का आभास है। कुमारसंभवम्[1] में यह प्रसङ्ग आता है कि कामदेव जब

भगवान शिव के कोप के कारण भस्म हो गया तो उसकी पत्नी रति उसी स्थान पर चिता बनाकर भस्म होने जा रही थी। शूद्रक कृत मृच्छकतिक द्वारा में भी चारुदत्त की पत्नी धूता अपने पति को फाँसी की सजा होने पर चितारूढ होने जा रही थी।[2] भट्टनारायण कृत वेणीसंहार के 6वें अङ्क में भी सती होने का उल्लेख मिलता है।[3]

सम्राट हर्षवर्धन के पिता प्रभाकर वर्धन की मृत्यु का समय जानकर उसकी माँ यशोमती ने अपने देह को अग्नि में समर्पित किया। इसी का समर्थन कल्हण की राजतरङ्गिणी[4] भी करती है। वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो ये घटनाएं उच्च क्षत्रिय कुल या राजपरिवारों तक सीमित थी। निम्न कुल स्त्रियाँ पतियों के साथ काम करने से आत्मनिर्भर रही होगी। अपनी आजीविका के साधन को जानकर पति के शव के साथ सती न होती थी। स्मृतियों में सतीप्रथा को धर्मसम्मत मानते हुए विधवाओं को वैधव्य जीवन व्यतीत करने के बजाय उसे अमर करने हेतु अग्नि में प्रवेश कराया गया।

---

1. कालिदासकृत कुमारसंभवम् 4/10, 21, 28, 33, 34, 35, 36
2. मृच्छकटिकम् अङ्क 10
3. भट्ट नारायण कृत वेणी संहार अङ्क 6, पृ0 283, 287
   "नाथ भीमसेन त्वया किल में केशाः संयितत्याः न युक्तं अयिरगतमार्य पुत्रमनुगमिष्यामि। महाराज अदीपय चितां त्वमपि।।"
4. राजतरङ्गिणी 5/226

विष्णुस्मृति[1], पराशर स्मृति, वसिष्ठ स्मृति, व्यास स्मृति, शङ्खागिरस स्मृति, वृद्धहारीत स्मृति, यम स्मृति, दक्ष स्मृति एवं लक्ष्मीधर कृत अङ्गिरा स्मृति[2] में कहा कि पति के मृत हो जाने पर जो स्त्री हुताशन पर आरोहण करती है वह अरुन्धती (वसिष्ठ की पत्नी) के सदृश आचरण करने वाली स्वर्गलोक में स्थान प्राप्त करती है और तीनों कुलों की (माता-पिता-भर्ता) को पवित्र करती है। कल्पद्रुम[3] में भी पति की मृत्यु के बाद साध्वी स्त्रियों का अग्नि प्रवेश के अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म नहीं है।

इसके विपरीत कुछ स्मृतिकारों एवं टीकाकारों ने इसका विरोध किया। मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि ने सतीप्रथा को आत्महत्या कहा। देवणभट्ट[3] ने स्मृतिचन्द्रिका में सती प्रथा की कटु आलोचना करते हुए विचार व्यक्त किया कि सती होना अति जघन्य कार्य है, और मोह के वशीभूत होकर चितारोहण करने वाली नारी नरकगामिनी होती है।

---

1. विष्णुस्मृति 25/14, पराशर स्मृति 4/33, वशिष्ठ स्मृति 5/66-73, व्यास स्मृति 2/53-54 शङ्खागिरसस्मृति (याज्ञ0 1/86) की टीका से उद्धृत, यमस्मृति 2/53, दक्षस्मृति (जीवानन्द भाग-2) पृं0 संख्या 391 पर उद्धृत।
2. अङ्गिरास्मृति—
   सर्वासामेव नारीणामग्निप्रपत नादृते।
   नान्यो धरमओ हि विज्ञेयों मृते भर्तरि कार्हिंचित्।।
2. देवण्ण/भट्ट कृत स्मृतिचन्द्रिका व्यवहार काण्ड पृ0 598 पर उद्धृत।
4. देवण्णभट्ट कृत स्मृतिचन्द्रिका व्यवहार काण्ड पृ0 598 पर उद्धृत।

स्मृतिकारों ने स्त्री योनि को ही पाप कर्मों का परिणाम माना है।[1] निर्णयसिन्धु एवं धर्मसिन्धु, जो सत्रहवीं शताब्दी का लिखा गया है, उसमें सती प्रथा एक संस्कार रूप में वर्णित है।

स्वाधीनता के पश्चात् भी भारतीय जनमानस अशिक्षा के अन्धकार में डूबा रहा और भारतीय पुरुष प्रधान सोच में विशेष बदलाव नहीं आ पाया। आज भी देश के विभिन्न अञ्चलों में विधवाओं को जबरन या स्वेच्छा से जलने की घटनाएं स्मृतिकाल की प्रासङ्गिकता को बनाये रखी हैं। इन घटनाओं की भर्त्सना के बजाय इस (सती) प्रथा को आज का समाज महिमामण्डित करता चला आ रहा है।

सतीप्रथा के विरुद्ध कानून तो एक सौ अठहत्तर वर्ष पूर्व (1829 में) लार्ड विलियम वैंटिक के समय बन चुका था और सती प्रथा के विरुद्ध सख्त कानून बन जाने के बाद भी स्वतन्त्र भारत में नारियों को उनको पति की चिता पर जला देने की घटनाएं सर्वथा बंद नही हो पायी है। अग्रलिखित चंद घटनाएं इस कुप्रथा की साक्षी हैं—

1. 16 अगस्त, 1955 को चूरू जिले के भीमसर थाने के गाँव बामणिया में टोडाराम नामक ब्राह्मण की लम्बी बीमारी के बाद मृत्यु हो गयी। घर वालों ने उसकी पत्नी सरस्वती को सती होने के लिये मजबूर किया। पुलिस वहां पर पहुँची थी, परंतु उपस्थित भारी भीड़ के दबाव के सामने उसकी एक न चली व सरस्वती पति के शव के साथ

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/86 पर शङ्खगिरस द्वारा टीका।

ही जल कर राख का ढेर बन गयी।

2. सात दिसम्बर 1957 को ब्रिगेडियर जबरसिंह की मृत्यु हुई। मृत्यु के समय वे जयपुर में कंट्रोलर, हाउस होल्ड, पद पर कार्य कर रहे थे। वे अत्यन्त प्रतिष्ठित व मिलनसार व्यक्ति थे। उनकी मृत्यु पर उनके परिवारवालों के अतिरिक्त विभिन्न वर्गों के लोगों ने दाह संस्कार में भाग लिया जिनमें शिक्षित, प्रतिष्ठित व कई भूतपूर्व सैनिक अधिकारी भी थे। उनके सामने ही उनकी विधवा पत्नी चिता पर चढ़ गयी व देह दहन कर लिया।

3. वर्ष 1958 में उत्तर प्रदेश में बुंदेलखंड क्षेत्र में जिला महोबा के गांव कुलपहाड़ में श्री चक्कीलाल की मृत्यु होने पर उसकी विधवा श्रीमती शान्तीबाई ने उसकी चिता पर चढ़कर देह दहन कर लिया।

4. वर्ष 1968 में उत्तर प्रदेश में थाना ढाढवारा जिला महोबा में श्री परशुराम की मृत्यु हो गयी। उस पर उसकी पत्नी गोपी ने कई लोगों की भीड़ के सामने पति की चिता पर चढ़कर अग्नि समाधि ले ली।

5. 6 अप्रैल, 1973 को सीकर (राजस्थान) के पास ही एक व्यक्ति की साँप के काटने से मृत्यु हो गयी। इस पर उसकी पत्नी उसकी मृत देह को लेकर चिता पर चढ़ गयी व थोड़ी ही देर में उसकी देह जल कर भस्म हो गयी। न तो उसे वहाँ एकत्रित जनसमुदाय में से किसी ने रोका न समझाया, बल्कि उसके दहन के बाद इस घटना का व्यापक प्रचार किया व महिमा मण्डित करने के प्रयत्न

जारी रहे।

6. वर्ष 1978 में जिला सीकर (राजस्थान) में गाँव हाथीदेह के हरदास बास में महाजन जाति की एक युवती ने पति की मृत्यु होने पर देह दहन कर लिया। उस समय भी भारी संख्या में लोग एकत्रित थे। उसे किसी ने नहीं रोका बल्कि वहां पर स्मृति भवन बना दिया व पूजा अर्चना प्रारम्भ कर दी जो लम्बे समय तक चलती रही!

7. वर्ष 1979 में उत्तरप्रदेश के बांदा जिले में गाँव घाटी में श्री रमाकांत तिवारी की मृत्यु होने पर उसकी 15 वर्षीय पत्नी सावित्री ने सती होने का सङ्कल्प लिया। श्री रमाकांत तिवारी व उसके भाई शिवाकांत तिवारी को डाकुओं ने गोली मारकर हत्या कर दी थी। यद्यपि सावित्री के श्वसुर ने पुलिस को भी सूचित कर दिया था पर पुलिस भी निष्क्रिय रही। उसे देह दहन करने से कोई रोक नहीं पाया। वहाँ पर दो समाधियाँ बनाई गईं जिसका शिलान्यास 22 अक्टूबर, 1979 को हुआ था। वहाँ दो मंजिला मंदिर बना हुआ है व प्रत्येक बुधवार को जबकि सावित्री ने देह दहन किया था, काफी लोग एकत्रित होते हैं, जिसमें स्त्रियों की संख्या अधिक होती है।

8. वर्ष 1979 में ही जिला सीकर (राजस्थान) के गाँव झाड़ली में राजपूत जाति की अठारह वर्षीय युवती ओम कंवर ने पति की मृत्यु होने पर उसकी चिता पर चढ़कर अपने प्राण त्याग दिये। इस गाँव में राजपूत व महाजन जाति के लोगों का बाहुल्य है। उसके सती होने

की तैयारी पर भारी जनसमुदाय एकत्रित हुआ पर किसी ने उसे देह दहन करने से नहीं रोका, बल्कि कुछ दिनों बाद ही वहाँ पर उसकी स्मृति में एक विशाल मंदिर का निर्माण किया गया। इसके लिये मुम्बई व कलकत्ता जाकर चंदा एकत्रित किया गया व प्रबन्ध हेतु ट्रस्ट की स्थापना की गयी। यद्यपि इस घटना के बाद पुलिस ने वहाँ के सरपञ्च व कुछ अन्य लोगों को गिरफ्तार भी किया पर बाद में वे रिहा हो गये। वहाँ प्रति वर्ष मेला लगने लगा व इस घटना को महिमामण्डित किया जाने लगा।

9. 29 फरवरी, 1980 को राजस्थान के नागौर (जिले की तहसील डेगाना) के गाँव नीमड़ी कोटीहारी में एक महिला सोना कंवर जो काफी बड़ी आयु की थी, उसने पति की मृत्यु होने पर नववधू का वेष धारण कर लिया। भारी संख्या में वहाँ लोग एकत्रित हो गये। उनके सामने ही वह पति की चिता पर चढ़ गयी व देह दहन कर लिया।

10. सीकर जिले के गाँव कोटड़ी में स्वर्णकार जाति की सावित्री नाम की महिला ने अपने पति की मृत्यु होने पर उसकी चिता पर देह दहन कर लिया। उस महिला के छोटे-छोटे बच्चे थे व उनके पालन पोषण की समस्या भी थी। महिला की आयु भी अधिक नहीं थी। वहाँ पर भारी भीड़ एकत्रित हो गयी पर उसे देह दहन करने से किसी ने नहीं रोका बल्कि उसकी मृत्यु के बाद वहाँ उसकी स्मृति

में अत्यन्त ही भव्य व विशाल मंदिर का निर्माण कर लिया गया जहाँ प्रतिवर्ष मेला लगने लगा व लाखों रूपयों का चढ़ावा एकत्रित होने लगा।

11. 21 अक्टूबर, 1980 को गांव चन्ना जो बरनाला (पंजाब) से लगभग 30 किलोमीटर की दूरी पर है, गुलाब कंवर नाम की 23 वर्षीय महिला ने लोगों की भारी भीड़ के सामने ही पति की मृत देह के साथ स्वयं को भी चिता पर झोंक दिया, तो उसे किसी ने नहीं रोका न इस प्रकार आत्महत्या न करने के बारे में समझाया ही बल्कि उनके आचरण से ऐसा प्रतीत हुआ कि वह भारी भीड़ इस कृत्य की समर्थक थी।

12. वर्ष 1987 में उत्तरप्रदेश के जिला महोबा के अंतर्गत गाँव कुल पहाड़ में अपने पति की मृत्यु होने पर श्रीमती चुनिया ने चिता पर चढ़कर देह दहन कर लिया।

13. वर्ष 1983 में उत्तर प्रदेश के बांदा जिले की गायत्री देवी ने हजारों लोगों के सामने अपने पति की जलती चिता पर कूदकर प्राण त्याग दिया। हजारों लोग तमाशबीन की तरह इसे देखते रहे व रूढ़िवाद की बलिवेदी पर महिला ने प्राण विसर्जित कर दिये।

14. वर्ष 1983 में ही मध्यप्रदेश में वहाँ की राजधानी भोपाल के पास गाँव लोधा पुरा (जिला पन्ना) में पति की मृत्यु पर उसकी पत्नी मीड़ियाबाई को गाँव वालों ने विवश कर दिया कि वह भी अपने

पति के शव के साथ सती हो जाय। कहा जाता है कि उसका पति क्षय रोग से पीड़ित था व उसी के कारण उसकी मृत्यु हो गयी थी। उसका अंतिम संस्कार करने को भी उसकी पत्नी के पास आर्थिक साधन नहीं थे। उसे यह प्रलोभन दिया गया कि यदि वह सती हो जाती है तो दाह संस्कार व अन्य संस्कारों का व्यय गाँव वाले करेंगे। मीडिया बाई यह सोचकर तैयार हो गयी कि इससे कम से कम पति के शव का उचित प्रकार से दाह संस्कार हो जायगा, चाहे उसके सती होने से उसके बच्चे अनाथ हो जाय। उसके द्वारा सहमत होने पर यह खबर गाँव वालों ने चारों ओर फैला दी। इस पर हजारों व्यक्ति श्रीफल व पुष्पों के साथ वहां पहुंचे व चिता पर उसे चढ़ाने लगे। चूँकि इसकी सूचना स्थानीय प्रशासन को भी मिल गयी, अतः उन्होंने वहाँ पुलिस बल भेजकर मीडियाबाई को जलने से बचा दिया अन्यथा मजबूर महिला को गाँववालों ने जलाकर मार ही दिया होता। यद्यपि प्रशासन के इस हस्तक्षेप से मीडिया बाई के प्राण तो बच गए पर गाँव वालों ने उसका जीना दूभर कर दिया। उन्होंने उसका सामाजिक बहिष्कार कर दिया व उसे उपेक्षित जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है। सगे सम्बन्धियों की सहानुभूति भी उसे नहीं मिल पाई।

15. 12 मार्च 1983 को जयपुर जिले के गाँव देवीपुरा में श्रीमती जसवन्त कौर को उसके पति की मृत्यु होने पर देह दहन के लिये तैयार किया गया। इसकी खबर भी आस पास फैल गयी। इस पर जहां एक ओर गाँव वाले भारी संख्या में एकत्रित हो गये, वहीं दूसरी

ओर जिला प्रशासन को सूचना मिलने पर पुलिस भी पहुंच गयी। भारी भीड़ को देखते हुए पुलिस को सशस्त्र बल भी बुलाना पड़ा। स्थिति इतनी तनावपूर्ण हो गयी कि दंगा फसाद की नौबत आ गयी। जब पुलिस ने फायरिंग की धमकी दी तभी भीड़ वहाँ से छटने लगी, अन्यथा उस महिला को चिता पर जलाने के लिये वह भीड़ आमादा थी। पुलिस के हस्तक्षेप से ही उसके प्राणों की रक्षा हो पाई।

16. वर्ष 1983 में मध्यप्रदेश के विलासपुर क्षेत्र के गाँव अकलतरा में पति की मृत्यु होने पर उसकी विधवा को देह दहन के लिए प्रेरित किया गया। इस हेतु उसके सगे सम्बन्धी व गाँव वालों का भारी दबाव था व उसके चलते हुये उसे पति की चिता पर प्राण विसर्जित करने पड़े।

17. 27 जनवरी, 1987 को राजस्थान में जयपुर जिले के राजनोता गाँव में श्री बिहारीलाल जी की मृत्यु हो गयी। इस पर उसकी पत्नी श्रीमती गोकुलबाई को सती होने के लिये तैयार किया गया। यह खबर बिजली की तरह चारों ओर फैल गयी। जनसमुदाय उसे देखने के लिये उमड़ गया। किसी व्यक्ति ने पुलिस को भी सूचना दी। भारी पुलिस बल के वहाँ पहुंचने से ही उसके प्राणों की रक्षा हो पायी।

18. इन्हीं दिनों शेखावटी क्षेत्र के ही गाँव देपालिया, चिराना में एक युवती अपने पति के शव के साथ चिता पर चढ़ने जा रही थी, वहां काफी गाँववासी एकत्रित हो गये थे। किसी व्यक्ति ने स्थानीय प्रशासन को

इसके बारे में सूचित कर दिया जिस पर पुलिस बल वहाँ पहुंचा व उस युवती को देह दहन से रोक दिया। जब उसे पुलिस थाने में ले जाया गया तो बताते हैं कि उसने कहा "मैं राणी सती की तरह महान बनना चाहती हूं।" राणीसती का भव्य विशाल मंदिर शेखावाटी क्षेत्र में ही प्रमुख शहर झुंझनू में स्थित है।

ये चंद घटनाएं जिनकी सूचना समाचारपत्रों के माध्यम से प्राप्त हो सकी। क्या कारण है कि मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, हरियाणा कुछ ऐसे राज्य है जहाँ ये घटनाएं व्यापक रूप से घटित हुई। कुसंस्कारों एवं रूढ़ियों से ग्रस्त सती प्रथा के मामले में कुछ इतने सिद्धहस्त होते हैं कि इसकी जानकारी बाहर तक नहीं जाने देते। राजस्थान में शेखावती क्षेत्र, उत्तरप्रदेश में बुंदेलखण्ड क्षेत्र, मध्य प्रदेश में विलासपुर व उसके आस-पास के क्षेत्रों में सतियों के इतने स्मृति स्थल स्थित है कि अपने आप में ही इसकी (सती प्रथा की) व्यापकता की कहानी कह देते हैं।

सती प्रथा बाल विवाह व दहेज विरोधी कानून होते हुए आज भी इनकी अवहेलना हो रही है व शासन आँखे मूँदे हुए है। एक नारी का खुले आम चिता पर जलाना एवं महिमामण्डित करना यही दर्शाता है कि आज भी लोगों की सोच नहीं बदली है। कानून बन जाने से लोगों की सोच नहीं बदल जाती, इस अमानुषिक कृत्य को महिमामंडित न करके इस क्रूर प्रथा के विरोध के लिए साहसिक कदम उठाने होगें। 4 सितम्बर 1987 को सीकर जिले के दिवराला गाँव में रूपकुंवर नाम भी अट्ठारह

वर्षीय राजपूत युवती के देह दहन करने पर इंग्लैण्ड व अमेरिका के समाचार पत्रों ने भारत को अंधविश्वासों से ग्रस्त रूढ़िवादी देश की संज्ञा दे दी।

खेद की बात है कि आजादी के लगभग साठ वर्ष होने पर भी हम अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में विफल रहे हैं। अशिक्षा के गहरे अन्धकार में डूबी हुई जनता आज भी नारी को उसका गौरवशाली स्थान नहीं दे पायी है। पुरुष प्रधान समाज में पुत्रेषणा के पोषक हमारे विद्वज्जन या स्मृतिकार करते रहे हैं। इसी के चलते गर्भावस्था कन्या भ्रूणों की हत्या हमारे देश की बड़ी त्रासदी है।

आज भी सामाजिक दृष्टि से विशेष परिवर्तन नहीं आ पाया व सदियों से चले आ रहे कुसंस्कारों में कमी नहीं आयी। होश सम्भालने से पूर्व ही बालक बालिकाओं का विवाह कर देना ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी प्रचलित है। दहेज की विभीषिका तो ग्रामीण क्षेत्रों में ही नहीं अपितु शहरों में भी प्रतिवर्ष लाखों नारियाँ जिन्दा जला दी जाती हैं अथवा निरन्तर अपने ऊपर किए जा रहे अत्याचारों से मुक्ति पाने के लिए स्वयं मिट्टी का तेल छिड़क कर अपने को जला डालती हैं या चुपचाप गले में फंदा डालकर जीवन का अंतकर देती हैं। स्मृतिकालिक समाज एवं वर्तमान समाज में अन्तर सिर्फ इतना है कि स्मृतिकारों ने पति की मृत्यु के बाद नारी को सती होने का विधान किया। आज पति अपने करकमलों से ही पत्नी को अग्नि में समर्पित कर देता है। स्मृतिकालिक समाज की अपेक्षा नारियों के प्रति आज का समाज और संवेदना शून्य हो चुका है।
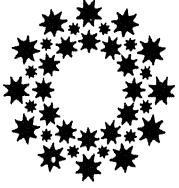
# उपसंहार
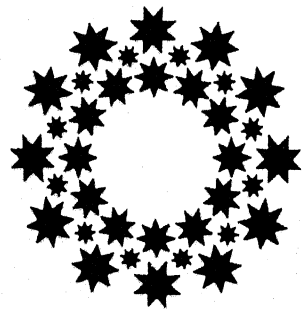
# उपसंहार

वैदिक संहिताओं से लेकर स्मृति पर्यन्त नारी विषयक अवधारणाओं के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि नारी हमारी संस्कृति की पहचान है और उसकी शुचिता को संरक्षित रखना ही हमारा प्रमुख धर्म रहा है। वस्तुतः नारी एक कोमलतम एवं पवित्रतम पुष्प के सदृश है। (कुसुमधर्माणो हि योषितः। कामसूत्र 3/2) पुष्प जिस प्रकार विकास प्राप्त कर निज सौरभ से उपवन का कोना-कोना सुवासित कर देता है। उसी प्रकार नारी जब प्रगति के शिखर पर पहुंचती है तो अपनी निस्पृह ममता से आनन्दरूप (मंगलरूप) धारण कर समाज को मनोज्ञता की भूमि पर अवस्थित कर देती है। यही अवस्थिति भारतीय जीवन या समाज की प्राणवत्ता है। इस प्राणवत्ता को पहचाना तो वेदोपनिषद्काल से ही गया परन्तु इसे सहेजने, संजोने का प्रयास न के समान रहा। इसी कारण नारी जीवन कहीं ऊषा की लालिमा का आभास रहा तो कहीं गोधूलि का प्रतिबिम्ब बनकर घोरान्धकर में खो गया और जीवन का दिशा बोध न मिल पाया। स्मृतिकारों ने युगानुरूप नारी गौरव की थाती (निधि) को संवारा एवं संजोया और जीवन के सभी पक्षों को क्रमबद्ध (सारणीबद्ध) कर आदर्श भूमि प्रदान की।

स्मृतियाँ मानव जीवन की समग्रता के लिए कर्तव्याकर्तव्यों का निर्देश देती हैं। इनका निर्धारणदेश एवं काल के अनुरूप होता है। यही कारण है कि विभिन्न स्मृतियों में एक ही समस्या के समाधान के सम्बन्ध में

भिन्न-भिन्न मत दिखायी देते हैं—वेदविभिन्ना स्मृतयोविभिन्ना नासौ मुनिर्यस्य मतंनविभिन्नम्।'' चूँकि स्मृतियाँ विभिन्न कालों में रची गयी विभिन्न दृष्टिकोणों से इसलिए उसमें कहीं-कहीं स्पष्ट अन्तर भी दिखायी पड़ता है, फिर भी उनकी निर्माण शैली एक ही होने के कारण प्रतिपादित विषय एक सा ही है। उपनयन एवं शिक्षा के सम्बन्ध में यदि सबका समन्वित रूप देखा जाय तो वृद्धहारीत एवं भृगु का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है; क्योंकि विद्या या ज्ञान पर सबका अधिकार है उस पर केवल पुरुष या स्त्री की स्वायत्तता नहीं मानी जा सकती।

*वेदाः सर्वे सदाऽध्येता बालिकभिश्च बालकैः*

*शैशवे कृतयज्ञोपवीतैस्तैः पञ्चमाब्दतः।।* भृगु 3/40।।

भृगु ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि विना अध्ययन के स्त्री और शूद्र को ज्ञान नहीं हो सकता है। ज्ञान के अभावमें मुक्ति असम्भव है, अतः स्त्री और शूद्रों को भी मुक्ति के लिए ज्ञान की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए।

*न पत्युः सेवया मुक्तिर्भवेज्ज्ञानैकहेतुका।*

*न विनाध्ययनं ज्ञानं भवेत स्त्रीशूद्रपुत्रयोः।।* (भृगुस्मृति 10/15)

मनु (2/66, 67) ने स्त्रियों के सभी संस्कार को अमन्त्रक करने की बात की। जबकि वृद्धहारीत और भृगुस्मृति में शूद्रों और स्त्रियों के उपनयन और वेदाध्ययन की व्यवस्थ दी गयी है। वृद्धहारीत क कथन है कि जो भी सदाचार, सुशीलता आदि गुणों से युक्त है। वे सभी ब्राह्मण,

वैश्य, शूद्र और स्त्रियाँ मन्त्रों के पाठ के अधिकारी हैं। यथा—

*ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रास्तथेत्तराः*

*तस्याधिकारिणः सर्वे सत्वशील गुणा यदि।* वृद्धहारीत (3/6)

याज्ञवल्क्यस्मृति (1/12, 13), विष्णुस्मृति (27, 13, 14), व्यास प्रभृति स्मृतिकार नारियों के लिए उपनयन का उल्लेख नहीं करते कर्णवेधन के बाद सीधे विवाह की बात करते हैं।

*नक्ताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जाः क्रिया स्त्रियाः।। व्यासस्मृति 1/15*

वैदिक युग में भारतीय नारी की जो उत्कृष्ट स्थिति थी आज उसकी कल्पना भी सरलतया नहीं की जा सकती। तात्कालिक समाज में नारी को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी, उसका कार्यक्षेत्र संकुचित नहीं था, विधवा की स्थिति में उसे यातनापूर्ण जीवन बिताने या सती होने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता था और शिक्षा पर पूरा अधिकार था। ऋग्वेद में (9/68/5) पुत्रों के समान पुत्रियों को शिक्षा दी जाती थी। अथर्ववेद (11/3/15/18) में **''ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम''** कहकर उनकी शिक्षा की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला गया है। ध्यातव्य है कि विवाह न करना ही ब्रह्मचर्य नहीं है अपितु दक्षस्मृति के अनुसार ब्रह्मचारी वह है जो संयमपूर्वक वेदाध्ययन में रत हो—

*स्वीकरोति यदा वेदं चरेद् वेदप्रतानिव।*

*ब्रह्मचारी भवेत्तावद् उर्ध्वं स्नातो गृही भवेत्।।*

तैत्तिरीय ब्राह्मण (2/3/10) के उपाख्यान से ज्ञात होता है कि कन्याएं धार्मिक शिक्षा में रुचि रखती थीं। बृहदारण्यकोपनिषद् (6/4/17) में विदुषी पुत्री की कामना की गई है। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की तरह घोषा, विश्ववरा, अपाल, रोमशा, लोपामुद्रा प्रभृति अनेक ऋषिकाओं का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ऋषि की पत्नी मैत्रेयी को ब्रह्मवादिनी बताया गया है--**"तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव"**। व्याकरणशास्त्र में "उपाध्याया" (3/3/27) "आचार्या" (3/2/49) प्रभृति शब्दों की सिद्धि से प्रमाणित होता है कि वेद का अध्ययन-अध्यापन भी स्त्रियों का कार्यक्षेत्र था। पाणिनि के-"पत्युर्नो यज्ञ संयोगे" सूत्र से स्पष्ट है कि पत्नी का यज्ञ में अधिकार था। यज्ञानुष्ठान में विभिन्न मन्त्रों का उच्चारण भी उसे करना पड़ता था अतएव शिक्षित होना तथा वेदाध्ययन में नारी का अधिकार स्वयं सिद्ध है।

वस्तुतः देखा जाय वैदिक समाज में नारी का वही स्थान है जो कि शरीर में नाड़ी का है। जिस प्रकार नाड़ी की गति का तीव्र या मन्द हो जाना चिकित्साशास्त्र में अस्वास्थ्य का लक्षण माना जाता है, उसका समभाव में रहना ही श्रेयस्कर होता है उसी प्रकार नारी यदि सामाजिक बन्धनों को तोड़कर चलने का प्रयास करती है अथवा अपने विचारों को कुण्ठित (अर्थात् स्व तक सीमित) करके मन्द गति का अनुसरण करती है तो यह दोनों स्थितियाँ वंश, समाज एवं राष्ट्र के पतन का कारण बन सकती हैं।

स्त्री का यही पवित्रतम स्वरूप हमारी संस्कृति धारा का संवाहक है। इसलिए धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में उसकी पावनता को निष्कलुष रखने के लिए व्यवस्थाएं प्रतिपादित की गयी। जबकि वैदिक काल में नारी स्वातन्त्र्याधिकार प्राप्ता रही (ऋग्वेद 10/168/2)। वहीं गौतम प्रभृति स्मृतिकारों ने तो अस्वतन्त्र होना ही स्त्री का धर्म उद्घोषित कर दिया--**''अस्वतन्त्रा स्त्री धर्मो''** गौतम प्रभृति (2/9/1) स्मृतिकारों ने स्त्री जीवन के एक-एक पक्ष को पृथक-पृथक नियंत्रित किया है। यह नियन्त्रण जहाँ एक ओर कतिपय आलोचकों के मत में उसकी दुरावस्था का संकेत है। वहीं यह उनकी सांस्कृतिक अस्मिता को संजोने एवं गरिमामंडित करने का भी परिचायक है। जहाँ तक हमारी धारणा है, यह नियन्त्रण सामाजिक संस्कृति को निष्कलुष (पवित्र) रखने के उद्देश्य से रहा होगा, क्योंकि नारी मर्यादा अथवा निष्कलुष चरित (दूषित) पर आघात करने वाला दण्ड भागी कहा गया है—

*संनिपाते वृत्ते शिश्नच्छेदनं सवृषणस्य।*

*संनिपातो मैथुनं तस्मिन् वृत्ते शिश्नच्छेदनं खण्डः।।*

आपस्तम्ब (2/10/26/20)

यदि देखा जाय तो नारी संरक्षण अथवा उसके प्रति उदार दृष्टिकोण मात्र भौतिक भावना से प्रेरित रहा और नरी की बाह्य (शारीरिक) रक्षा मात्र पर विशेषतः ध्यान दिया गया। ब्राह्मणों, पुराणों में उसे 'अबध्य' घोषित किया गया है—*अवध्याश्चस्त्रिय प्राहुस्त्रिर्यग्योनिशतेष्वपि।।*

(वायुपुराण 62/156, 58, 67)

परन्तु नारी की अन्तरात्मा की अवध्यता का न तो विश्लेषण प्राप्त होता है न उसकी निष्कलुषता को अक्षुण्ण रखने के प्रति किंचिदपि उत्कण्ठा के दर्शन ही होते हैं।

स्मृतियों में नारी का पवित्रतम एवं सुकृततम रूप है कन्या। वहीं से नारी समुदाय का विकास क्रम शुरू होता है। उस कन्या को 'कृपणं हि दुहिता' कहकर "ऐतरेय ब्राह्मण" ने तथा **'कन्या हि कृपणा शोच्या पितुर्दुःखविवर्द्धिनी'** कहकर पौराणिक ऋषियों ने नारी समाज की नींव को ध्वस्त करना चाहा और उसके 'स्व' को प्रतिष्ठित करने का किमपि प्रयास न किया। स्मृतिकारों ने प्रथमतः कन्या को गौरव प्रदान किया मनु ने पुत्र एवं पुत्री दोनों को समान रूप से लालन-पालन के लिए अधिकृत किया और पुत्री को वस्त्र एवं आभूषणादि से अच्छी तरह सन्तुष्ट रखने की बात कही।

*न केवलं विवाहकालेन वरेण दत्तं धनं समर्पणीयम्।*
*किन्तु तदुत्तरकालमेव पित्रादिभिः वस्त्रालङ्कारादिना भूषयित्वा।।*

(मनुस्मृति 3।55 पर कुल्लूक भट्ट की टिप्पणी)

मनु एवं याज्ञवल्क्य ने कन्या के निमित्त पैतृक सम्पत्ति में चतुर्थांश अंश का निर्धारण किया। स्त्री को गार्हस्थ्य जीवन के समस्तकार्य-कलाप (यज्ञानुष्ठान तक में) सहभागिनी स्वीकारते हुए प्रजासंवर्द्धनार्थं विवाह की अनिवार्यता को प्रतिपादित किया—

*पाणिग्रहणादिसहत्वं कर्मसु। जया पत्योर्न विभागो विद्यते।।*

*आपस्तम्ब* (2/6/13-17)

सृष्टि की कारणभूता नारी, पुरुष की पूर्णत्व की अर्द्धरूपा प्रतीक स्त्री, गार्हस्थ्य आश्रम की सहधर्मिणी पत्नी एवं यज्ञानुष्ठान आदि कार्यकलापों में सहभागिनी भार्या को स्मृतिकारों ने कभी-कभी अस्पृश्या और अदर्शना तक निरूपित किया है--**"नारीणाम् स्वभाव एष दूषणम्"** नारी का रूप (आकृति), नारी के मुख से निःसृत शब्द अर्थत् उसकी वाणी, स्त्री देह से निकलता वास, सम्बन्धी भाव भङ्गिमा और नारी का स्पर्श सब कुछ पुरुष के लिए मोहक है। विस्मय तो तब होता है जब स्मृतिकारों यज्ञस्वरूपा नारी में अवगुण के अतिरिक्त गुण का लेश नहीं मिला (नारीणाम् स्वभाव एष दूषणम्) ये दोष नारी विशेष में हो सकते हैं। नारी मात्र को इसमें समाहित कर देना नारी जाति के साथ घृणित अपराध है। अतृप्ति तो स्त्री की प्रकृति है, ये पुरुषों से केवल इतना जानकर संभोग करती है कि वह पुरुष है। इस तरह का आक्षेप पूरी नारी जाति पर कलङ्क है।

नारी का **गृहिणी** (न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते) या **पुरन्ध्री** (पुरं कुलं दधातीति पुरन्ध्रिः 'पुरन्ध्रिर्योषा' शुक्लयजुर्वेद) रूप ही समाज की उन्नति का हेतु बनता है। नारी शील, स्नेह, वात्सल्य, ममता, त्याग आदि मानवीय गुणों की साक्षात् मूर्ति है और माँ, पत्नी, पुत्री, स्वसा (सास) स्नुषा (पुत्रवधू) का केन्द्र-बिन्दु। जब तक केन्द्र सुदृढ़ समुन्नत न होगा तब तक उसके सहारे खींचा गया (जीवन) वृत्त सार्थक नहीं हो सकता। यही कारण है कि नारियों के सम्मान से देवताओं की प्रसन्नता एवं उसके अपमान से क्रियाओं की निरर्थकता का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है—

*यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।*

*यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रियाः।।*

मनु0 3/56

ज्ञान, बल और धन की अधिष्ठात्री देवी के रूप में क्रमशः सरस्वती, दुर्गा एवं लक्ष्मी की प्रतिष्ठा करके प्राच्य मनीषियों ने नारी सम्मान की भावना को मूर्तरूप प्रदान किया। भरण-पोषण की प्रतीक सर्वसहा पृथिवी ने जनक-नन्दिनी सीता, रत्नाकर ने सागरतनया-लक्ष्मी और नगाधिराज हिमालय ने हिमसुता–पार्वती को जन्म देकर मानों नारी को अपूर्व सहनशक्ति सौभाग्य तथा दृढ़ संकल्प का पर्याय बना दिया। अचेतन द्वारा नारी सम्मान की यह श्रीवृद्धि विश्व के इतिहास में अप्रतिम है। पौराणिक आख्यानों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि अबला कही जाने वाली नारी से ही आपात्काल में समाज की रक्षा हुई।

अभिमानी महिषासुर, दानव शुम्भ-निशुम्भ, रक्त बीज आदि असुरों और उसकी शक्तिशाली सेनाओं से युद्ध करके सिंहवाहिनी दुर्गा ने समाज को आसुरी अत्याचारों से बचाया तथा देवताओं को पुनः उनका अधिकार दिलाया। रावण के त्रास से छुटकारा मिल सका सीता के कारण, तो कौरवों का बढ़ता अन्याय दग्ध हुआ पाञ्चाली की प्रतिशोध ज्वाला से। यही नहीं, सागर मन्थन के समय अमृत पान के विवाद का हल निकालने के लिए स्वयं भगवान विष्णु को मोहिनी अर्थात् नारी रूप धारण करना पड़ा, त्रैलोक्य को शरण देने वाले भगवान् शङ्कर की भस्मासुर से रक्षा

के निमित्त पार्वती को सामने आना पड़ा। मनुष्य को जन्म जन्मान्तर के पापों से मुक्त करने में भगवती गङ्गा का प्रमुख स्थान है तथा विभिन्न प्रायश्चित्तों में प्रयुक्त पञ्चगव्य गाय (गो जातीयस्त्री) से प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति में नारी का जो उच्च स्थान दिखाई पड़ता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यद्यपि भारतीय नारी का अतीत अत्यन्त गौरवशाली है तथापि यह **श्लाघ्य स्थिति** आगे चलकर स्थायी न रह सकी। वैदिक काल में नारी को जिन उच्चादर्शों, पवित्र भावों से देखा जाता था, धीरे-धीरे शिथिल पड़ने लगे। आत्मसंयम और वैयक्तिक नैतिकता के अभाव में दूषित मानसिकता ने जन्म लिया और स्मृतिकाल में नारी के स्वतन्त्र विचरण पर प्रतिबन्ध प्रारम्भ हो गये। स्वतन्त्रता के प्रतिबन्ध के परिणामस्वरूप नारी का कार्यक्षेत्र सीमित हो गया। घर की चहारदीवारी में निरुद्ध हो जाने से उसके लिए शिक्षा के अवसर कम होने लगे, क्योंकि सभी अभिभावक इतने सम्पन्न नहीं होते थे कि योग्य अध्यापकों द्वारा घर पर पुत्री की शिक्षा पूरी करा सकें। मनु ने कन्या के लिए विवाह को ही उपनयन स्थानिक मान लिया। इससे आठ या नौ वर्ष की जो अवस्था उपनयन के लिए निर्धारित थी, वही विवाह के लिए उचित हो गयी अर्थात् बाल विवाह प्रचलित हो गया।

विवाह योग्य अवस्था कम हो जाने के दो दुष्परिणाम हुए प्रथमतः जो एकाध कन्याएं पितृगृह में शिक्षा प्राप्त कर लेती थी, उनकी भी शिक्षा रुक गयी, द्वितीय सुशिक्षित प्रौढ़ पति एवं अशिक्षित अल्पायु पत्नी के बीच तालमेल बिठा पाना असंभव होने लगा। सामंजस्य की दृष्टि से पति

के कठोर, दुर्गुणी एवं अत्यन्त हीन होने पर भी उसे देवतुल्य मानने एवं पूजने के लिए विवश किया गया। इस प्रकार वैदिक काल का पति जो पत्नी का मित्र और सहचर होता था स्मृतिकाल में उसका सखा न रहकर देवता बन गया तथा वही पत्नी जो कभी पति के लिए साम्राज्ञी थी अब उसकी एक साधारण सी आश्रिता दासी बनकर रह गयी। जब पत्नी पति की अवस्था से बहुत छोटी होगी तो उस अवस्था में विधवा होने की सम्भावनायें होंगी, जिससे कि उसका यौवन रूप लावण्य अक्षुण्ण रहें। इस स्थिति में भ्रष्टाचार की आशंका ने पुनः समाज को उद्वेलित किया होगा और धर्मशास्त्रकारों ने विधवा के लिए कठोर दिनचर्या निर्धारित कर दीं।

कुछ विधवाएं परहस्तगता हो जाने के भय से यदा-कदा आत्महत्या कर लिया करती थी, उनके त्याग एवं उच्च चरित्र की समाज में प्रशंसा होती थी। स्मृतिकारों ने विधवा के लिए उसके पति की सम्पत्ति में अधिकार सुरक्षित किये, जिससे वह अपना जीवन-यापन कर सके, इसका विपरीत प्रभाव पड़ा। सती नारी की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा से कुटुम्ब वालों के द्वारा भी स्त्रियों को सती होने के लिए प्रेरित किया जाने लगा। क्योंकि उन्हें एक ओर विधवा के अनैतिक आचरण से कुल को कलङ्कित होने का भय रहता था तो दूसरी ओर उसकी सम्पत्ति पाने का लोभ। इस प्रकार नारी का जीवन क्रमशः अन्धकार में डूबता गया।

यद्यपि स्मृतियों में नारी निन्दा के पर्याप्त उद्धरण संकलित किये जा

सकते हैं। तथापि स्मृतिकारों को नारी विरोधी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पुत्री एवं माता के रूप में नारी की सर्वत्र प्रशंसा की गयी है——

*सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिषी गर्भिणी स्त्रियः।*

*अतिविभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेद्विचारयन।।*

''माता पृथिव्या मूर्तिः'' 'सहस्रं तु पितुर्न गौरवाणातिरिच्यते' 'नहि मातृसमो गुरुः' प्रभृति मान्यतायें इसका प्रमाण हैं। स्मृतिकारों की दृष्टि में नारी का रमणी किंवा युवती रूप अत्यधिक विवादास्पद रहा। कभी उसे 'गृहलक्ष्मी' माना गया तो कभी वासना की साक्षात् मूर्ति। कारण स्पष्ट है शील नारी का सबसे बड़ा आभूषण है 'पुरन्ध्री' बनकर वह समाज को एक सूत्र में बाँधती है। इसलिए आदर्श समाज के निर्माण की दृष्टि से नारी के चरित्र, सम्मान एवं प्रतिष्ठा की रक्षा अपरिहार्य है। इसी अपरिहार्यता को कभी प्रशंसा के द्वारा सकारात्मक रूप से तथा कभी निन्दा के द्वारा निषेधात्मक रूप से अभिव्यक्त किया गया है।

अभिप्राय यह है कि स्मृतिकार वैदिक समाज की नारी को ही आदर्श मानते हैं। उस आदर्श को बनाये रखने के लिए कभी नारियों की प्रशंसा करके उसके सम्मान की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं, तो कभी निन्दा के द्वारा उसे निन्द्य कार्यों से बचाने के लिए प्रेरित करते हैं। यदि ऐसा न होता तो 'मातृवत् परदारेषु' की दृष्टि अपनाने का निर्देश न मिलता। भारतीय संस्कृति में स्त्री का मातृत्व प्रधान है जो हमें स्नेह एवं ममता से आप्लावित करता है।

पाश्चात्य संस्कृति की दृष्टि से रमणीरूप नहीं जो इन्द्रिय भोगों की ओर आकृष्ट करता है। नारी भोग नहीं अपितु योग का साधन है, इसलिए उसके भोग प्रधान रूप से वितृष्णा पैदा करने के लिए उसकी निन्दा है। इस प्रकार नारी निन्दा का उद्देश्य था उसके भोग प्रधान रूप से दृष्टि हटाकर उसके मातृरूप की प्रतिष्ठा करना एवं सांस्कृतिक मूल्यों को सुरक्षित रखना।

# अधीतग्रन्थ-माला

# अधीत ग्रन्थ-माला

## ( अकारादि क्रम में )


1. अष्टाध्यायी — काशिकावृत्ति सहित चौखम्भा वाराणसी, 1952।
2. अर्थशास्त्र — कौटिल्य, व्याख्याकार वाचस्पति गैरोला वाराणसी 1977
3. अभिज्ञानशाकुन्तलम् — कालिदास, संपादक वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी आगरा 1966
4. अष्टादश स्मृतयः — संपादक, हेमराज श्रीकृष्ण दास, श्री वेंकटेश्वर यंत्रणालय मुंबई।।
5. आपस्तम्ब धर्मसूत्र — उज्ज्वला वृत्ति सहित, चौखम्भा वाराणसी 1969
6. आश्वलायन गृह्यसूत्र — संपादक, एन0एन0 शर्मा दिल्ली 1976
7. ऋग्वेद — भाष्यकार श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मंडल पारडी 1985
8. ऐतरेय ब्राह्मण — पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग सं0 2006 संपादक पी0के0 एन0 पिल्ले त्रिवेन्द्रम 1985।
9. कथासरित्सागर — सोमदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना 1973

10. कल्पद्रुम कोश — केशव, वाराणसी

11. कादम्बरी (पूर्वार्ध) — बाणभट्ट संपादक, पी0 एल0 वैद्य पूना 1935

12. कामसूत्र — वात्स्यायन संपा0, वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा वाराणसी 1982

13. कुमारसंभवम् — कालिदास संपादक प्रद्युम्न पाण्डेय चौखम्भा वाराणसी 1982

14. कृत्यकल्पतरू — श्री लक्ष्मीधर भट्ट संपादक, बी0 भट्टाचार्य बड़ौदा ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट 1941

15. गौतम धर्मसूत्र — हरदत्त की मिताक्षरा टीका सहित, वाराणसी सं0 2023

16. छान्दोग्य उपनिषद् — संस्कृति संस्थान बरेली 1972

17. तैत्तिरीय संहिता — संपादक,अनन्त शास्त्री धूपकर 1957

18. तैत्तिरीय आरण्यक — भाष्यकार, सायण, संपादक, हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम पूना 1927

19. दायभाग — जीमूतवाहन संपा0, श्री जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता 1893।

20. धर्मसिन्धु — काशीनाथ उपाध्याय, चौखम्भा वाराणसी 1968

21. धर्मशास्त्र संग्रह — संपादक, जीवनानन्द विद्यासागर, कलकत्ता 1976

| | |
|---|---|
| 22. धर्मशास्त्र का इतिहास | महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काँणे। |
| 23. नागानन्दम् | हर्ष, संपादक, ओमप्रकाश जालंधर 1958 |
| 24. नारद स्मृति | संपादक श्री नारायणचन्द्र स्मृति तीर्थ कलकत्ता शक सं० 1873 |
| 25. निर्णय सिन्धु | कमलाकर भट्ट वाराणसी 1968 |
| 26. निघण्टु एवं निरुक्त | संपादक, लक्ष्मणस्वरूप बनारस 1967 |
| 27. पराशर माधवीय | सायण माधवाचार्य की टीका सहित गवर्नमेंट सेंण्ट्रल बुक डिपो, बम्बई 1893 |
| 28. पाराशर स्मृति | सुबोधिनी व्याख्या सहित, चौखम्भा वाराणसी 1983 |
| 29. प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन | डॉ० लक्ष्मीदत्त ठाकुर, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश 1965 |
| 30. प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन | लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रथम संस्करण, हिन्दी समिति लखनऊ 1965। |
| 31. प्राचीन भारत में नारी | डॉ० उर्मिला प्रकाश मिश्र, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल - 1987 |
| 32. प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी | डॉ० गजानन्द शर्मा, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद 1971 |
| 33. प्राचीन भारतीय स्मृतिकार और नारी | अच्युदानन्द घिन्डियाल एवं श्रीमती गोदावरी घिन्डियाल, वाराणसी 1974। |

34. बीस स्मृतियाँ — (भाग 1-2) श्री राम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1968।

35. बृहस्पति स्मृति — संपादक, के0 वी0 रंगस्वामी आयंगर ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट बरोदा 1941

36. बृहदारण्यकोपनिषद् — निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1932।।

37. बृहस्पति स्मृति — रंगस्वामी, आयंगर गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बड़ौदा, प्र0सं0 1941।।

38. बौधायन गृह्यसूत्र — संपादक, आर0एन0 शर्मा नई दिल्ली 1982

39. बौधायन धर्मसूत्र — (गोविन्दस्वामी की टीका सहित) संपादक, एल0 श्रीनिवासाचार्य, मैसूर 1907

40. ब्रह्मवैवर्त पुराण — संस्कृति संस्थान बरेली 1981

41. भारत में विवाह और कामकाजी महिलाएँ — प्रमिला कपूर, राजकमल-प्रकाशन, दिल्ली, 1976।।

42. भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास — चन्द्रबली त्रिपाठी, बस्ती, प्रथम संस्करण, 1967।

43. भृगुस्मृति — श्रीकृष्णानन्द ब्रह्मचारी, जयभारत प्रेस वाराणसी 1974।।

44. मनुस्मृति — मनु संपादक, जयन्तकृष्ण, हरिकृष्ण दबे, मुम्बई 1975, संपा0, चमनलाल

गौतम, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1982

45. मनु की समाज व्यवस्था — सत्यमित्र दुबे किताब महल इलाहाबाद 1964।

46. मनुस्मृति — मेधातिथि भाष्यः मनसुखराय मोर, कलकत्ता-1 पूर्वार्ध 1967, उत्तरार्ध 1971।।

47. मनुस्मृति — अनु0 श्री हरिगोविन्द शास्त्री,चौखम्भा सिरीज आफिस वाराणसी, चतुर्थ0 सं0 1979।।

48. मनु और स्त्रियाँ — चिन्तामणि, इण्डिया बुक एजेंसी, इलाहाबाद, 1935।।

49. महाभारत — संपादक, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी 1977

50. महाभारत — हिन्दी अनु0 रामनारायण दत्त शास्त्री, गीताप्रेस, गोरखपुर।

51. मत्स्यपुराण — गीताप्रेस, गोरखपुर एवं नाग पब्लिशर्स दिल्ली 1983

52. मालविकाग्निमित्रम् — कालिदास संपादक, रमाशंकर पाण्डेय चौखम्भा वाराणसी 1979

53. मृच्छकटिकम् — शूद्रक,निर्णयसागर प्रेस, 1923

54. मैत्रायणी-संहिता — दामोदरपाद सातवलेकर, पारडी, 1942।।

55. यजुर्वेद-संहिता — भाष्य-स्वामी दयानन्द अजमेर सं0 1986

56. यजुर्वेद-संहिता — संस्कृत भाष्य उव्वट महीधर, निर्णय सागर प्रेस बम्बई

57. याज्ञवल्क्यस्मृति — विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका सहित, चौखम्भा वाराणसी वि0 सं0 2039, अपरार्क का टीका सहित, संपादक हरिनारायण आप्टे पूना 1904

58. याज्ञवल्क्यस्मृति — मिताक्षरा सहित : हिन्दी अनु0 डॉ0 उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1967।।

59. याज्ञवल्क्यस्मृति — मिताक्षरा, अनुवाद सहित : महिरचन्द्र, खेमराज श्री कृष्णादास, बम्बई, 1867।

60. राजतरङ्गिणी — कल्हण, संपादक विश्वबन्धु होश्यारपुर पंजाब 1963

61. रामायण — निर्णयसागर प्रेस बम्बई 1929।

62. वाजसनेयीसंहिता — सं0ए0 बेबर, चौखम्बा सिरीज, वाराणसी, 1921।।

63. विष्णुस्मृति — (नन्दपंडित की टीका सहित) संपादक, बी0 कृष्णामाचार्य मद्रास 1964

64. विधवा विवाह मीमांसा — गंगा प्रसाद उपाध्याय, द्वितीय सं0 चाँद कार्यालय इलाहाबाद 1926

65. विष्णु पुराण — संस्कृत संस्थान बरेली 1981

66. विष्णुस्मृति — जूलियस जाली, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी

67. विवाद-रत्नाकर — चंडेश्वर ठाकुर, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल 1931

68. विष्णुपुराण — व्यास गीता प्रेस गोरखपुर वि0 सं0 1993

69. वीरमित्रोदय — मित्रमिश्र, चौखम्भा वाराणसी 1913--1932

70. वुमेन इन ऋग्वेद — भगवत शरण उपाध्याय प्र0 सं0 भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी।

71. वेणीसंहार — भट्टनारायण, साहित्य मंडल नई दिल्ली, 1953

72. वेदों में नारी — डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी, विश्वभारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर (वाराणसी) 1986

73. वैदिक वाड्मय का इतिहास — भगवद्दत्त, प्रणव प्रकाशन, पंजाबी बाग, दिल्ली 1976।।

74. वैदिक साहित्य में नारी — प्रशान्त कुमार वेदालंकार, वासुदेव

प्रकाशन, दिल्ली-7, 1964।

75. वैदिक साहित्य और संस्कृति — आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी 1967।।

76. व्यवहार प्रकाश (वीरमित्रोदय) — मित्रमिश्र चौखम्भा वाराणसी 1932

77. व्यवहार मयूख — नीलकण्ठ भट्ट पूना 1926

78. शतपथ ब्राह्मण — बेबर-सम्पादित, लाइपजिग 1924, चौखम्बा 1965 वैंकटेश्वर 1946 (नानाभाष्य संवलित संस्करण)

79. शाङ्खायन ब्राह्मण — सायणभाष्य आनन्दाश्रम, पूना बनारस संस्कृत सिरीज 1873।।

80. श्रीमद्भगवद्गीता — साधक संजीवनी टीका सहित गीताप्रेस गोरखपुर 1951।।

81. षड्विंश ब्राह्मण — सं0 बे0 रामचन्द्र शर्मा, तिरूपति, सन् 1967

82. सत्यार्थ प्रकाश — दयानन्द सरस्वती, तृ0 सं0, विक्रम सं0, 2006 अजमेर।

83. संस्कार विधि — स्वामी दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

84. संस्कार-चन्द्रिका — भीमसेन शर्मा : महाविद्यालय,ज्वालापुर, सं0 1982।

85. संस्कृत-हिन्दी-कोश — वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली 1984

86. स्त्रियों की स्थिति — चन्द्रावती लखनपाल, ग्रन्थासार , लखनऊ सं0 1990।

87. स्कन्द पुराण — संपादक, मनसुखराय मेर कलकत्ता 1961।

88. प्राचीन भारत में नारी — डॉ0 उर्मिला प्रकाश मिश्र, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल - 1987

89. प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी — डॉ0 गजानन्द शर्मा, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद 1971

90. प्राचीन भारतीय स्मृतिकार और नारी — अच्युदानन्द घिन्डियाल एवं श्रीमती गोदावरी घिन्डियाल, वाराणसी 1974।

91. बीस स्मृतियाँ — (भाग 1-2) श्री राम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली,1968।

92. स्मृतिमुक्ताफलम् — श्रीवैद्यनाथ दीक्षित,संपादक, जे0आर0 धरपुरे बम्बई 1937--38

93. स्मृतीनां समुच्चयः — आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि (27 स्मृतियाँ)--विनायक गणेश आप्टे--आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना द्वितीय सं0 1920।

94. स्मृतिसन्दर्भ — सं0 मनसुखराय मोर, कलकत्ता (चार

भागों में 44 स्मृतियाँ)

95. स्मृति-चन्द्रिका — (भाग 1 से 3) वेदण्ण भट्ट विरचित : जगन्नाथ रघुनाथ धर्मपुरे, बम्बई 1918।

96. हर्षचरितम् — बाणभट्ट (हिन्दी व्याख्याकार श्री जगन्नाथ पाठक वाराणसी 1961)

97. हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र — संपादक जे० क्रिस्ते 1889

98. हिन्दू परिवार मीमांसा — प्रो० हरिदत्त वेदालंकार, कलकत्ता, 2111 वि०।

99. हिन्दू-संस्कार — डॉ० राजबली पाण्डेय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966।

100. हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास — प्रो० हरिदत्त वेदालंकार, लखनऊ, सन् 1970।

101. हिन्दू विवाह मीमांसा — प्रीतिप्रभा गोयल, प्रथम सं०, रूपायनसंस्थान बोरुन्दा 1976